मध्य एशिया तथा चीन में भारतीय संस्कृति

[पश्चिमी एशिया, अफगानिस्तान, मध्य एशिया, चीन, तिब्बत, कोरिया और जापान]

लेखक
सत्यकेतु विद्यालंकार डी. लिट. (पेरिस)
(गोविन्दवल्लभ पन्त पुरस्कार, मोतीलाल नेहरू पुरस्कार तथा मंगलाप्रसाद पारितोषिक द्वारा सम्मानित)

प्रकाशक
श्री सरस्वती सदन, मसूरी
विक्रय केन्द्र—ए-१/३२ सफदरजंग एन्क्लेव, नई दिल्ली-१६
[... संस्करण १९७४] [मूल्य १७ रुपये

प्रकाशक :
श्री सरस्वती सदन, मसूरी
(यू० पी०)
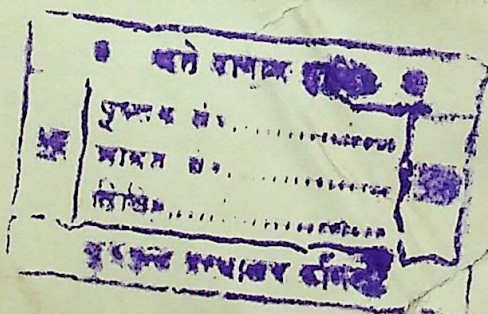
मुद्रक :
अजय प्रिंटर्स
दिल्ली-३२

प्रस्तावना

प्राचीन काल में भारत के सांस्कृतिक साम्राज्य का क्षेत्र अत्यन्त विशाल था। शया के प्रायः सभी देश उस समय भारत के धर्म तथा संस्कृति से प्रभावित थे। गानिस्तान तब भारत का उसी प्रकार से अंग था, जैसे कि काश्मीर, कलिङ्ग सा) और आंध्रप्रदेश आदि थे। मध्य एशिया में तब बहुत-से भारतीय उपनिवेशों सत्ता थी, जिनमें खोतन तथा कुची प्रधान थे। वर्तमान समय में राजनीतिक दृष्टि मध्य एशिया के दो भाग हैं, चीनी तुर्किस्तान (सिंगकियांग) और रूसी तुर्किस्तान समें उजबक, खिरगिज आदि के समाजवादी सोवियत गणराज्य विद्यमान हैं। मध्य शया के इन दोनों भागों के निवासी अब इस्लाम को अपना चुके हैं, और भारतीय कृति से उनका विशेष सम्पर्क नहीं रहा है। पर प्राचीन काल में वहाँ भारतीय र्गों का प्रचार था, संस्कृत ग्रन्थों का पठन-पाठन होता था, लिखने के लिये ब्राह्मी । खरोष्ठी लिपियों का प्रयोग किया जाता था, और राजकीय कार्यों तथा परस्पर हार के लिये संस्कृत भाषा प्रयुक्त की जाती थी। गत वर्षों में मध्य एशिया में तत्त्व-सम्बन्धी जो खोज हुई है, उससे रेत की ढेरियों के नीचे दबे हुए बहुत-से ूप, गुहामन्दिर तथा चैत्य प्रकाश में आये हैं, और संस्कृत के कितने ही हस्तलिखित थ तथा अभिलेख भी उपलब्ध हुए हैं। शक, युइशि, हूण आदि जिन विविध जातियों मध्य एशिया के भारतीय राज्यों पर आक्रमण किये, भारतीयों के सम्पर्क में आकर न्होंने भी इस देश के धर्म, भाषा और संस्कृति को अपना लिया।

भारत के धर्मप्रचारक चीन, तिब्बत, मंगोलिया, कोरिया और जापान भी ये, और वहाँ जाकर उन्होंने अपने धर्म का प्रचार किया। इन देशों की भाषाएँ सीख र संस्कृत के ग्रन्थों का उन्होंने वहाँ की भाषाओं में अनुवाद किया, और वहाँ अनेक द्यापीठों तथा अनुवाद-संस्थानों की स्थापना की। बौद्ध धर्म के जो बहुत-से ग्रन्थ ाज संस्कृत व पालि भाषाओं में उपलब्ध नहीं हैं, वे उनके चीनी तथा तिब्बती नुवादों में प्राप्य हैं। भारत के विद्वानों और धर्मप्रचारकों ने चीन, तिब्बत, मंगोलिया ादि सुदूर देशों में भारत का जो विशाल सांस्कृतिक साम्राज्य स्थापित किया था, ह वस्तुतः अनुपम था और वह वर्तमान समय में भी विद्यमान है।

िदेशों में भारतीय संस्कृति की सत्ता के सम्बन्ध में खोज का प्रधान श्रेय जर्मन विद्वानों को है, यही कारण है, जो इस विषय की पुस्तकें अंग्रेजी में त कम लिखी गई हैं, और भारतीय पाठकों को अपने देश के इस गौरवमय स्कृतिक साम्राज्य का विशेष परिचय नहीं है। मैंने प्रयत्न किया है, कि मध्य एशिया, , तिब्बत आदि में भारतीय संस्कृति की सत्ता के सम्बन्ध में जो सामग्री अब तक ाश में आयी है, उसे संक्षिप्त एवं सुपाठ्य रूप से हिन्दी में प्रस्तुत करूँ। मुझे ता है, इस पुस्तक द्वारा भारतीय संस्कृति के गौरवमय प्राचीन इतिहास का एक याय पाठकों के सम्मुख आ जायगा और इस सम्बन्ध में अधिक जानकारी प्राप्त की जिज्ञासा भी उनमें उत्पन्न हो जायगी।

इस पुस्तक में जो अनेक चित्र दिये गये हैं, उनकी प्राप्ति के लिये मैं नेशनल , नई दिल्ली तथा भारतीय पुरातत्त्व विभाग के प्रति आभार प्रगट करता हूँ।

—सत्यकेतु विद्यालंकार

सहायक ग्रन्थ

Andrews, F. H. : Wall Paintings from Ancient Shrines in Central Asia.

Bagchi, P. C. : India and Central Asia

Bagchi, P. C. : India and China

Bagchi, P. C. : Le Canon Bouddhique en Chine (2 vols.)

Barthoux, J. : Les Fouilles de Hadda.

Chakravarti, N. P. : India and Central Asia.

Chou Hsiang-Kuang : Indo-Chinese Relations.

Foucher, A. L'Art Greco-Bouddhique du Gandhār.

Ghoshal, U. N. : Ancient Indian Culture in Afghanistan.

Godard A, Godard Y, Hackin J. : Les Antiquites Bouddhiques de Bamiyan.

Grousset, R. : In the Footsteps of the Buddha.

Hackin, J. : The Colossal Buddhas at Bāmiyan.

Hackin, J. : Researches Archeologiques ā Begram.

Hackin, J. Carl J. : Diverses Researches Archēologiques en Afghanistan.

Kshanika Saha : Buddhism and Buddhist Literature in Central Asia.

Le Coq, Albert Von : Buried Treasures of Chinese Turkistan. (Translated by Anna Barwell)

Mcgovern, W. M. : The Early Empires of Central Asia.

Pelliot. P. : Mission en Asie Centrale.

Rowland B. : The Art and Architecture of India.

Stein. Sir Aurel : Innermost Asia.

Stein. Sir Aurel : Serindia.

Stein. Sir Aurel : Ancient Khotan.

Sylvain Levi : The Mission of Wang Hieuen-tse (translated by S. P. Chatterjee)

Zurcher. E. : The Buddhist Conquest of China (2 vols.)

राहुल सांकृत्यायन : बौद्ध संस्कृति

राहुल सांकृत्यायन : मध्य एशिया का इतिहास

विषय-सूची

चित्र-सूची

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ।।

(मनु)

पहला अध्याय

विषय प्रवेश

(१) बृहत्तर भारत का क्षेत्र—अफगानिस्तान और मध्य एशिया

ब्रिटिश शासन में जो भारत-भूमि थी, वह इस समय तीन राज्यों में विभक्त है। ये राज्य हैं, भारत, पाकिस्तान और बंगला देश। राजनीतिक दृष्टि से ये राज्य अब एक-दूसरे से पृथक् हैं, पर ऐतिहासिक, भौगोलिक और सांस्कृतिक दृष्टियों से इनकी एकता से इन्कार नहीं किया जा सकता। इन तीनों राज्यों का अब तक का इतिहास एक रहा है, और इनके बीच की जो सीमाएँ निर्धारित की गई हैं, वे भूगोल की दृष्टि से स्वाभाविक नहीं हैं। भविष्य में इन राज्यों का विकास चाहे पृथक् रूप से हो, पर विगत काल में इनका विकास एक देश के समान और एक ढंग से हुआ है। अतः बृहत्तर भारत का वृत्तान्त लिखते हुए हम भारत-भूमि के वर्तमान राजनीतिक विभाग की उपेक्षा कर भारत की उन्हीं सीमाओं को दृष्टि में रखेंगे, जो कि पाकिस्तान के निर्माण से पूर्व इस देश की थीं। यही नहीं, ब्रिटिश युग के भारत के अतिरिक्त कतिपय अन्य भी ऐसे प्रदेश हैं, जिनका प्राचीन काल में भारत के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था। यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि ये प्रदेश प्राचीन काल में भारत-भूमि के उसी ढंग से अंग थे, जैसे कि बलोचिस्तान और काश्मीर थे। इन प्रदेशों में नेपाल और अफगानिस्तान को अन्तर्गत किया जा सकता है।

सिन्ध नदी के पश्चिम में स्वात (सुवास्तु) पंजकोरा (गौरी) और कुनार नदियाँ काबुल (कुभा) नदी में मिलती हैं, और फिर यह कुभा नदी सिन्ध में आ मिलती है। स्वात, पंजकोरा, कुनार और काबुल नदियों से सिंचित यह प्रदेश प्राचीन काल में पश्चिमी गान्धार देश कहलाता था और इसकी राजधानी पुष्कलावती थी। इस पुष्कलावती नगरी के भग्नावशेष, स्वात और काबुल नदियों के संगम पर उपलब्ध हुए हैं। पश्चिमी गान्धार से और आगे पश्चिम की ओर चलने पर हिन्दूकुश पर्वत के साथ का प्रदेश प्राचीन समय में कपिश देश कहलाता था। कपिश के पश्चिम-उत्तर में आजकल बदरूशाँ और बल्ख हैं, जिन्हें प्राचीन काल में कम्बोज और वाह्लीक देश कहते थे। ये विविध प्रदेश अब भारत के अन्तर्गत नहीं हैं, पर प्राचीन समय में ये भारत के ही अंग थे, और इनमें भी भारतीय आर्यों के विविध राज्य विकसित हुए थे। भारत के चक्रवर्ती सम्राटों का यह प्रयत्न रहता था, कि इन सबको जीत कर अपने साम्राज्य में सम्मिलित करें। चन्द्रगुप्त मौर्य और गुप्तवंशी चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य जैसे प्रतापी सम्राट् अपने इस प्रयत्न में सफल भी हुए थे।

वैदिक युग में अफगानिस्तान भारत का उसी प्रकार से अंग था, जैसे कि सप्त-सैन्धव और गंगा-यमुना का प्रदेश। अफगानिस्तान की कुभा (काबुल), ऋमु (खुर्रम), गोमती (गोमल) और सुवास्तु (स्वात) नदियों का ऋग्वेद में उल्लेख है। इस देश का नाम जो गान्धार पड़ा, उसका कारण वहाँ राजा गान्धार द्वारा अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित करना ही था। राजा गान्धार का सम्बन्ध ऐल वंश के साथ था, जो मानव वंश की एक शाखा था। इसके राजा उसी प्रकार से आर्य या भारतीय थे, जैसे कि हस्तिनापुर, अहिच्छत्र आदि के राजा थे। यही कारण है कि जब कुरु देश(हस्तिनापुर)के राजा संवरण पर पंचाल (अहिच्छत्र) के राजा सुदास ने आक्रमण किया, तो सुदास का सामना करने के लिए पश्चिम के अनेक राजाओं ने संवरण की सहायता की। संवरण के इन सहायकों में पक्थ (पक्थून या पठान) लोग भी थे, जो गान्धार के निवासी थे। इस युद्ध का उल्लेख ऋग्वेद के एक सूक्त (७, १८) में किया गया है, जिससे पक्थों के देश का भारत का अंग होने का स्पष्ट रूप से संकेत मिलता है। बौद्ध साहित्य में भारत के जिन सोलह महाजनपदों का परिगणन किया गया है, गान्धार और कम्बोज भी उनमें हैं। सिकन्दर के आक्रमण से पूर्व चौथी सदी ई० पू० में गान्धार देश दो भागों में विभक्त था। पूर्वी गान्धार की राजधानी तक्षशिला नगरी थी, और उसका राजा आम्भि था। पश्चिमी गान्धार सिन्ध नदी के पश्चिम में था, और उसकी राजधानी पुष्कलावती थी। सिकन्दर के आक्रमण के समय वहाँ का राजा अस्तक (हस्ती या अष्टक) था। पश्चिमी गान्धार से उत्तर-पश्चिम में भी उस समय अनेक आर्य जनपदों या राज्यों की स्थिति थी, जिनका उल्लेख ग्रीक लेखकों के विवरणों में विद्यमान है। चन्द्रगुप्त मौर्य ने गान्धार तथा उसके समीपवर्ती विविध राज्यों को अपने साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया था, और ये चिरकाल तक मागध साम्राज्य के अन्तर्गत रहे। इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि अफगानिस्तान प्राचीन समय में भारत का ही एक अंग था, और उसके निवासी सभ्यता, धर्म तथा संस्कृति की दृष्टि से भारतीय ही थे। अफगानिस्तान की यह स्थिति वैदिक काल से दसवीं सदी ईस्वी पश्चात् तक रही, जबकि तुर्कों ने उसे जीत कर अपने अधीन कर लिया। मुगलों के समय में यह प्रदेश एक बार फिर भारत का अंग बना, यद्यपि ईरान इसे अपनी अधीनता में लाने का प्रयत्न करता रहा।

अफगानिस्तान के उत्तर-पश्चिम में बदख्शाँ का प्रदेश है, जिसे प्राचीन काल में कम्बोज जनपद कहते थे। इसकी गिनती भी बौद्धकाल के सोलह भारतीय महाजनपदों में की जाती थी। बदख्शाँ से और आगे बलख का प्रदेश है, जिसका प्राचीन नाम बाह्लीक था। ग्रीक लोग इसे बैक्ट्रिया कहते थे। बलख के उत्तर में आमू (वंक्षु) नदी बहती है। आमू और सीर (रसा) नदियों के बीच का प्रदेश प्राचीन समय में सुग्ध देश कहलाता था। यहाँ भी भारतीय आर्य जातियों का ही निवास था। छठी सदी ईस्वी पूर्व में इसे ईरान के हखामनी सम्राटों ने अपने अधीन कर लिया, और सुग्ध देश ईरानी साम्राज्य में सम्मिलित हो गया। बाद में ग्रीक, शक और पार्थियन लोगों ने कम्बोज, बाह्लीक और सुग्ध पर शासन किया, और राजनीतिक दृष्टि से ये प्रदेश भारत से पृथक् हो गये। पर इन प्रदेशों के नये शासक व निवासी भी भारतीय धर्म तथा संस्कृति के

प्रभाव में आ गए, और उन्होंने भारतीय भाषा तथा लिपि को भी अपना लिया।

वाह्लीक और सुग्ध देशों के पूर्व की ओर तिब्बत के उत्तर में जो विस्तृत पठार है, वर्तमान समय में उसे चीनी तुर्किस्तान या सिंगकियांग कहते हैं। प्राचीन समय में वहाँ भी भारतीय धर्म तथा संस्कृति का प्रचार था। यह सुविस्तृत प्रदेश राजनीतिक दृष्टि से कभी भारत के अन्तर्गत नहीं रहा। पर यह बृहत्तर भारत का अंग अवश्य था। इसमें भारतीयों की अनेक बस्तियों की सत्ता थी, और वहाँ के निवासियों ने बौद्ध धर्म को अपना लिया था। यही कारण है, जो वहाँ बहुत-से बौद्ध विहारों के भग्नावशेष उपलब्ध हुए हैं। बृहत्तर भारत के इस महत्वपूर्ण अंग को भलीभाँति समझने के लिए यह उपयोगी है, कि इसके भूगोल तथा मार्गों पर दृष्टिपात किया जाए।

भारतीय सभ्यता और संस्कृति का यह महत्त्वपूर्ण केन्द्र पूर्व से पश्चिम तक लम्बाई में प्रायः ९०० मील है, और उत्तर से दक्षिण की ओर इसकी अधिकतम चौड़ाई ३०० मील है। इसके दक्षिण में क्युनलुन पर्वतमाला है, और उत्तर में थियानशान पर्वत है। पूर्व में गोबी मरुस्थल और लोपनौर की झील इसे ठेठ चीन से पृथक् करते हैं, और इसके पश्चिम में पामीर की पर्वतमाला की स्थिति है। इस सुविस्तृत प्रदेश के बड़े भाग में तकला मकान का मरुस्थल है, जिसके चारों ओर अनेक स्थानों पर हरी-भरी भूमि विद्यमान है। इन्हीं स्थानों पर प्राचीन काल में उन बस्तियों का विकास हुआ, जो भारतीय सभ्यता और संस्कृति की महत्त्वपूर्ण केन्द्र थीं। इस सुविस्तृत प्रदेश में अनेक नदियाँ भी हैं, जो क्युनलुन की पर्वतमाला से निकल कर उत्तर की ओर बढ़ती हैं। इनमें सबसे मुख्य तारीम नदी है, जो क्युनलुन से निकल कर पश्चिम से पूर्व की ओर बहती हुई लोपनौर झील में गिर जाती है। तारीम की दो सहायक नदियाँ यारकन्द और खोतन हैं, जिनका उद्गम-स्थान क्युनलुन पर्वतमाला ही है। ये भी दक्षिण से उत्तर की ओर बहती हुई तारीम नदी में मिल जाती हैं। खोतन नदी के पूर्व में अन्य भी अनेक छोटी-छोटी नदियाँ हैं, जो क्युनलुन से निकल कर तकला मकान की मरुभूमि में लुप्त हो जाती हैं। इनमें से एक नदी चल्मद है, जो मरुभूमि में लुप्त न हो कर लोपनौर झील तक चली गई है। पर इस क्षेत्र की अनेक नदियाँ प्राचीन काल में अधिक दूरी तक बहा करती थीं, और उनके किनारों पर समृद्ध बस्तियाँ भी बसी हुई थीं, जिनके भग्नावशेष तकला मकान के मरुस्थल में इस समय उपलब्ध हुए हैं।

तकला मकान के मरुस्थल के कारण इस प्रदेश की प्राचीन बस्तियाँ, जो भारतीय सभ्यता और संस्कृति की केन्द्र थीं, दो भागों में बँट गई थीं। तारीम नदी के उत्तर में काशगर (खश), तुर्फान (काओशांग), अक्सु, भरुक, कुचि और काराशहर आदि की सत्ता थी, और दक्षिण में यारकन्द (चौकुकुक), खोतन, नीया और चर्चन आदि की। राजनीतिक दृष्टि से भारत के अन्तर्गत न होते हुए भी ये सब भारतीय सभ्यता की केन्द्र थीं और बृहत्तर भारत की महत्त्वपूर्ण केन्द्र थीं। पामीर की पर्वतमाला से गोबी के मरुस्थल के बीच के प्रदेश से भारतीय संस्कृति के जो अवशेष उपलब्ध हुए हैं, उनसे यह भलीभाँति प्रमाणित हो जाता है कि कोई एक सहस्र वर्ष से भी अधिक समय तक यह क्षेत्र बृहत्तर भारत में सम्मिलित रहा। इसी कारण फ्रांस के विद्वानों ने इसे सरिन्दिया

(Ser-India) का नाम दिया है, जिसे हिन्दी में "उपरला हिन्द" कहा जा सकता है। यह उपरला हिन्द पश्चिमी बदख्शाँ (कम्बोज) से शुरू होता था, और पूर्व में लोपनौर झील तथा गोबी के मरुस्थल तक विस्तृत था। इसमें अनेक राज्यों या जनपदों की स्थिति थी, जो तकला मकान मरुस्थल के उत्तर तथा दक्षिण में विद्यमान थे। इन्हीं की नगरियों के अवशेष इस समय काशगर, यारकन्द, नीया, खोतन, कुचि आदि में उपलब्ध हुए हैं।

तकला मकान के सुविस्तृत मरुस्थल के कारण मध्य एशिया (चीनी तुर्किस्तान या सिंगकियांग) के इस क्षेत्र में उस ढंग से किसी एक साम्राज्य का विकास नहीं हो सका, जैसे कि भारत में हुआ था। पर अनेक प्रतापी राजा इस क्षेत्र के विविध राज्यों को अपने प्रभुत्व में ला सकने में समर्थ हुए। कुशाण वंशी राजा कफस का शासन इस क्षेत्र के अनेक राज्यों पर विद्यमान था, और खोतन के राजा नीया से काशगर तक के तेरह राज्यों को अपने आधिपत्य में ले आने में सफल हुए थे (प्रथम सदी ई०पू०)। बाद में कुछ समय के लिए ये सब राज्य चीन की अधीनता में भी रहे थे।

भारतीय संस्कृति के प्रचार व प्रसार के लिए मध्य एशिया के इस क्षेत्र का अनेक दृष्टियों से महत्त्व है। चीन से पश्चिमी एशिया और भारत जाने-आने वाले मार्ग इसी क्षेत्र में विद्यमान थे, और विविध देशों के व्यापारी चीन आने-जाने के लिए इन्हीं मार्गों का उपयोग किया करते थे। भारत से उत्तर-पश्चिम की ओर जाने वाला मार्ग पुरुषपुर (पेशावर), नगरहार (जलालाबाद) और बामियान होकर काबुल नदी के साथ-साथ हिन्दूकुश को पार करता था, और फिर कम्बोज (बदख्शाँ) होता हुआ पामीर पर्वतमाला को पार कर काशगर पहुँच जाता था। काशगर से यह मार्ग दो भागों में विभक्त हो जाता था, उत्तरी मार्ग और दक्षिणी मार्ग। उत्तरी मार्ग तकला मकान मरुस्थल के उत्तर में, अक्सू, भरुक, कुचि, अग्निदेश और तुर्फान आदि के राज्यों से होता हुआ ठेठ चीन की पश्चिमी सीमा पर जा पहुँचता था, और दक्षिणी मार्ग यारकन्द, खोतन, नीया, चर्चन आदि से होकर लोपनौर झील तक जाता था। ठेठ चीन की पश्चिमी सीमा पर तुङ्ह्वांङ् के समीप ये दोनों मार्ग एक-दूसरे से मिल जाते थे। अशोक की धर्म विजय की नीति से जब बौद्ध प्रचारकों ने भगवान् तथागत के अष्टांगिक आर्य-मार्ग का देश देशान्तर में प्रचार प्रारम्भ किया, तो उन्होंने मध्य एशिया तथा चीन में जाने के लिए इन्हीं मार्गों का अनुसरण किया, और इनके साथ-साथ बसे हुए सब जनपदों तथा नागरिपों के निवासियों को बुद्ध का अनुयायी बनाने में उन्होंने अनुपम सफलता प्राप्त की।

चीन के उत्तर-पश्चिम से जो अनेक जातियाँ दक्षिण तथा पश्चिम की ओर फैलनी शुरू हुई उन्होंने भी इन्हीं मार्गों का उपयोग किया, जिसके कारण वे इनके समीपवर्ती प्रदेशों में विद्यमान ऐसी बस्तियों के सम्पर्क में आयीं जो कि भारतीय धर्म तथा संस्कृति के प्रभाव में आ चुकी थीं। परिणाम यह हुआ, कि उन्होंने भी भारतीय संस्कृति को अपना लिया। इन जातियों में तुखार, युइशि (ऋषिक) और हूण उल्लेखनीय हैं। युइशि लोग लोपनौर झील के समीपवर्ती प्रदेश के निवासी थे, और तुखार

लोग उनके पश्चिम के उस प्रदेश के जो कि थियानशान पर्वतमाला के उत्तर में था। हूणों का निवास मंगोलिया तथा उसके उत्तर में इर्तिश से ग्रामूर नदी तक के प्रदेश में था। वे बहुधा चीन पर ग्राक्रमण करते रहते थे, जिनसे ग्रपने राज्य की रक्षा करने के लिए सम्राट् शी हुग्रांग-ती (तीसरी सदी ईस्वी पूर्व) ने चीन की प्रसिद्ध दीवार का निर्माण कराया था। इस दीवार के बन जाने के कारण हूणों के लिए चीन पर ग्राक्रमण कर सकना सम्भव नहीं रहा। ग्रब उन्होंने पश्चिम-दक्षिण की ग्रोर ग्रागे बढ़ कर उस प्रदेश पर हमले प्रारम्भ किए (दूसरी सदी ईस्वी पूर्व), जहाँ युइशि लोगों का निवास था। युइशि लोग हूणों के सम्मुख नहीं टिक सके, ग्रौर उन्होंने पश्चिम की ग्रोर बढ़कर तुखारों के प्रदेश में प्रवेश किया। तुखार लोगों को उन्होंने ग्रपने ग्रधीन कर लिया। पर हूणों ने युइशि लोगों को वहाँ भी चैन से नहीं रहने दिया। हूणों के ग्राक्रमणों ने उन्हें वहाँ से प्रस्थान करने के लिए विवश किया, ग्रौर वे थियानशान पर्वतमाला को पारकर सीर नदी की घाटी में पहुंच गए। इस घाटी में शकों का निवास था। युइशि ग्राक्रमण से शक परास्त हो गए, ग्रौर सीर की घाटी पर युइशि तथा तुखार जातियों का प्रभुत्व स्थापित हो गया। युइशि ग्रौर तुखार भी विशाल शक जाति की ही शाखाएँ थीं, पर वे ग्रभी घुमन्तू दशा में थीं, जबकि सीर की घाटी में बसी हुई शक जाति ग्रपनी स्थायी बस्तियाँ व नगरियाँ बना चुकी थी। तारीम नदी की घाटी में स्थित कुचि ग्रादि राज्यों के निवासी भी तुखार ही थे। युइशियों से धकेले जाकर शकों ने दक्षिण की ग्रोर प्रस्थान किया, ग्रौर उनकी विविध शाखाएँ ईरान, ग्रफगानिस्तान तथा भारत में प्रविष्ट हो गईं। शकों का पीछा करते हुए युइशि तथा तुखार लोगों ने बदख्शाँ तथा बल्ख पर भी कब्जा कर लिया, ग्रौर वहाँ से ग्रागे बढ़ते हुए वे ग्रफगानिस्तान तथा भारत के उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र में भी ग्रा गये। भारतीय संस्कृति के प्रसार की दृष्टि से मध्य एशिया के क्षेत्र में इन विविध जातियों के प्रवेश का विशेष महत्त्व है। इस क्षेत्र में भारतीय सभ्यता ग्रौर संस्कृति का पहले ही प्रसार हो चुका था। वहाँ के निवासियों के सम्पर्क में ग्राकर शक, तुखार, युइशि ग्रौर हूण लोगों ने भी भारतीय धर्म, भाषा तथा संस्कृति ग्रादि को ग्रपना लिया। भारत के इतिहास में इन जातियों का विशिष्ट स्थान है। पश्चिमी भारत में शकों के ग्रनेक राज्य स्थापित हुए थे, ग्रौर कुशाण वंशी जिन राजाग्रों ने भारत में ग्रपने सुविशाल साम्राज्य की स्थापना की थी, वे युइशि (ऋषिक) जाति के ही थे। पर इन राजाग्रों का शासन केवल भारत में ही नहीं था। गान्धार, कपिश, कम्बोज, वाह्लीक तथा मध्य एशिया के विविध प्रदेश भी उनके शासन में थे। शकों ग्रौर युइशियों के उत्कर्ष के काल में भारत के उत्तर-पश्चिम में विद्यमान यह सुविस्तृत क्षेत्र राजनीतिक दृष्टि से भी भारत का एक ग्रंग बन गया था।

मध्य एशिया के विविध राज्यों का राजनीतिक इतिहास इस समय क्रमबद्ध रूप से उपलब्ध नहीं है। पर वहाँ प्राचीन काल के जो बहुत-से ग्रवशेष खोज द्वारा प्राप्त हुए हैं, उनसे इन राज्यों की संस्कृति, धर्म ग्रौर भाषा ग्रादि के सम्बन्ध में समुचित जानकारी प्राप्त की जा सकती है।

(२) बृहत्तर भारत का क्षेत्र—तिब्बत और चीन

प्राचीन काल में अफगानिस्तान और उससे उत्तर-पश्चिम के बदख्शाँ और बल्ख के प्रदेशों में अनेक ऐसे राज्यों और जनपदों की सत्ता थी, जिनका स्वरूप उस काल के भारतीय जनपदों के सदृश था। मध्य एशिया के विविध राज्य भारतीय सभ्यता, धर्म और संस्कृति से प्रभावित थे, और सांस्कृतिक दृष्टि से उन्हें भारतीय कहा जा सकता था। तिब्बत की स्थिति मध्य एशिया के दक्षिण-पूर्व में है, और चीन की इस क्षेत्र के पूर्व में। इनमें न भारतीय उपनिवेशों की स्थापना हुई, और न ही सांस्कृतिक दृष्टि से ये पूर्णतया भारतीय बने। पर भारत के बौद्ध प्रचारक इन देशों में धर्म प्रचार के लिए गए, वहाँ के निवासियों को उन्होंने भगवान् तथागत का अनुयायी बनाया, और अपने देश की संस्कृति से उन्हें प्रभावित किया। इस कारण जहाँ तक संस्कृति का सम्बन्ध हैं, ये देश भी बृहत्तर भारत के अन्यतम अंग बन गये।

भारत और चीन का व्यापारिक सम्बन्ध बहुत प्राचीन समय में भी विद्यमान था। यह व्यापार स्थल और जल दोनों मार्गों से होता था। मध्य एशिया के जिन मार्गों का उल्लेख पिछले प्रकरण में किया गया है, उनसे होकर चीनी व्यापारी पश्चिम के राज्यों में आया-जाया करते थे और उनसे भारतीय माल का क्रय किया करते थे। इसी प्रकार बंगाल की खाड़ी से प्रशान्त महासागर तक के सामुद्रिक मार्ग द्वारा भी दोनों देशों में व्यापार की सत्ता थी। यही कारण है, जो महाभारत और मनुस्मृति में चीन का उल्लेख है, और कौटलीय अर्थशास्त्र में चीन के रेशम का जिक्र मिलता है। इसी प्रकार चीन के प्राचीन ग्रन्थों में हिन्द महासागर तथा चीन सागर के तटवर्ती कतिपय बन्दरगाहों का उल्लेख है, जिनमें एक हुआंग-ची भी है। इसे कांची का चीनी रूप स्वीकार किया गया है। दूसरी सदी ई० पू० तक भारत और चीन का पारस्परिक व्यापार प्रायः समुद्र मार्ग से ही हुआ करता था। पर दूसरी सदी ई० पू० के उत्तरार्द्ध से इस स्थिति में परिवर्तन आना प्रारम्भ हुआ। चीन के सम्राट वू ती (१४२-८५ ई० पू०) ने १३८ ई० पू० में चांग-कियन नामक एक दूत को पश्चिम के देशों का अवगाहन करने का कार्य सुपुर्द किया था। यह दूत जब बल्ख के बाजार में पहुँचा, तो वहाँ चीनी रेशम और बाँस की बनी वस्तुओं को बिकता देख कर आश्चर्यचकित रह गया। पूछने पर उसे ज्ञात हुआ, कि ये वस्तुएँ शिन्-तू (सिन्धु या हिन्द) देश से आती हैं, जिसकी सत्ता दक्षिण की ओर है। व्यापारी लोग चीन के युन्नान प्रान्त से इन वस्तुओं को बरमा के रास्ते भारत ले जाते थे, और वहाँ से इन्हें गान्धार और बल्ख आदि पहुँचाया जाता था। चांग-कियन से मध्य एशिया के देशों का परिचय प्राप्त कर चीन के सम्राट् ने इनके साथ अपने देश के व्यापार को बढ़ाने का विशेष रूप से प्रयत्न किया, और इस उद्देश्य से उनके साथ मैत्री-सम्बन्ध स्थापित किए। बाद के चीनी सम्राटों ने मध्य एशिया पर अपना राजनीतिक प्रभुत्त्व स्थापित करने का भी प्रयत्न किया, और इसी प्रयोजन से सम्राट् हो-ती ने पान-छाओ नामक सेनापति को खोतन भेजा (७३ ईस्वी)। मध्य एशिया के राज्यों में उस समय खोतन सर्वप्रधान था, और

इस क्षेत्र के अन्य राजा उसके आधिपत्य को स्वीकार करते थे। पान-छाओ खोतन को अपनी अधीनता में ले आने में समर्थ हुआ, और धीरे-धीरे उसने कैस्पियन सागर तक चीन की शक्ति का विस्तार किया। १०२ ई० तक यह सम्पूर्ण क्षेत्र चीन की अधीनता में रहा, जिसके कारण मध्य एशिया और चीन का सम्बन्ध बहुत बढ़ गया।

चीन में भारत के सांस्कृतिक प्रभाव के प्रसार में इस दशा से बहुत सहायता मिली। चीन की एक प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार अशोक के समय (२१७ ई० पू०) में कुछ बौद्ध प्रचारक चीन गए थे, और उन द्वारा वहाँ बौद्ध धर्म का प्रचार प्रारम्भ किया गया था। इतने अधिक प्राचीन काल में भारतीय प्रचारकों का चीन जा सकना संदिग्ध माना जाता है। पर यह निर्विवाद है, कि ईस्वी सन् की पहली सदी में चीन में बौद्ध धर्म का प्रवेश हो चुका था। चीन के प्राचीन वृत्तान्तों के अनुसार हान वंश के चीनी सम्राट् मिंग-ती ने स्वप्न में एक सुवर्ण-पुरुष को देखा था, जिसके विषय में पूछने पर उसके दरबारियों ने बताया, कि यह सुवर्ण-पुरुष बुद्ध था। इस पर मिंग-ती ने अपने दूत पश्चिम के राज्यों में इस प्रयोजन से भेजे, ताकि वे वहाँ से कुछ बौद्ध भिक्षुओं को चीन आने के लिए निमन्त्रित करें। चीन के दूत पश्चिम की ओर जाते हुए युइशियों के राज्य में जा पहुँचे। युइशि लोग इस समय तक बौद्ध धर्म को अपना चुके थे, और वहाँ बहुत-से भारतीय बौद्ध विद्वान् विद्यमान थे। मिंग-ती के निमन्त्रण को स्वीकार कर धर्मरत्न और कश्यपमातंग नाम भारतीय भिक्षु चीन गये (६० ई० प०) और उसकी राजधानी सीङान्-फू (जो अब चीन के शेनसी प्रान्त का मुख्य नगर है) में उन्होंने श्वेताश्व नामक विहार की स्थापना की। चीन जाते हुए ये भिक्षु अपने साथ बहुत-से बौद्ध ग्रन्थों को भी ले गये थे। उन्होंने अपना शेष जीवन श्वेताश्व विहार में व्यतीत किया, और वहाँ निवास करते हुए अनेक बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। इसमें सन्देह नहीं, कि ईस्वी सन् की पहली सदी में चीन में बौद्ध धर्म भलीभाँति स्थापित होना प्रारम्भ हो चुका था, और धर्मरत्न तथा कश्यपमातंग का अनुसरण कर बहुत-से बौद्ध भिक्षु मध्य एशिया से चीन जाने लग गए थे। ये भिक्षु केवल भारतीय ही नहीं थे, इनमें युइशि, खोतन, कुची, सुग्ध आदि अनेक प्रदेशों के लोग थे, जो इस समय तक बौद्ध धर्म को स्वीकार कर चुके थे। बाद में समुद्र मार्ग से भी बौद्ध प्रचारकों ने चीन जाना प्रारम्भ किया, और उनके प्रयत्न से चीन के प्रायः सभी निवासियों ने बौद्ध धर्म को अपना लिया। बौद्ध धर्म के साथ-साथ भारतीय संस्कृति और कला आदि का भी चीन में प्रवेश हुआ, जिसके कारण यह विशाल देश भी बृहत्तर भारत का एक अंग बन गया।

तिब्बत में बौद्ध धर्म का सूत्रपात चौथी सदी ईस्वी पश्चात् हो गया था, पर वहाँ उसका विशेष रूप से प्रचार सातवीं सदी में हुआ। उस समय वहाँ स्रोङ्-ग्चन्-गम्-पो नामक प्रतापी राजा का शासन था। उसने दो विवाह किये थे, एक चीन की राजकुमारी से और दूसरा नेपाल के राजा अंशुवर्मन की कन्या भृकुटी देवी से। ये दोनों बौद्ध धर्म की अनुयायी थीं। इनके प्रभाव से राजा ने भी बौद्ध धर्म को अपना लिया।

उसके वंश में आगे चलकर ख्रि-स्रोंग-ल्दे-व्चन् तिब्बत का राजा हुआ। उसने शान्तरक्षित नाम के भारतीय आचार्य को तिब्बत में निमन्त्रित किया। आचार्य पद्मसम्भव के सहयोग से शान्तरक्षित ने तिब्बत में बौद्ध धर्म का प्रचार किया। ये दोनों मगध के निवासी थे। मगध के महाविहारों के अनुकरण में इन्होंने तिब्बत की राजधानी ल्हासा से ३० मील दक्षिण-पूर्व में सम्-ये नामक स्थान पर एक महाविहार का निर्माण कराया जो बहुत समय तक तिब्बत में ज्ञान, धर्म और विद्या का केन्द्र रहा। बाद में बहुत-से बौद्ध पण्डित भारत से तिब्बत जाते रहे, और उन्होंने वहाँ जाकर अनेक संस्कृत ग्रन्थों का तिब्बती भाषा में अनुवाद किया। भारतीय बौद्ध विद्वानों की तिब्बत जाने की प्रक्रिया अनेक सदियों तक जारी रही, और उनके प्रयत्न से यह देश भारतीय सभ्यता, धर्म और संस्कृति का एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन गया। ग्यारहवीं सदी में आचार्य दीपंकर श्रीज्ञान अतीश तिब्बत गए, और उन्होंने वहाँ बौद्ध धर्म को पुनःसंगठित किया।

यद्यपि चीन और तिब्बत में भारतीयों ने अपने कोई उपनिवेश स्थापित नहीं किए, और वहाँ अपना राजनीतिक प्रभुत्त्व भी उन्होंने कायम नहीं किया, पर इसमें सन्देह नहीं कि ये दोनों देश सांस्कृतिक दृष्टि से बृहत्तर भारत के अंग रहे।

चीन में बौद्ध धर्म का प्रचार हो जाने पर यह स्वाभाविक था, कि बौद्ध भिक्षु वहाँ से सुदूर पूर्व के अन्य देशों में प्रचार के लिए जाएँ। ३७४ ईस्वी में अ-ताओ और शन-ताओ नाम के दो विदेशी भिक्षु उत्तरी चीन से कोरिया गए थे, और उन द्वारा उस देश में बौद्ध धर्म का सूत्रपात किया गया था। छठी सदी तक प्रायः सम्पूर्ण कोरिया ने बौद्ध धर्म को अपना लिया था, जिस कारण सुदूर पूर्व का यह देश भी भारतीय संस्कृति के प्रभाव में आ गया था। जापान में बौद्ध धर्म का प्रवेश कोरिया द्वारा हुआ। छठी सदी में कोरिया के एक राजा ने बुद्ध की एक मूर्ति और कुछ बौद्ध ग्रन्थ जापान में इस सन्देश के साथ भेजे थे, कि भारत और कोरिया के मध्यवर्ती क्षेत्र में जो भी देश हैं, उन सब ने उस बौद्ध धर्म को स्वीकार कर लिया है, जिसको अपना लेने पर असीम लाभों की प्राप्ति होती है। आठवीं सदी में बोधिसेन नामक एक भारतीय भिक्षु भी जापान गया था, जिसने उस देश में अपने धर्म के प्रचार के लिए विशेष उद्योग किया, और धीरे-धीरे सम्पूर्ण जापान बौद्ध धर्म का अनुयायी हो गया। इसमें सन्देह नहीं, कि चीन और तिब्बत के समान कोरिया और जापान भी भारतीय धर्म तथा संस्कृति से प्रभावित हुए, जिसके कारण इन देशों को भी भारत के सांस्कृतिक साम्राज्य के अन्तर्गत कहा जा सकता है।

(३) बृहत्तर भारत का क्षेत्र—दक्षिण-पूर्वी एशिया

भारत के सांस्कृतिक साम्राज्य का एक अन्य महत्त्वपूर्ण क्षेत्र दक्षिण-पूर्वी एशिया था। मौर्य राजा अशोक द्वारा धर्म विजय का जो प्रयत्न किया गया था, उसके परिणाम-स्वरूप कतिपय बौद्ध प्रचारक दक्षिण में सिंहल (श्रीलंका) और पूर्व में सुवर्णभूमि भी गये थे। सिंहल के राजा तिस्स ने अशोक के समय में ही बौद्ध धर्म को स्वीकार कर लिया था, और सुवर्णभूमि (प्राचीन भारतीय लोग बरमा तथा उसके समीपवर्ती पूर्वी

देशों को इसी नाम से कहा करते थे) में इसी काल में बौद्ध धर्म के प्रचार का सूत्रपात हो गया था। पर भारतीय लोग केवल धर्मप्रचार के प्रयोजन से ही इस क्षेत्र के देशों में नहीं गये थे। वे व्यापार और उपनिवेश बसाने के लिये भी वहाँ आया-जाया करते थे। भारत के पूर्व में बरमा से लगाकर सुदूर चीन तक हिन्दमहासागर में जो बहुत-से छोटे-बड़े द्वीप व प्रायद्वीप हैं, वे सब मौर्योत्तर युग में भारतीय बस्तियों से परिपूर्ण हो गये थे। दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध-देशों में भारतीय उपनिवेशों की स्थापना की यह प्रक्रिया शुङ्ग-सातवाहन युग में प्रारम्भ हुई थी, और गुप्त साम्राज्य के समय में इसका चरम विकास हो गया था। जिस क्षेत्र में वर्तमान समय में बरमा, मलायीसिया, इन्डोनीसिया, कम्बोडिया, लाओस, सियाम और विएतनाम के राज्य हैं, उन सब में भारतीयों ने अपने विविध उपनिवेशों की स्थापना की थी। इनके राजा भारतीय थे, और इनकी भाषा, संस्कृति तथा धर्म भी भारतीय थे। भारत के जिन जनपदों से जाकर लोग इन द्वीपों में बसते थे, वे अपने नये नगरों के नाम मातृभूमि के अपने पुराने नगरों व देशों के नाम पर ही रखते थे। बंग देश से गये लोगों ने सुमात्रा द्वीप के दक्षिण-पूर्वी सिरे पर नये बंग द्वीप की स्थापना की, जो अब बंका कहलाता है। इसी प्रकार आधुनिक क्रा की स्थलग्रीवा में नये तक्षशिला का निर्माण किया गया। यवद्वीप (जावा) में बसकर भारतीयों ने वहाँ की सबसे बड़ी नदी को सरयू नाम दिया, और अधिक पूर्व में जाकर नई चम्पा नगरी की स्थापना की। अंग जनपद की राजधानी का नाम चम्पा था। उसी के नाम पर वहाँ से गये भारतीयों ने इन नये उपनिवेश का नाम चम्पा रखा। धीरे-धीरे चम्पा की शक्ति बहुत बढ़ गई। बहुत-से समीपवर्ती प्रदेशों को जीतकर चम्पा ने एक साम्राज्य का विकास किया, जिसके विविध प्रान्तों के नाम कौठार, पाण्डुरंग, अमरावती, विजय आदि थे। चम्पा साम्राज्य की राजधानी इन्द्रपुर थी। चम्पा के पश्चिम में एक अन्य उपनिवेश था, जिसमें वर्तमान समय के कम्बोडिया और सियाम प्रदेश सम्मिलित थे। यह एक शक्तिशाली भारतीय उपनिवेश था, जिसे चीनी लोग फूनान कहते थे। इस उपनिवेश की स्थापना कौण्डिन्य नाम के एक ब्राह्मण ने की थी। पूर्वी एशिया के इन सब प्रदेशों में हिन्दू मन्दिरों, विहारों और स्तूपों के अवशेष बड़ी संख्या में विद्यमान हैं। संस्कृत, पालि, प्राकृत आदि भारतीय भाषाओं के शिलालेख भी इन प्रदेशों से बड़ी मात्रा में उपलब्ध हुए हैं।

दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध देशों से न केवल भारतीय राजाओं के ही शिलालेख मिले हैं, अपितु अनेक भारतीय व्यापारियों द्वारा उत्कीर्ण लेखों की भी वहाँ से प्राप्ति हुई है, क्योंकि भारत के साहसी व्यापारी प्राचीन काल में बड़ी संख्या में इन देशों में व्यापार के लिए आया-जाया करते थे। इन देशों में धर्मप्रचार के लिये जाने का सूत्रपात बौद्ध प्रचारकों द्वारा किया गया था, पर उनका अनुकरण कर बहुत-से शैव तथा वैष्णव प्रचारक भी इन देशों में गये, और वहाँ के निवासियों को उन्होंने अपने धर्मों में दीक्षित किया। यही कारण है, जो शैव और वैष्णव मन्दिर भी इन देशों में अच्छी बड़ी संख्या में निर्मित हुए, जिनके अवशेष इस समय भी विद्यमान हैं। भारतीय संस्कृति का प्रभाव इन देशों से अब तक भी नष्ट नहीं हुआ है। सियाम, बरमा,

कम्बोडिया ग्रादि ग्रनेक देशों के निवासी इस समय भी बौद्ध धर्म के ग्रनुयायी हैं, ग्रौर भारत को ग्रपनी धर्मभूमि मानते हैं। मलायीसिया ग्रौर इन्डोनीसिया के लोग ग्रब धर्म से मुसलमान हैं, पर उनकी भाषा, प्रथा, संस्कृति ग्रादि पर भारत की छाप विद्यमान है। वस्तुतः, दक्षिण-पूर्वी एशिया के इन विविध देशों का विकास भारत के उपनिवेशों के रूप में ही हुग्रा था, ग्रौर एक सहस्र वर्ष से भी ग्रधिक समय तक वे उसी ढंग से बृहत्तर भारत के ग्रंग रहे, जैसे कि गान्धार, कपिश ग्रौर कम्बोज थे।

विएतनाम ग्रौर चीन के पूर्व में प्रशान्त महासागर के फिलिप्पीन ग्रौर सेलेवीज द्वीपों में भी ऐसी मूर्तियाँ मिली हैं, जो इन सुदूरवर्ती प्रदेशों तक में भारतीय धर्म ग्रौर संस्कृति के प्रचार के प्रमाण उपस्थित करती हैं। इनके कारण भारत के सांस्कृतिक साम्राज्य का क्षेत्र ग्रौर भी ग्रधिक विस्तृत हो जाता है।

(४) पश्चिमी एशिया ग्रौर पाश्चात्य संसार से भारत का सम्बन्ध

तुर्की, ईरान, ईराक ग्रादि पश्चिमी एशिया के देशों में उस ढंग से भारतीयों ने ग्रपने उपनिवेश नहीं बसाये थे, जैसे कि मध्य एशिया ग्रौर दक्षिण-पूर्वी एशिया में स्थापित किये थे। ईजिप्त भी बृहत्तर भारत का ग्रंग नहीं था। पर इन पाश्चात्य देशों के साथ भारत का व्यापारिक सम्बन्ध विद्यमान था, ग्रौर बहुत-से भारतीय धर्म प्रचार के लिये भी इन देशों में ग्राया-जाया करते थे। राजा ग्रशोक ने जब धर्म विजय की नीति को ग्रपना कर ग्रपने धर्म-महामात्र भारत के सीमावर्ती देशों में भेजने प्रारम्भ किये, तो ग्रनेक धर्म महामात्र पश्चिम के यवन देशों में भी भेजे गये। सिकन्दर के ग्राक्रमण के पश्चात् भारत के पश्चिम तथा उत्तर-पश्चिम में ग्रनेक यवन राज्यों की स्थापना हो गई थी। ग्रशोक ने ग्रपने शिलालेखों में इस बात पर सन्तोष प्रगट किया है, कि ग्रन्य देशों के समान यवन-कम्बोज देशों में भी लोग उसके धर्मानुशासन का ग्रनुसरण करते हैं। इसमें सन्देह नहीं, कि ग्रशोक के प्रयत्न से पश्चिमी एशिया, ईजिप्त ग्रौर ग्रीस के यवन राज्यों में भी भारतीय धर्म तथा संस्कृति का प्रवेश प्रारम्भ हुग्रा था। ग्रशोक द्वारा नियुक्त धर्म-महामात्रों का सहारा लेकर ग्रनेक बौद्ध प्रचारक भी इस काल में पश्चिमी देशों में गये थे, ग्रौर उनके कारण इन देशों के विद्वानों तथा दार्शनिकों को भारतीय विचारों से परिचित होने का ग्रवसर प्राप्त हुग्रा था। इस स्थिति में बृहत्तर भारत का इतिहास लिखते हुए पश्चिमी संसार ग्रौर भारत के पारस्परिक सम्बन्धों पर प्रकाश डालना भी ग्रावश्यक है।

(५) बृहत्तर भारत का विकास

पश्चिम में वंक्षु (ग्रामू) नदी से लगाकर पूर्व में प्रशान्त महासागर तक भारत का जो सांस्कृतिक साम्राज्य विस्तृत था, उसके सम्बन्ध में निम्नलिखित बातें ध्यान देने योग्य हैं—

(१) बौद्ध काल ग्रौर उससे पूर्व ग्रफगानिस्तान (गान्धार ग्रौर कपिश) ग्रौर बदख्शां (कम्बोज) में ऐसे जनपद विद्यमान थे, जो सभ्यता तथा संस्कृति की दृष्टि से

भारत के अन्य जनपदों के सदृश थे। उस समय इन्हें भारत का ही अङ्ग समझा जा सकता था। पर इनकी भौगोलिक स्थिति ऐसी थी, कि ये भारत, ईरान और मध्य एशिया के बीच में पड़ते थे। इसीलिए जब ईरान के हखामनी सम्राटों ने अपनी शक्ति का विस्तार किया, तो इन्हें भी जीतकर अपने साम्राज्य के अन्तर्गत कर लिया। बाद में जब मैसिडोनिया के राजा सिकन्दर ने ईरानी साम्राज्य को परास्त कर पूर्व दिशा में दिग्विजय प्रारम्भ किया, तो उसने इन्हें जीत कर अपने अधीन कर लिया और उसकी मृत्यु के पश्चात् भी ये यवनों की अधीनता में रहे। चन्द्रगुप्त मौर्य ने यवनों को परास्त कर इन्हें मगध साम्राज्य में सम्मिलित किया, पर अशोक के पश्चात् जब मौर्यों की शक्ति क्षीण हो गई, तो इन प्रदेशों में अनेक यवन राज्य स्थापित हो गये। यद्यपि राजनीतिक दृष्टि से ये प्रदेश अब भारत के साम्राज्य के अन्तर्गत नहीं रहे, पर संस्कृति और भाषा की दृष्टि से इन पर भारत का प्रभाव कायम रहा, और अनेक यवन राजाओं ने भारत के धर्मों को भी स्वीकार कर लिया। यवन लोग भी इन प्रदेशों पर देर तक शासन नहीं कर सके। मध्य एशिया से आकर शक, युइशि आदि विविध जातियों ने इन प्रदेशों से यवन शासन का अन्त किया, और वहाँ अपने राज्यों की स्थापना की। पर शक, युइशि आदि लोग भी शीघ्र ही भारतीय धर्म और संस्कृति के प्रभाव में आ गये, और गान्धार, कपिश तथा कम्बोज पहले के ही समान भारत के सांस्कृतिक साम्राज्य के अंग बने रहे। यह स्थिति तब तक कायम रही, जबतक इस्लाम का इन प्रदेशों में प्रवेश नहीं हुआ।

(२) बृहत्तर भारत के दो प्रधान क्षेत्र थे, उपरला हिन्द और दक्षिण-पूर्वी एशिया। वर्तमान सिंगकियांग या चीनी तुर्किस्तान के सब प्रदेश उपरले हिन्द के अन्तर्गत थे। रूसी तुर्किस्तान के अनेक प्रदेशों पर भी भारतीय संस्कृति के प्रभाव की सत्ता थी। इस क्षेत्र में भारतीयों ने अपने बहुत-से उपनिवेश कायम किये थे, और बौद्ध भिक्षुओं ने वहाँ के मूल निवासियों को भी अपने धर्म में दीक्षित कर लिया था। भारतीय संस्कृति के इस क्षेत्र में प्रसार का सूत्रपात अशोक के समय में हुआ था, और ईस्वी सन् के प्रारम्भ समय तक वहाँ के प्रायः सब प्रदेश भारत के सांस्कृतिक साम्राज्य में सम्मिलित हो गये थे। इस्लाम द्वारा इस क्षेत्र से भी भारत के प्रभाव का अन्त किया गया, पर एक सहस्र वर्षों के लगभग (तीसरी सदी ईस्वी पूर्व से आठवीं सदी ईस्वी तक) मध्य एशिया भारतीय धर्म तथा संस्कृति के प्रभाव में रहा।

दक्षिण पूर्वी एशिया के बृहत्तर भारत में बरमा, मलायीसिया, सियाम इन्डोनीसिया, कम्बोडिया, लाओस, विएतनाम और प्रशान्त महासागर के अनेक द्वीप अन्तर्गत थे। बौद्ध और मौर्य कालों में भी पूर्व के इन प्रदेशों से भारत का व्यापारिक सम्बन्ध विद्यमान था, पर ईस्वी सन् के प्रारम्भ काल के लगभग वहाँ भारतीयों ने अपने विविध उपनिवेश बसाने प्रारम्भ कर दिये थे, और शुंग-सातवाहन युग तक वहाँ उनकी अनेक बस्तियाँ बस गई थीं। वाकाटक-गुप्त काल में बहुत-से नये भारतीय उपनिवेश दक्षिण-पूर्वी एशिया में स्थापित हुए, और धीरे-धीरे यह दशा आ गई कि इस क्षेत्र के प्रायः सभी प्रदेशों में ऐसे राज्य कायम हो गये, जिन्हें पूर्णतया

भारतीय कहा जा सकता है। दक्षिण-पूर्वी एशिया के ये भारतीय राज्य चौदहवीं सदी व उसके कुछ समय बाद तक भी विद्यमान रहे।

(३) तिब्बत, चीन, कोरिया और जापान में भारतीयों ने उस ढंग से अपने उपनिवेश नहीं बसाये, जैसे कि मध्य एशिया तथा दक्षिण-पूर्वी एशिया में स्थापित किये थे। पर इन देशों में भी बौद्ध भिक्षु बड़ी संख्या में गये और वहाँ अपने धर्म के प्रचार में उन्होंने अनुपम सफलता प्राप्त की। धर्म के साथ-साथ भारतीय साहित्य, कला आदि का भी इन देशों में प्रवेश हुआ, जिसके कारण ये देश भारत के सांस्कृतिक साम्राज्य के अन्तर्गत हो गये।

(४) यद्यपि नेपाल इस समय एक पृथक् एवं सम्पूर्ण-प्रभुत्त्व-सम्पन्न राज्य है, पर धर्म, सभ्यता तथा संस्कृति की दृष्टि से उसे भारत का एक अंग समझा जा सकता है।

(५) सिंहल द्वीप (श्रीलंका) में बौद्ध धर्म का प्रवेश राजा अशोक के समय में ही हो गया था। वहाँ के निवासी इस समय भी बौद्ध धर्म के अनुयायी हैं, और भारत के साथ उनका घनिष्ठ सांस्कृतिक सम्बन्ध विद्यमान है।

भारत के इस विशाल सांस्कृतिक साम्राज्य या बृहत्तर भारत का किस ढंग से विकास हुआ, इसी विषय पर इस ग्रन्थ में हमें प्रकाश डालना है। इस प्रसंग में हमें यह ध्यान में रखना चाहिये, कि इस विकास का क्रमबद्ध इतिहास लिख सकना सम्भव नहीं है। मध्य एशिया के विविध प्रदेशों में जिन भारतीय उपनिवेशों की स्थापना प्राचीन काल में हुई थी, उनका राजनीतिक इतिहास हमें ज्ञात नहीं है। उनकी नगरियों, विहारों तथा चैत्यों के जो भग्नावशेष इस समय उपलब्ध हैं, उन्हीं द्वारा उनकी सत्ता का परिचय हमें प्राप्त होता है। साथ ही, ह्यु एन्-सांग सदृश चीनी विद्वानों ने इन उपनिवेशों की यात्रा करते हुए इनका जो आँखों देखा विवरण लिखा है, उससे भी इनके विषय में अनेक महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ हमें उपलब्ध होती हैं। चीन के साथ इन राज्यों का घनिष्ठ सम्बन्ध था। वहाँ के अनेक शक्तिशाली सम्राटों ने इन राज्यों को अपना आधिपत्य स्वीकृत करने के लिये भी विवश किया था। इनके राजा प्रायः चीन के राजदरबार में नानाविध भेंट-उपहारों के साथ अपने दूत भेजते रहते थे। चीन का प्राचीन ऐतिहासिक इतिवृत्त वहाँ के पुराने ग्रन्थों में संकलित है, जिसमें प्रसंगवश मध्य एशिया के कुची, खोतन आदि राज्यों के उन राजाओं का भी उल्लेख कर दिया गया है, जिन्होंने चीन के राजदरबार में अपने दूतमण्डल भेजे थे, या जिन्होंने चीन के आधिपत्य के विरुद्ध विद्रोह कर पूर्णतया स्वतन्त्र हो जाने का प्रयत्न किया था। इन राज्यों से बहुत-से बौद्ध विद्वान् और भिक्षु भी धर्मप्रचार के प्रयोजन से चीन गये थे, और वहाँ रहकर उन्होंने बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया था। इन बौद्ध प्रचारकों के जीवनवृत्त के प्रसंग में भी चीनी साहित्य में मध्य एशिया के इन राज्यों का उल्लेख मिलता है। भारत के प्राचीन साहित्य से इन पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। दक्षिण पूर्वी-एशिया के बृहत्तर भारत के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने के लिये अधिक सामग्री उपलब्ध है। इस क्षेत्र के अनेक भारतीय राजाओं ने उसी ढंग से अपनी प्रशस्तियाँ प्रस्तर-शिलाओं पर उत्कीर्ण करायी थीं, जैसे कि भारत में गुप्तवंशी राजा समुद्रगुप्त व शक राजा

रुद्रदामा द्वारा करायी गई थीं। इनसे इस क्षेत्र के अनेक राज्यों तथा राजवंशों का क्रमबद्ध इतिहास तैयार कर सकना भी सम्भव हुआ है। प्राचीन मन्दिरों, विहारों आदि के बहुत-से अवशेष भी इस क्षेत्र से उपलब्ध हुए हैं, जिनके द्वारा वहाँ की धार्मिक व सांस्कृतिक दशा का परिचय प्राप्त किया जा सकता है। इन्हीं सबका उपयोग कर हम इस ग्रन्थ में बृहत्तर भारत का एक स्पष्ट चित्र प्रस्तुत करने का प्रयत्न करेंगे।

दूसरा अध्याय

पाश्चात्य संसार के साथ प्राचीन भारत का सम्बन्ध

(१) अत्यन्त प्राचीन काल

भारत और पाश्चात्य देशों का सम्बन्ध बहुत पुराना है। प्रस्तर युग तथा आदि-धातु युग में भी इस सम्बन्ध की सत्ता थी। दक्षिणी बिलोचिस्तान के कोलबा प्रदेश में एक अत्यन्त प्राचीन सभ्यता के जो अवशेष मिले हैं, उन्हें कुल्ली-सभ्यता कहते हैं। इन अवशेषों में जो बरतन प्राप्त हुए हैं, उनके तथा पश्चिमी एशिया (ईराक और एलम) के प्राचीन बरतनों के चित्रण में बहुत समता है। कुल्ली सभ्यता के बरतनों पर प्रकृति (वृक्ष, वनस्पति आदि) के बीच में पशु आकृतियों को चित्रित किया गया है। यही शैली ईराक एवं पश्चिमी ईरान के इस युग के बरतनों को चित्रित करने के लिये अपनायी गई है। कुल्ली सभ्यता और पश्चिमी एशिया के बरतनों में यह समता ध्यान देने योग्य है। इसी प्रकार जिस ढंग के पत्थर के सुन्दर व छोटे आकार के बरतन कुल्ली सभ्यता के अवशेषों में मिले हैं, ठीक वैसे ही पत्थर के बरतन पश्चिमी एशिया के अनेक प्राचीन भग्नावशेषों में उपलब्ध हुए हैं। इन समताओं को दृष्टि में रखकर विद्वानों ने यह अनुमान किया है, कि कुल्ली-सभ्यता और पश्चिमी एशिया की प्राचीन सभ्यताओं में घनिष्ठ सम्बन्ध था, और इनके व्यापारी एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में व्यापार के लिये आया-जाया करते थे। पश्चिमी एशिया के इस युग के भग्नावशेषों में भी बिलोचिस्तान के भारतीय व्यापारियों की विद्यमानता के प्रमाण मिले हैं।

सिन्धु घाटी सभ्यता का पाश्चात्य देशों के साथ सम्बन्ध—कुल्ली सभ्यता सदृश अत्यन्त प्राचीन सभ्यताओं के पश्चात् भारत में एक अत्यन्त उन्नत एवं समृद्ध सभ्यता का विकास हुआ, जिसके प्रधान नगरों के भग्नावशेष हड़प्पा और मोहनजोदड़ो नामक स्थानों पर उपलब्ध हुए हैं। यह सभ्यता काठियावाड़ से हिमालय तक तथा मकरान से गंगा की घाटी तक विस्तृत थी। पर इसके प्रधान नगर सिन्ध और उसकी सहायक नदियों के समीपवर्ती प्रदेश में विद्यमान थे। इसीलिये इसे 'सिन्धुघाटी की सभ्यता' कहा जाता है। इसे वैदिक युग से पूर्ववर्ती काल की सभ्यता माना जाता है, और इसका काल ईस्वी सन् से ३००० वर्ष पूर्व के लगभग था।

कुल्ली सभ्यता के समान सिन्धु सभ्यता के लोगों का भी पाश्चात्य देशों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था। पाश्चात्य संसार में इसकी समकालीन सभ्यता सुमेरियन सभ्यता थी, जिसकी स्थिति वर्तमान ईराक (मैसेपोटामिया) के प्रदेश में थी। प्राचीन सुमेरिया के अवशेषों में अनेक ऐसी मुद्राएँ मिली हैं, जो हड़प्पा की मुद्राओं से हूबहू मिलती-जुलती हैं। ये मुद्राएँ सुमेरिया की अपनी मुद्राओं से सर्वथा भिन्न हैं। इनमें से एक मुद्रा पर सूती कपड़े का निशान भी अंकित है, जो सिन्धु सभ्यता में बड़े परिमाण में

तैयार होता था। ऐसा प्रतीत होता है, कि सिन्धु देश के व्यापारी सुमेरिया में भी बसे हुए थे, और वहाँ वे मुख्यतया कपड़े का व्यापार किया करते थे। इसी प्रकार मोहनजोदड़ो में कुछ ऐसी मुद्राएँ मिली हैं, जो ठीक सुमेरियन शैली की हैं। ये मुद्राएँ या तो सुमेरियन व्यापारियों की सिन्धु देश में सत्ता को सूचित करती हैं, और या यह भी सम्भव है कि सुमेरिया से घनिष्ठ व्यापारिक सम्बन्ध रखने वाले कुछ सिन्धु देशीय व्यापारियों ने सुमेरियन शैली पर अपनी मुद्राओं का निर्माण किया हो। सिन्धु सभ्यता के व्यापारी न केवल सुमेरिया के साथ व्यापार करते थे, अपितु ईरान से भी उनका व्यापारिक सम्बन्ध विद्यमान था। ईरान के प्राचीन भग्नावशेषों में अनेक ऐसी वस्तुएँ उपलब्ध हुई हैं, जो वहाँ सिन्धु देश से गयी मानी जाती हैं। यह विदेशी व्यापार समुद्र-मार्ग से होता था, यह कल्पना असंगत नहीं है, क्योंकि सिन्धु सभ्यता के लोग जहाज से भली भाँति परिचित थे। इस सभ्यता के अवशेषों में उपलब्ध हुई एक मुद्रा पर एक जहाज की आकृति सुन्दर रूप से अंकित की गई है। इसी प्रकार मिट्टी के बरतन के एक टुकड़े पर भी जहाज का चित्र बना हुआ मिला है। ये चित्र इस बात को सूचित करने के लिये पर्याप्त हैं, कि सिन्धु सभ्यता के लोग जहाजों व नौकाओं का प्रयोग किया करते थे। पुरातत्त्व के विद्वानों के अनुसार सिन्धु सभ्यता का पश्चिमी एशिया के देशों के साथ यह व्यापार-सम्बन्ध तीसरी सहस्राब्दि ईस्वी पूर्व में विद्यमान था।

मोहनजोदड़ो के भग्नावशेषों में जो अनेकविध रत्न प्राप्त हुए हैं, उनसे भी वहाँ के लोगों का पश्चिमी देशों के साथ व्यापार-सम्बन्ध सूचित होता है। वैदूर्य का एक भेद हकीक (अंग्रेजी में एगेट) वहाँ मिला है, जो ईरान की खाड़ी और यमन में होता है। इसी प्रकार ईरान तथा मध्य एशिया में पाये जाने वाले यशव (जेड) के भी अनेक टुकड़े मोहनजोदड़ो में मिले हैं। सिन्धु सभ्यता ने भग्नावशेषों में जो लाजवर्द (लापिस लाजली) मिले हैं, वे बदख्शां में उत्पन्न होते हैं। इन रत्नों का वहाँ उपलब्ध होना इस सभ्यता के विदेशी व्यापार तथा पश्चिमी संसार के साथ सम्बन्ध पर अच्छा प्रकाश डालता है।

(२) वैदिक काल

प्राचीन काल में पाश्चात्य संसार में सभ्यता के दो प्रधान केन्द्र थे—(१) टिग्रिस (दजला) और युफ्रेटिस (फरात) नदियों की घाटी, और (२) नील नदी की घाटी। टिग्रिस और युफ्रेटिस नदियों के मध्यवर्ती प्रदेश में इस समय ईराक (मैसेपोटासिया) का राज्य है, और नील नदी की घाटी में ईजिप्त (मिस्र) की स्थिति है। ईस्वी सन् से ३५०० वर्ष पूर्व के लगभग ईराक के क्षेत्र में सुमेरियन सभ्यता की सत्ता थी, जो भारत की सिन्धु सभ्यता की समकालीन थी। बाद में वहाँ कैल्डियन (खल्द) और बैबिलोनियन सभ्यताओं का विकास हुआ। २२५० ईस्वी पूर्व के लगभग बैबिलोनियन लोगों ने टिग्रिस नदी के पश्चिमी तट पर एक नया नगर बसाया, जिसे असुर कहते थे। अस्सुर बैबिलोनियन लोगों का प्रधान देवता था, और उसी के नाम पर उन्होंने अस्सुर नगर की स्थापना की थी। इस अस्सुर के राजाओं में शाल्मनेसर बहुत प्रसिद्ध हुआ। १३००

ई० पूर्व में उसने टिग्रिस और युफ्रेटिस नदियों के सारे प्रदेश को जीतकर अपने अधीन कर लिया, और इस प्रकार एक बड़े साम्राज्य का निर्माण किया, जो अस्सुर या असीरियन साम्राज्य के नाम से प्रसिद्ध है। बैबिलोनियन व अस्सुर लोगों ने पश्चिम की ओर आगे बढ़कर एक नया उपनिवेश भी बसाया, जिसे कानान कहते थे। इसकी स्थिति उस प्रदेश में थी, जहाँ वर्तमान समय में पैलेस्टाइन (फिलिस्तीन) है। इसी काल में पश्चिमी एशिया के उस प्रदेश में, जहाँ अब तुर्की नामक राज्य है, दो जातियों का निवास था जिन्हें हत्ती (खत्ती) या हित्ताइत और मित्तानी कहते थे। उस प्रदेश में इन जातियों के दो पृथक् राज्यों की सत्ता थी।

वैदिक काल में भारत के आर्यों का पश्चिमी एशिया के इन विविध राज्यों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था। अनेतोलिया के बोगज़-कोई नामक स्थान पर मित्तानी और खत्ती राज्यों के राजाओं का एक सन्धिपत्र मिला है, जो एक विशाल शिलाखण्ड पर उत्कीर्ण है। इसको सबसे पूर्व ह्यूगो विंकलर नामक जर्मन विद्वान् ने १९०८ में खोज निकाला था। बोगज कोई खत्ती राज्य की राजधानी थी। उसके राजा सुबिलुलियम का मित्तानी के राजा मत्तिउअज के साथ युद्ध हुआ था, जिसका अन्त एक सन्धि द्वारा किया गया और उस सन्धि की शर्तों को एक शिला पर उत्कीर्ण करा दिया गया, ताकि दोनों पक्षों के सम्मुख वह स्पष्ट रूप से रहे। इस सन्धिपत्र पर इन्द्र, मित्र, वरुण और नासत्यौ को साक्षी रूप से उल्लिखित किया गया है। ये सब वैदिक देवता हैं, जिनके नाम बोगज़-कोई के लेख में घनपाठ की पद्धति से अंकित हैं। खत्ती और मित्तानी के इन राजाओं का काल १४५० से १३५० ईस्वी पूर्व तक का माना जाता है, जिससे यह असंदिग्ध रूप से माना जा सकता है कि इस अत्यन्त प्राचीन काल में वर्तमान तुर्की के प्रदेश में वैदिक देवताओं की पूजा प्रचलित थी।

मित्तानी के क्षेत्र से एक प्राचीन पुस्तक भी मिली है जो मिट्टी की तख्तियों पर उत्कीर्ण है। इसका विषय रथ तथा अश्व हैं। इसका लेखक किक्कुली नामक एक व्यक्ति था, जो अश्वविद्या तथा रथ संचालन का विशेषज्ञ था। इस पुस्तक में संस्कृत शब्दों का बाहुल्य है, और इसका काल चौदहवीं सदी ईस्वी पूर्व का माना जाता है। रथ के पहियों के घूमने के लिए इस पुस्तक में 'आवर्तन्न' शब्द का प्रयोग किया गया है, और एक, तीन, पाँच व सात चक्करों के लिये क्रमशः एकवर्त्तन्न, तेरवर्तन्न, पंचवर्तन्न तथा सातवर्तन्न शब्द प्रयुक्त हुए हैं। आवर्तन्न संस्कृत के आवर्तन शब्द का ही एक रूप है। मित्तानी राजाओं द्वारा भेजे गये कतिपय पत्र ईजिप्त के एल-अमरना नामक स्थान पर मिले हैं। ये भी मिट्टी की तख्तियों पर उत्कीर्ण हैं। इन पत्रों में मित्तानी राजाओं के नाम अर्नतम, दशरत्त आदि हैं, जो संस्कृत के ही हैं। पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार गान्धार के ऐल वंश की एक शाखा ने पश्चिम में जाकर अपनी बस्तियाँ कायम की थीं। यदि तुर्की की इन प्राचीन खत्ती और मित्तानी जातियों का सम्बन्ध वैदिक युग की भारतीय ऐल जाति के साथ हो, तो इसे असम्भव नहीं कहा जा सकता।

प्राचीन बैबिलोनियन, कैल्डियन(खल्द) और असीरियन लोगों का भी वैदिक युग

के भारतीयों के साथ सम्बन्ध था, इस विषय के अनेक संकेत पाये जाते हैं। असीरिया के सम्राट् शालमनेसर तृतीय की एक वास्तु-कृति पर बन्दरों और हाथियों की आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं। ये पशु भारत में पाये जाते हैं, और पश्चिमी एशिया के किसी भी प्रदेश में इनकी सत्ता नहीं थी। इनकी आकृतियों को उत्कीर्ण किया जाना इस तथ्य की ओर संकेत करता है, कि असीरिया के लोगों का भारत के साथ सम्बन्ध था। मुघैर (उर) में चन्द्रमा के एक प्राचीन मन्दिर के अवशेष मिले हैं, जिनमें सागौन की लकड़ी का प्रयोग किया गया है। यह लकड़ी भारत से ही वहाँ ले जायी गई थी। पश्चिमी एशिया के इन प्रदेशों में सागौन के वृक्ष न अब होते हैं, और न पहले कभी होते थे। मुघैर (उर) की स्थिति कैल्डियन राज्य के क्षेत्र में थी। वहाँ के अन्यतम राजा नेबुचडनज़र (छठी सदी ईस्वी पूर्व) ने भी अपने राजप्रासाद के निर्माण में सागौन की लकड़ी का प्रयोग किया था, जिसे उसने भारत से ही प्राप्त किया होगा। इस प्रासाद के भग्नावशेष भी इस समय विद्यमान हैं।

बैबिलोनियन लोगों ने पश्चिमी एशिया के समुद्रतट के समीप (वर्तमान पैले-स्टाइन में) कानान नामक जिस उपनिवेश की स्थापना की थी, उसके निवासी पूनि (प्यूनिक) कहलाते थे, जिनके कारण उसे पूनिचिया या फिनीशिया भी कहा जाता था। ये पूनि लोग प्राचीन इतिहास में नौकानयन और सामुद्रिक व्यापार के लिए बहुत प्रसिद्ध थे। वैदिक साहित्य में इनका उल्लेख 'पणि' नाम से किया गया है, और इन्हें असुर कहा गया है। यह ऊपर लिखा जा चुका है, कि अस्सुर बैबिलोनियन लोगों का देवता था, जिस के नाम पर उन्होंने टिग्रिस नदी के पश्चिमी तट पर अस्सुर नामक नगरी की भी स्थापना की थी। पणि या पूनि लोग भी अस्सुर के उपासक थे, अतः वैदिक साहित्य में उन्हें असुर पणि कहा जाना सर्वथा संगत है। पणि लोगों के व्यापार में प्रवीण होने के कारण वैदिक भाषा में पणि का अर्थ ही व्यापारी हो गया, और उसी से संस्कृत के वणिक् शब्द का निर्माण हुआ।

नील नदी (ईजिप्त में) के समीपवर्ती प्रदेश को वैदिक साहित्य में 'सवान' नाम से कहा गया है। आज भी यह प्रदेश असवान कहलाता है, जहाँ बनाया गया असवान डाम बड़े महत्त्व का है। ऋग्वेद (प्रथम मण्डल, १२६ सूक्त) में सवान के राजा तूर्त या तूत का उल्लेख है, जिसने एक श्रव (यश) का अनुष्ठान किया था, और जिसमें उसने यज्ञ के पुरोहित को बहुत-से निष्क, अश्व तथा अन्य धन दक्षिणा के रूप में प्रदान किया था। ऋग्वेद के इस सूक्त में वैदिक आर्यों के सवान देश से परिचय तथा वहाँ के राजा तूर्त द्वारा यज्ञ के अनुष्ठान का स्पष्ट संकेत विद्यमान है। इसी प्रकार अथर्व वेद के कुन्ताप सूक्त में कर्करी का उल्लेख है, प्राचीन ईजिप्त में जिसका वही स्थान था, जो कि भारत में गणेश का है। वैदिक साहित्य में विद्यमान ये संकेत प्राचीन भारत और प्राचीन ईजिप्त के पारस्परिक सम्बन्ध के परिचायक हैं। पुराणों में नील नदी के उद्गम स्थान को कुशद्वीप कहा गया है। प्राणों में कुशद्वीप का जो वर्णन है, उसी का सहारा लेकर कैप्टिन स्पीक ने नील नदी के उद्गम का पता लगाया था। नील नदी का यह उद्गम प्रदेश इस समय अबीसीनिया (हब्श) राज्य में है। २००० ई० पूर्व के लगभग इस प्रदेश

में कुश लोगों का शासन रहा था, जिसके कारण यह प्रदेश कुशद्वीप कहलाता था। पुराणों में इसी का उल्लेख विद्यमान है।

बाइबल की अनेक गाथाओं द्वारा भी पाश्चात्य संसार और प्राचीन भारत के पारस्परिक सम्बन्धों के संकेत मिलते हैं। एक गाथा के अनुसार राजा सोलोमन के शासन काल में (८०० ई० पूर्व के लगभग) एक जहाजी बेड़े ने पूर्व के प्रदेशों की यात्रा की थी, और वहाँ से बहुत-सा सोना, चाँदी, हाथी दाँत, बन्दर, मोर, सुपारी के वृक्ष तथा रत्न आदि उसने प्राप्त किए थे। जिस बन्दरगाह पर यह जहाजी बेड़ा व्यापार के लिए गया था, उसका नाम 'ओफिर' या सोफिर था। इसे सोफारा के साथ मिलाया गया है, जिसकी स्थिति भारत के पश्चिमी समुद्रतट पर थी। प्राचीन काल में भारत से जो अनेक वस्तुएँ पश्चिमी देशों में व्यापार के लिए ले जायी जाती थीं, उनमें से कुछ के नाम पाश्चात्य भाषाओं में ऐसे हैं, जो इन वस्तुओं के संस्कृत के नामों से मिलते-जुलते हैं। हिब्रू भाषा में कपास के लिए कर्पस शब्द है, जो संस्कृत के कार्पास के सदृश है। चन्दन के लिए ग्रीक भाषा में सन्तलन शब्द है, जो संस्कृत के सन्दल से मिलता-जुलता है। इसी प्रकार अन्य भी अनेक वस्तुओं के नामों में समता व सादृश्य का पाया जाना यह सूचित करता है, कि प्राचीन समय के पश्चिमी देशों में बहुत-सी व्यापारिक वस्तुएँ भारत से जाया करती थीं।

प्राचीन काल में पश्चिमी देशों और भारत का सम्बन्ध केवल व्यापारिक ही नहीं था। व्यापार द्वारा परस्पर सम्पर्क स्थापित होने के कारण इनमें सांस्कृतिक सम्बन्ध भी विकसित हुआ, और दोनों क्षेत्रों के विश्वासों, कथाओं तथा मान्यताओं ने एक-दूसरे को प्रभावित किया। अथर्व वेद में तन्त्र-मन्त्र तथा जादू-टोने की अनेक बातें पायी जाती हैं। अनेक विद्वानों ने प्रतिपादित किया है, कि इन्हें भारत ने बैबिलोनियन व कैल्डियन लोगों से ग्रहण किया था। बाल गंगाधर तिलक के अनुसार अथर्व वेद में जादू-टोने के प्रसंग में जिन शब्दों का प्रयोग किया गया है, उनमें से अनेक का मूल कैल्डिया था। इसी प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों में जलप्लावन की जो कथा पायी जाती है वह बैबिलोनियन कथा से मिलती-जुलती है।

(३) ईरान के हखामनी सम्राट् और भारत

छठी सदी ई० पू० में ईरान में एक शक्तिशाली राजवंश का शासन था, जिसे राजा हखामनी ने स्थापित किया था। इस वंश में कुरु (काइरस) नाम का राजा बहुत शक्तिशाली हुआ। उसका काल ५५६ से ५२६ ई० पू० तक था। राजा कुरु ने अपने राज्य का विस्तार करने के लिए पड़ोस के राज्यों पर आक्रमण करने शुरू किए, और धीरे-धीरे उसने बाख्त्री (बैक्ट्रिया), शकस्थान (सीसतान) और मकरान के प्रदेशों को जीत लिया। इन विजयों से उसके साम्राज्य की पूर्वी सीमा भारत के साथ आ लगी। कुरु के वंशजों ने ईरानी साम्राज्य की शक्ति का और अधिक विस्तार किया। उन्होंने ईरान के पश्चिम के मैसोपोटामिया आदि प्रदेशों को जीतकर ईजिप्त को भी अपने अधीन कर लिया।

हखामनी वंश के राजा दारयवहु (डेरियस) का भारत के इतिहास के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। उसका काल ५२१ से ४८५ ई० पू० तक था। अपने साम्राज्य का विस्तार करते हुए उसने कम्बोज, पश्चिमी गान्धार और सिन्ध की भी विजय की। इनको जीत लेने के कारण भारत के ये पश्चिमी प्रदेश हखामनी साम्राज्य के अन्तर्गत हो गए थे। दारयवहु ने अपने विशाल साम्राज्य को २३ प्रान्तों में विभक्त किया था, जिनके शासकों को 'क्षत्रप' कहा जाता था। कम्बोज, गान्धार और सिन्ध को मिलाकर ईरानी साम्राज्य का एक प्रान्त बनाया गया था। इससे ईरानी सम्राट् को बहुत अधिक आमदनी थी। अन्दाज किया गया है, कि यह आमदनी डेढ़ करोड़ रुपये वार्षिक के लगभग थी।

दारयवहु का उत्तराधिकारी ख्षयर्श (जर्क्सीज) था। उसने पश्चिम में अपने साम्राज्य का विस्तार करते हुए ग्रीस पर आक्रमण किया था। इस आक्रमण में उसकी सेना में भारतीय सैनिक भी अच्छी बड़ी संख्या में सम्मिलित थे। भारत के ये सैनिक सूती कपड़े पहनते थे, जो ग्रीक लोगों के लिए आश्चर्य की बात थे। कपास को देखकर ग्रीक लोग बहुत चकित हुए, और उसे ऊन का पेड़ कहने लगे। इस समय तक ग्रीक लोगों को कपास, सूत व सूती वस्त्रों का परिज्ञान नहीं था।

दारयवहु के तीन लेख इस समय मिलते हैं। ये लेख बहिस्ताँ, पर्सिपोलिस और नक्शाए-रुस्तम में पाए गए हैं। इनमें से पिछले दो शिलालेखों में भारत का 'हिन्दव' और 'हिन्दुश' नामों से उल्लेख किया गया है। ख्षयर्ष (४८५-४६५ ई० पू०) के शिलालेखों में भी इन्हीं नामों से भारत का उल्लेख किया गया है।

यद्यपि ईरान के सम्राट् भारत के पश्चिमी प्रान्तों को देर तक अपनी अधीनता में नहीं रख सके, पर पश्चिमी देशों से भारत के सम्बन्ध को सुदृढ़ करने में ईरानी साम्राज्य से बहुत सहायता मिली। ईरानी साम्राज्य पश्चिम में ईजिप्त और ग्रीस से लगाकर पूर्व में सिन्ध नदी तक विस्तृत था। इस कारण इस काल में भारत का पश्चिमी देशों के साथ बहुत घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित हुआ, और ग्रीस, ईजिप्त आदि पाश्चात्य देशों को भारत की विचारधाराओं व कला आदि से परिचित होने का अनुपम अवसर प्राप्त हुआ।

५१६ ई० पू० में राजा दारयवहु ने स्काईलैक्स नाम के एक ग्रीक को भारत का अवगाहन करने के लिए भेजा था। स्काइलैक्स ने सिन्ध नदी के साथ-साथ यात्रा की, और सिन्ध के मुहाने पर पहुँच कर वहाँ से समुद्र द्वारा अरब सागर और लाल सागर होते हुए स्वेज तक के समुद्रतट का अवगाहन किया। इस यात्रा में उसे ढाई साल के लगभग समय लगा। उसके द्वारा न केवल ईरानी लोगों को अपितु ग्रीस के निवासियों को भी भारत का परिचय हुआ। ग्रीस के प्राचीन ऐतिहासिक हीरोदोतस ने भारत के सम्बन्ध में जो अनेक बातें लिखी हैं, उनका परिज्ञान उसने सम्भवतः स्काइलैक्स द्वारा ही प्राप्त किया था। हीरोदोतस का काल छठी सदी ईस्वी पूर्व में है। वह कुछ समय तक ईरान के राजदरबार में ग्रीस के राजदूत के रूप में भी रहा था। भारत के सम्बन्ध में लिखते हुए हीरोदोतस ने एक ऐसे भारतीय सम्प्रदाय का भी उल्लेख किया

है, जिसके अनुयायी मांस भक्षण से परहेज करते थे, और केवल अन्न द्वारा अपना निर्वाह करते थे। यह सम्प्रदाय सम्भवतः जैन लोगों का था, जो अहिंसा को बहुत महत्त्व देते थे। जैन धर्म इस समय तक भारत में भली-भाँति प्रचारित हो चुका था।

(४) बौद्ध काल

ईरान में हखामनी साम्राज्य के विकास के कारण भारत का पाश्चात्य देशों के साथ जो सम्बन्ध स्थापित हुआ, बौद्धकाल में उसमें बहुत वृद्धि हुई। भारत के व्यापारियों के साथ-साथ इस देश के विचारक भी पश्चिमी देशों में अच्छी बड़ी संख्या में जाने लगे, और पाश्चात्य लोगों को भारत के दर्शन व विचारों से परिचित होने का अवसर मिला। जातक कथाओं में उन व्यापारियों का उल्लेख आता है, जो पश्चिम में बावेरु (बैबिलोन) के साथ व्यापार करते थे, और जिनके पण्य को देखकर इन पाश्चात्य देशों के निवासी बहुत चकित हुआ करते थे। इन व्यापारियों के साथ भारत के दार्शनिक और विचारक भी पश्चिमी देशों में जाने लगे, और उनके सम्पर्क के कारण ग्रीस आदि देशों के अनेक तत्त्वचिन्तक भी ज्ञान की पिपासा को शान्त करने के लिए भारत की यात्रा के लिए तत्पर हुए।

भारत के सम्पर्क के कारण ही ग्रीस के दार्शनिक विचारों में परिवर्तन आना प्रारम्भ हुआ। एशिया माइनर के समुद्रतट के साथ-साथ जो अनेक ग्रीक बस्तियाँ बसी हुई थीं, वे ईरानी साम्राज्य के अन्तर्गत थीं। इसीलिए वहाँ रहने वाले ग्रीक विचारकों का भारत के दार्शनिकों के साथ सुगमता से सम्पर्क हुआ, और उन्होंने 'एक ईश्वर' की सत्ता का प्रतिपादन किया। एशिया माइनर की ग्रीक बस्तियों में क्सेनोफोनस, पर्मेनिडस, जेनो आदि अनेक ऐसे विचारक हुए, जिनके विचार भारतीय उपनिषदों की विचारधारा से बहुत मिलते-जुलते हैं। ग्रीक लोग देवी-देवताओं में विश्वास रखते थे। पर इन विचारकों ने एक ईश्वर की सत्ता का प्रतिपादन किया। साथ ही, इन्होंने इस बात पर भी जोर दिया कि ईश्वर के सम्मुख भौतिक वस्तुओं की सत्ता सर्वथा तुच्छ है।

५८० ई० पू० में ग्रीस में एक महान् दार्शनिक का जन्म हुआ, जिसका नाम पाइथोगोरस था। उसके विषय में कहा जाता है, कि उसने ज्ञान की खोज में दूर-दूर तक यात्रा की, और वह भारत में भी आया। पाइथोगोरस ने जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया, उनमें पुनर्जन्म का सिद्धान्त भी है। उसका विश्वास था, कि मृत्यु के साथ मनुष्य का अन्त नहीं हो जाता, अपितु आत्मा पुनः जन्म ग्रहण करती है। यह सिद्धान्त उसने भारतीयों से ही सीखा था। पाइथोगोरस अहिंसा का भी पक्षपाती था, और मांस-भक्षण का विरोधी था। उसके अन्य अनेक सिद्धान्त भी भारतीय सिद्धान्तों से मिलते-जुलते हैं। उपनिषदों और बुद्ध की शिक्षाओं का प्रभाव उसके विचारों पर स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है।

एक प्राचीन ग्रीक लेखक के अनुसार कतिपय भारतीय दार्शनिक ग्रीस में एथेन्स तक पहुँच गए थे, और वहाँ जाकर उन्होंने ग्रीस के प्रसिद्ध विद्वान् सुकरात (मृत्युकाल ३९९ ई० पू०) से भी भेंट की थी। उन्होंने सुकरात से पूछा कि उनके दर्शन-शास्त्र का

क्या प्रयोजन है ? सुकरात ने उत्तर दिया—'मनुष्य के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करना'। इस पर भारत के दार्शनिक हँस पड़े, और उन्होंने कहा—"ईश्वर के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त किए बिना मनुष्य को जान सकना सम्भव नहीं है।"

सुकरात का प्रसिद्ध शिष्य प्लेटो था। उसके विचार भारत के विचारों से बहुत मिलते-जुलते हैं। उसने कर्मफल और पुनर्जन्म के सिद्धान्तों का जिक्र किया है, और साथ ही मानव समाज को तीन वर्गों या वर्णों में विभक्त किया है। यह वर्णविभाग भारत की वर्णव्यवस्था के सदृश है। जिस प्रकार मनु आदि भारतीय विचारक वर्णों का मूल ईश्वरीय मानते हैं, वैसे ही प्लेटो भी मानता है। सम्भव है, कि प्लेटो को इन सिद्धान्तों का परिचय उन भारतीय दार्शनिकों से ही प्राप्त हुआ हो, जिन्होंने एथेन्स में सुकरात से भेंट की थी। इसमें सन्देह नहीं, कि ईरान के हखामनी साम्राज्य के कारण भारत का पश्चिमी देशों के साथ सम्पर्क बहुत अधिक बढ़ गया था।

हीरोदोतस के समान क्टेसियस नाम के एक अन्य ग्रीक लेखक ने भी भारत के सम्बन्ध में लिखा है। वह बीस वर्ष (४१८-३९८ ई० पू०) तक ईरान के राजदरबार में रहा था, और वहाँ रहते हुए उसे भारतीयों के सम्पर्क में आने का अच्छा अवसर प्राप्त हुआ था।

हखामनी साम्राज्य के कारण भारत और पाश्चात्य देशों में जिस घनिष्ठ सम्बन्ध की स्थापना हुई, उसने भारतीय संस्कृति को अनेक प्रकार से प्रभावित किया। इस विषय पर हम आगे चलकर अधिक विस्तार से प्रकाश डालेंगे।

(५) सिकन्दर का आक्रमण और मौर्य-युग

चौथी सदी ईस्वी पूर्व में मैसिडोनिया के राजा सिकन्दर ने अपने विशाल साम्राज्य का निर्माण किया। उसका पिता फिलिप ग्रीक राज्यों को जीतकर अपने अधीन कर चुका था। सिकन्दर ने ईजिप्त और ईरानी साम्राज्य को विजय करके भारत पर भी आक्रमण किया, और उसके उत्तर-पश्चिमी प्रदेशों को अपने अधीन कर लिया। यद्यपि वह भारत में अपने शासन को स्थायी नहीं बना सका, पर उसकी विजय-यात्राओं के कारण भारत का पाश्चात्य संसार के साथ सम्बन्ध और भी अधिक घनिष्ठ हो गया। सिकन्दर के साथ बहुत-से ग्रीक, ईजिप्शियन व ईरानी सैनिकों ने भारत में प्रवेश किया था, और उसने इन विदेशी सैनिकों की अनेक छावनियाँ भी भारत में कायम की थीं। उसने ग्रीक और भारतीय लोगों में विवाह-सम्बन्ध को भी प्रोत्साहन दिया था। सिकन्दर के शासन के नष्ट हो जाने पर ये सब विदेशी सैनिक भारत से वापस नहीं लौट गए थे, इनमें से बहुत-से स्थायी रूप से भारत में ही आबाद भी हो गए थे। सिकन्दर के बाद उसके अन्यतम उत्तराधिकारी सैल्युकस ने एक बार फिर भारत को जीतने का प्रयत्न किया था, यद्यपि वह भी अपने प्रयत्न में सफल नहीं हो सका था। विशाल मौर्य साम्राज्य की स्थापना के कारण ग्रीक लोग भारत को अपनी अधीनता में ला सकने में असमर्थ रहे थे। पर अशोक के बाद जब मौर्य साम्राज्य की शक्ति क्षीण होने लगी, तो ग्रीक आक्रान्ताओं ने उत्तर-पश्चिमी भारत के अनेक प्रदेशों को जीतकर अपने अधीन

कर लिया, और वहाँ अपने स्वतन्त्र राज्य स्थापित किए। इस प्रकार सिकन्दर के समय से ईस्वी सन् के प्रारम्भ तक भारत का पश्चिम के ग्रीक लोगों (जिन्हें भारतीय 'यवन' कहते थे) से सम्बन्ध निरन्तर बना रहा।

मौर्य युग में भारत का पाश्चात्य देशों के साथ सम्बन्ध—चन्द्रगुप्त मौर्य से परास्त होकर सैल्युकस ने भारत के सम्राट् से जो सन्धि की थी, उसके अनुसार सैल्युकस की कन्या का विवाह चन्द्रगुप्त के साथ हुआ था, और उसने अपना राजदूत भी चन्द्रगुप्त के दरबार में निवास के लिए नियुक्त किया था। सैल्युकस का राजदूत मैगस्थनीज चन्द्रगुप्त के दरबार में रहता था, और चन्द्रगुप्त ने भी अपना दूत सैल्युकस के दरबार में भेजा था। सैल्युकस के उत्तराधिकारी एण्टियोकस सार्टर ने डायमेचस को अपना राजदूत बनाकर चन्द्रगुप्त मौर्य के उत्तराधिकारी बिन्दुसार के दरबार में पाटलिपुत्र भेजा था। प्राचीन ग्रीक लेखकों ने एण्टियोकस और बिन्दुसार के सम्बन्ध में अनेक कथाएँ लिखी हैं। एक कथा के अनुसार बिन्दुसार ने एण्टियोकस से कुछ शराब, कुछ किशमिशें और एक ग्रीक दार्शनिक खरीद कर भेज देने के लिए लिखा था। इस पर एण्टियोकस ने शराब और किशमिशें तो खरीद कर भेज दीं, पर दार्शनिक के सम्बन्ध में कहला दिया कि ग्रीक प्रथा के अनुसार दार्शनिकों का क्रय-विक्रय सम्भव नहीं है। बिन्दुसार के समय में ईजिप्त का राजा टाल्मी फिलेडेल्फस (२८५-२४६ ई०पू०) था। उसने भी डायोनीसियस नाम का राजदूत बिन्दुसार के दरबार में भेजा था।

सम्राट् अशोक—अशोक के शासनकाल में भारत का पाश्चात्य संसार के साथ सम्बन्ध और भी अधिक बढ़ा। धर्म द्वारा अन्य देशों की विजय करने के उपक्रम में अशोक ने ईजिप्त, ग्रीस आदि पश्चिमी देशों में अपने धर्म-महामात्र नियत किए थे। उसके शिलालेखों से सूचित होता है, कि पश्चिमी संसार के निम्नलिखित राजाओं के राज्यों में धर्म-महामात्रों की नियुक्ति की गई थी—

(१) सीरिया के राजा अन्तियोक (एण्टियोकस थिओस) के राज्य में।
(२) ईजिप्त के राजा तुरुमय (टाल्मी फिलैडेल्फस) के राज्य में।
(३) मैसिडोन के राजा अन्तिकिनि (एण्टिगोनस) के राज्य में।
(४) कारिन्थ के राजा अलिकसुन्दर (अलैक्जेण्डर) के राज्य में।

अशोक के समय में पाश्चात्य संसार के ये ही प्रमुख राज्य थे। इन सब में अशोक द्वारा नियत महामात्रों ने धर्मविजय की स्थापना के लिए अनेक लोकोपकारी कार्य किए, और जनता को धर्मसन्देश सुनाया। इसका परिणाम यह हुआ, कि इन पश्चिमी देशों के साथ भारत का सम्पर्क और भी अधिक दृढ़ हो गया, और न केवल व्यापारी अपितु भारत के धर्म प्रचारक व दार्शनिक भी इन देशों में जाने-आने लगे।

ग्रीक आक्रमण—चन्द्रगुप्त मौर्य ने भारत में जिस विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी, वह अशोक के बाद कायम नहीं रह सका। सम्भवतः, पाश्चात्य देशों द्वारा पाटलिपुत्र के राजदरबार में अपने राजदूत नियुक्त करने की जो प्रथा चन्द्रगुप्त के समय में प्रारम्भ हुई थी, वह भी अशोक के बाद नष्ट हो गई। पर इस कारण भारत और पाश्चात्य देशों के सम्पर्क में कमी नहीं आयी। इसका कारण यह था, कि सिकन्दर के

साम्राज्य के खंडहरों पर जो अनेक ग्रीक राज्य कायम हुए थे, उनके राजाओं ने मौर्य साम्राज्य की निर्बलता से लाभ उठाकर भारत पर आक्रमण शुरू कर दिए, और वे इस देश में अपने छोटे-छोटे राज्य स्थापित करने में सफल भी हुए। बाख्त्री (बैक्ट्रिया) के प्रान्तीय ग्रीक शासक ने सीरिया के सम्राट् के विरुद्ध विद्रोह कर अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया था, और अपनी शक्ति का विस्तार करते हुए उसने भारत पर भी आक्रमण किया था। २५० ई० पू० में स्थापित बाख्त्री का यह ग्रीक राज्य बहुत शक्तिशाली था। उसके राजा ग्रीक थे, और उनकी सेना में भी ग्रीक सैनिकों की प्रधानता थी। भारतीय लोग इन ग्रीकों को 'यवन' कहा करते थे। २०५ ई० पू० के लगभग बाख्त्री के इन यवनों ने भारत पर चढ़ाई की और काबुल, कान्धार, हीरात व मकरान के प्रदेशों को जीतते हुए उत्तर-पश्चिमी पंजाब पर भी अपना अधिकार कर लिया। इस प्रकार भारत में भी अनेक ग्रीक राज्यों की स्थापना हुई, जिनके राजाओं के सिक्के अच्छी बड़ी संख्या में उत्तर-पश्चिमी भारत में उपलब्ध हुए हैं।

मीनान्दर—भारत के इन यवन राजाओं में मीनान्दर सबसे प्रसिद्ध है। उसकी राजधानी सागल या शाकल (सियालकोट) थी। बौद्ध भिक्षुओं के सम्पर्क में आकर उसने बौद्ध धर्म की दीक्षा ले ली थी। 'मिलिन्द पन्हो' नाम का एक ग्रन्थ पाली भाषा में मिलता है, जिसमें राजा मिलिन्द (मीनान्दर) द्वारा बौद्ध धर्म के सम्बन्ध में पूछे गये प्रश्नों तथा उनके उत्तरों का उल्लेख है। मीनान्दर के समान अन्य भी अनेक यवन राजाओं और उनके राजकर्मचारियों ने बौद्ध व अन्य भारतीय धर्मों को स्वीकार कर लिया था। हेलिओदोर नाम के एक यवन राजदूत को तक्षशिला के यवन राजा अन्तलिखित ने विदिशा भेजा था, जो वहाँ जाकर वासुदेव (विष्णु) का उपासक बन गया था। वासुदेव की पूजा के लिए उसने एक गरुड़ध्वज का निर्माण कराया था, जो अब तक भी विद्यमान है। हेलिओदोर के समान अन्य भी बहुत-से ग्रीक राजा व कर्मचारी भारतीय संस्कृति के सम्पर्क में आकर भारतीय हो गए थे, और इस देश की जनता के अंग बन गए थे।

उत्तर-पश्चिमी भारत में ग्रीक राज्यों की स्थापना के कारण भारत और पाश्चात्य देशों में सम्पर्क की वृद्धि में बहुत सहायता मिली। इस युग में बाख्त्री का यवन राज्य और उत्तर-पश्चिमी भारत के अन्य यवन राज्य स्थलमार्ग द्वारा भारत और पश्चिमी देशों में सम्बन्ध की स्थापना में बहुत अधिक सहायक हुए। यह स्थलमार्ग खैबर के दर्रे से होकर और हिन्दुकुश पर्वतमाला को पार कर बाख्त्री पहुँचता था, और वहाँ से ऑक्सस नदी के साथ-साथ होकर कैस्पियन सागर व उससे भी परे काला सागर तक पहुँच जाता था। इसके अतिरिक्त एक अन्य स्थलमार्ग ईरान होता हुआ पश्चिमी एशिया के समुद्रतट तक जा पहुँचता था।

ईजिप्त और भारत का सम्बन्ध—अशोक ने अपने धर्ममहामात्र ईजिप्त के राजा टॉल्मी फिलेडेल्फस के राज्य में भी भेजे थे। एक ग्रीक लेखक ने लिखा है, कि टॉल्मी (२८५-२४६ ई० पू०) के यहाँ भारतीय स्त्रियाँ, भारत के शिकारी कुत्ते और गौवें भी विद्यमान थीं। उसकी राजधानी में भारत से आये हुए मसालों से लदे हुए

ऊँट भी दिखाई देते थे। इसी ग्रीक लेखक के अनुसार टॉलमी के एक उत्तराधिकारी ने एक ऐसी नौका अपने लिए बनवाई थी, जिसकी बैठक को भारत के बहुमूल्य प्रस्तरों से विभूषित किया गया था।

अशोक की धर्म विजय की सफलता—अशोक ने ग्रीस, सीरिया, ईजिप्त आदि पाश्चात्य देशों में अपने जो धर्ममहामात्र नियत किये थे, उन्हें धर्म-विजय की स्थापना के अपने उद्देश्य में कहाँ तक सफलता हुई थी, इस सम्बन्ध में हमें ज्ञान नहीं है। पर इस विषय में अल्बरूनी का यह कथन ध्यान देने योग्य है कि "पुराने जमाने में खुरासान, ईरान, ईराक, मोसल और सीरिया की सीमा तक के सब प्रदेश बौद्ध धर्म के अनुयायी थे।" अल्बरूनी ने दसवीं सदी के अन्त में भारत की यात्रा की, और वह फारसी, संस्कृत, तुर्की आदि भाषाओं का गम्भीर विद्वान् था। भारत से पश्चिम के प्रदेशों में बौद्ध धर्म के प्रचार की सत्ता के सम्बन्ध में उसने जो बात लिखी है, उसका आधार इन देशों का पुराना इतिवृत्त ही था। इससे सूचित होता है, कि अशोक के धर्ममहामात्र अपने उद्देश्य में अवश्य ही सफल हुए थे।

(६) भारत और रोमन-साम्राज्य

तीसरी सदी ई० पू० में पाश्चात्य संसार में रोम के उत्कर्ष का प्रारम्भ हुआ था, और धीरे-धीरे इस छोटे-से गणराज्य ने उत्तरी अफ्रीका, स्पेन, कार्सिका और सार्डिनिया आदि के सब प्रदेशों को अपने अधीन कर लिया था। पहली सदी ई० पू० में रोम ने पूर्व दिशा की ओर भी अपने साम्राज्य का विस्तार शुरू किया, और ग्रीस, एशिया, माइनर व ईजिप्त को जीत कर मैसोपोटामिया तक के सब प्रदेशों को अपने अधीन कर लिया। ४६ ई० पू० तक यह दशा आ गयी थी, कि स्पेन और फ्रांस से लगाकर मैसोपोटामिया तक, और आल्प्स की पर्वतमाला से उत्तरी अफ्रीका तक सर्वत्र रोम का आधिपत्य था। रोम का विशाल साम्राज्य यूरोप, एशिया और अफ्रीका तीनों महाद्वीपों में फैला हुआ था। ईस्वी सन् के प्रारम्भ होने से पूर्व ही रोम से गण-शासन का अन्त होकर सम्राटों का शासन स्थापित हो गया था। ये रोमन सम्राट् अपने समय के सबसे अधिक शक्तिसम्पन्न व वैभवशाली सम्राटों में से थे।

भारत और रोम का साम्राज्य—ग्रीस, पश्चिमी एशिया और ईजिप्त से भारत का घनिष्ठ सम्बन्ध था, यह ऊपर लिखा जा चुका है। जब रोम ने इन प्रदेशों को जीत लिया, तो भी भारत का इन देशों के साथ सम्बन्ध जारी रहा। अब भारत के व्यापारी ग्रीस और ईजिप्त से भी आगे बढ़कर पश्चिम में इटली और रोमन साम्राज्य के अन्य पश्चिमी प्रदेशों के साथ व्यापार करने के लिए प्रवृत्त हुए। रोमन साम्राज्य में सर्वत्र शान्ति और व्यवस्था स्थापित थी। इस कारण भारत के व्यापारियों के लिए भूमध्यसागर के पश्चिमी भागों में भी दूर-दूर तक व्यापार के लिए आना-जाना सुगम हो गया था।

रोम के शासक भारत के व्यापार को बहुत अधिक महत्त्व देते थे। उनकी नीति यह थी कि पूर्वी देशों का यह व्यापार समुद्र के मार्ग से हो, और ईरान से होकर आने

वाला स्थल-मार्ग अधिक प्रयोग में न आए। इसी कारण २५ ई० पू० में सम्राट् आगस्तस ने एक मण्डल इस प्रयोजन से नियुक्त किया था कि वह समुद्र के मार्ग को विकसित व उन्नत करने का प्रयत्न करे। इस मंडल के प्रयत्न से शीघ्र ही अदन और ईजिप्त पर ग्रीस के व्यापारियों ने कब्जा कर लिया, और वहाँ अपनी बस्तियाँ बसा लीं। अनुकूल सामुद्रिक वायु का ज्ञान हो जाने के कारण इस समय के जहाज तीन मास से भी कम समय में भारत से एलेक्जण्ड्रिया (ईजिप्त का बन्दरगाह) तक आने-जाने लग गए थे। इस समय एलेक्जण्ड्रिया से भारत की ओर जाने वाले जहाजों की संख्या प्रतिदिन एक की औसत से थी। इससे सहज में ही यह अनुमान किया जा सकता है, कि भारत का इन पाश्चात्य देशों के साथ व्यापार-सम्बन्ध कितना अधिक था।

भारत से जो माल पाश्चात्य देशों में बिकने के लिए जाता था, वहाँ उसकी माँग बहुत अधिक थी। हाथी दाँत का सामान, मसाले, मोती, सुगन्धियाँ और सूती वस्त्र आदि सामान भारत से बहुत बड़ी मात्रा में रोम तथा साम्राज्य की अन्य नागरियों में बिकने के लिए जाता था, और उसके बदले में बहुत-सा सोना भारत को प्राप्त होता था। ७७ ई० पू० में रोम के एक लेखक ने शिकायत की थी, कि भारत रोम से हर साल साढ़े पाँच करोड़ का सोना खींच लेता है, और यह कीमत रोम को वहाँ के निवासियों के भोग-विलास के कारण देनी पड़ती है। १२५ ईस्वी में रोमन साम्राज्य के अन्यतम प्रान्त सीरिया के सम्बन्ध में एक चीनी लेखक ने लिखा था, कि भारत के साथ इसका जो व्यापार है, उसमें आयात माल के मूल्य की मात्रा निर्यात माल के मूल्य से दस गुना है। जो दशा सीरिया की थी, वही रोमन साम्राज्य के अन्य प्रान्तों की भी थी। इसी कारण आयात माल की कीमत को चुकाने के लिए बहुत-सा सोना हर साल भारत को दिया जाता था। यही कारण है, जो रोम की बहुत-सी सुवर्ण मुद्राएँ इस समय भी भारत में अनेक स्थानों से प्राप्त होती हैं। दक्षिणी भारत के कोयम्बटूर और मदुरा जिलों से रोम के इतने सिक्के मिले हैं, जिन्हें पाँच कुली उठा सकने में समर्थ होंगे। पंजाब के हजारा जिले से भी रोम के बहुत-से सिक्के मिले हैं, जिनके कारण भारत और रोमन साम्राज्य के पारस्परिक व्यापार के सम्बन्ध में कोई भी सन्देह नहीं रह जाता। भारत से रोम जाने वाले माल में सूती वस्त्र बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रखते थे। एक रोमन लेखक ने शिकायत की थी, कि रोम की स्त्रियाँ भारत से आने वाले 'बुनी हुई हवा के जाले' (मलमल) को पहनकर अपने सौन्दर्य को प्रदर्शित करती हैं। इसमें सन्देह नहीं कि प्राचीन समय में भारत अपने महीन वस्त्रों के लिए प्रसिद्ध था।

रोम और कुशाण साम्राज्य—रोमन साम्राज्य के विकास के काल में उत्तरी भारत में कुशाण साम्राज्य की सत्ता थी। कुशाणों का शासन हिन्दूकुश पर्वतमाला के परे बाख्त्री आदि प्रदेशों में भी विस्तृत था। इस कारण उस समय रोमन साम्राज्य तक जाने वाले स्थल मार्गों का भी बहुत महत्त्व था। जब रोम की राजगद्दी पर सम्राट् त्राजन (६६ ईस्वी) विराजमान हुआ, तो भारत के कुशाण सम्राट् (सम्भवतः, कनिष्क) ने अपना एक दूतमण्डल इस अवसर पर रोम भेजा था। वहाँ भारत के इस दूतमण्डल का शानदार स्वागत किया गया, और उन्हें दरबार में उच्च आसन दिए गए।

रोम और अन्य भारतीय राजा—केवल कुशाण सम्राटों का ही रोम के सम्राटों के साथ सम्बन्ध नहीं था। अन्य भारतीय राजा भी रोम के सम्राटों के दरबार में अपने दूतमण्डल भेजा करते थे। स्त्राबो के अनुसार २५ ईस्वी पूर्व में पाण्डिअॉन (संभवतः दक्षिणी भारत के पाण्ड्य देश के अन्यतम राजा) ने एक दूतमण्डल रोम भेजा था, जिसने भृगुकच्छ के बन्दरगाह से प्रस्थान किया था। चार साल की यात्रा के बाद इस दूतमण्डल ने रोम के सम्राट् आगस्तस से भेंट की थी, और पाण्ड्य राजा द्वारा भेजे हुए उपहार उसे समर्पित किये थे। इन उपहारों में शेर, अजगर आदि के अतिरिक्त एक ऐसा बालक भी था, जिसके हाथ नहीं थे, पर जो पैर से तीर कमान चला सकता था। इस दूतमण्डल का नेता शरमनोचेगस (श्रमणाचार्य) नाम का एक व्यक्ति था, जो सम्भवतः जैन धर्म का अनुयायी था। इसी प्रकार के अनेक अन्य भी दूतमण्डल भारतीय राजाओं द्वारा रोम भेजे गए थे। भारत के ये दूतमण्डल चौथी सदी तक रोम जाते रहे।

प्रसिद्ध बन्दरगाह—इस युग में भारत और पाश्चात्य देशों के बीच व्यापार की जिस ढंग से वृद्धि हो गयी थी, उसके कारण भारत के समुद्रतट पर अनेक ऐसे समृद्ध बन्दरगाहों का विकास हो गया था, जिनमें विदेशी व्यापारी भी अच्छी बड़ी संख्या में निवास करते थे। इनमें सबसे प्रसिद्ध "मुजिरिस" था, जो मलाबार के समुद्रतट पर स्थित था। तमिल भाषा के एक कवि ने इस बन्दरगाह के सम्बन्ध में लिखा है कि यहाँ यवनों के जहाज सोने से लदे हुए आते हैं, और उनके बदले में काली मिर्च भर कर ले जाते हैं। मुजिरिस में रोमन लोगों की एक बस्ती भी विद्यमान थी, और वहाँ सम्राट् ऑगस्तस के सम्मान में एक रोमन, मन्दिर का निर्माण भी किया गया था। जिस प्रकार सोलहवीं सदी में पोर्तुगाल, डच, स्पेनिश आदि यूरोपियन व्यापारियों ने भारत के विविध बन्दरगाहों में व्यापार के निमित्त अपनी बस्तियाँ कायम की थीं, वैसे ही ईस्वी सन् की प्रारम्भिक सदियों में रोमन साम्राज्य के विविध प्रदेशों (सीरिया, ईजिप्त आदि) के व्यापारियों ने मुजिरिस आदि बन्दरगाहों में अपनी बस्तियाँ स्थापित कर ली थीं। भारत के अनेक राजा भी इस समय इन विदेशियों को अपनी नौकरी में रखने लगे थे, और अनेक पाश्चात्य लड़कियाँ भी उनके अन्तःपुरों की शोभा बढ़ाने लग गयी थीं।

मुजिरिस के अतिरिक्त मदुरा, भृगुकच्छ आदि अन्य भी अनेक बन्दरगाह थे, जो विदेशी व्यापार के अच्छे बड़े केन्द्र थे, और जहाँ यवन लोग बड़ी संख्या में निवास करते थे।

जिस प्रकार भारत के बन्दरगाहों में विदेशी लोगों की बस्तियाँ थीं, वैसे ही ईरान की खाड़ी, लाल सागर और भूमध्यसागर के बन्दरगाहों में भारतीय व्यापारियों ने भी अपनी बस्तियाँ बसा ली थीं। पाश्चात्य जगत् के बन्दरगाहों में इस समय सबसे बड़ा एलेग्जेण्ड्रिया था, जो जनसंख्या की दृष्टि से रोमन साम्राज्य में रोम के बाद सबसे बड़ा नगर था। यह न केवल विदेशी व्यापार का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था, अपितु ज्ञान-विज्ञान के लिए भी अद्वितीय था। इसका कलाभवन (म्यूजियम) संसार भर में प्रसिद्ध था, और इसके पुस्तकालय से लाभ उठाने के लिए दूर-दूर के विद्वान् आया करते थे। भारतीय विद्वान् भी यहाँ अच्छी बड़ी संख्या में विद्यमान थे, और उनकी उपस्थिति के

कारण पाश्चात्य लोगों को भारत के दर्शन व विज्ञान से परिचित होने का अवसर प्राप्त होता था। त्राजन के शासन काल में दिग्रो क्रिसोस्तम नाम के विद्वान् ने एलेग्जेण्ड्रिया में व्याख्यान देते हुए कहा था—"इस सभा में न केवल ग्रीक, इटालियन, सीरियन, लीबियन और साइलीसियन ही उपस्थित हैं, अपितु वे भी लोग हैं, जो अधिक दूर के देशों के निवासी हैं, यथा ईथियोपियन, अरब, बैक्ट्रियन, सीरियन और भारतीय।" एलेग्जेण्ड्रिया में एक प्राचीन समाधि विद्यमान है, जिस पर त्रिशूल और चक्र अंकित हैं। वह किसी भारतीय विद्वान् की समाधि है, जिसने अपनी जीवन लीला सुदूर ईजिप्त में समाप्त की थी। ४७० ईस्वी में कुछ ब्राह्मण एलेग्जेण्ड्रिया की यात्रा के लिए गए थे, और वे वहाँ के शासक के अतिथि रूप में ठहरे थे। एलेग्जेण्ड्रिया के समान पाश्चात्य संसार में अन्य भी अनेक ऐसे बन्दरगाह थे, जहाँ न केवल भारतीय व्यापारी अपितु विद्वान् भी बड़ी संख्या में निवास करते थे।

(७) पाश्चात्य साहित्य में भारत का विवरण

भारत का पाश्चात्य देशों के साथ जो घनिष्ठ सम्बन्ध था, उसी का यह परिणाम है कि अनेक ग्रीक और रोमन लेखकों ने भारत के विषय में अनेक पुस्तकें लिखी हैं। मैगस्थनीज का भारतवर्णन बहुत प्रसिद्ध है। यह ग्रीक विद्वान् सैल्युकस के राजदूत के रूप में चन्द्रगुप्त मौर्य के राजदरबार में रहा था, और उसे भारत के विषय में जानकारी प्राप्त करने का अनुपम अवसर प्राप्त हुआ था। पहली सदी ई० पू० में स्त्राबो ने भारत के विषय में एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना की थी। पर स्त्राबो के ग्रन्थ का मुख्य आधार एरानोस्थनीज (२४०-१९६ ई० पू०) की भारत विषयक पुस्तक थी। यह विद्वान् एलेग्जेण्ड्रिया के पुस्तकालय का अध्यक्ष था, और वहाँ रहते हुए उसने भारत के विषय में बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त किया था। एरियन नामक लेखक ने १५० ई० पू० के लगभग भारत के विषय में अपनी पुस्तक की रचना की थी, और ७७ ई० पू० में प्लिनी ने ईजिप्त से भारत तक की समुद्र यात्रा का वृत्तान्त लिखा था। इस वृत्तान्त में भारत के पशुओं, खनिज पदार्थों, वनस्पति और औषधियों का भी विशद रूप से वर्णन किया गया है।

पहली सदी ईस्वी में ही एक ग्रीक मल्लाह ने समुद्र मार्ग द्वारा भारत की यात्रा की थी। उसका नाम ज्ञात नहीं है, पर उसकी लिखी हुई पुस्तक अब तक भी विद्यमान है, जिसका अंग्रेजी अनुवाद 'परिप्लस ऑफ दी एरीथ्रियन सी' नाम से प्रकाशित है। यह पुस्तक बहुत महत्त्वपूर्ण है, और इसे पढ़ने से ज्ञात होता है कि उस समय में सिन्ध और गुजरात के अनेक बन्दरगाह पश्चिमी व्यापार के बड़े केन्द्र थे, और उनमें बहुत-से विदेशी व्यापारी सदा विद्यमान रहते थे। १५० ईस्वी के लगभग एलेग्जेण्ड्रिया के भूगोलवेत्ता टॉलमी ने भूगोल के सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक लिखी, जिसमें कि भारत की भौगोलिक स्थिति पर भी प्रकाश डालने का यत्न किया गया था।

दूसरी सदी ईस्वी में लिखा हुआ एक ग्रीक नाटक उपलब्ध हुआ है, जिसमें कि एक ग्रीक महिला का वृत्तान्त है, जिसका जहाज भारत में कर्नाटक के समुद्रतट पर

टूट गया था। इस नाटक में कर्नाटक के निवासियों से जो भाषा कहायी गयी है, उसमें कन्नड़ भाषा के शब्दों का भी प्रयोग किया गया है।

तीसरी सदी ईस्वी के पाश्चात्य साहित्य में अनेक ग्रन्थ ऐसे हैं, जिनमें भारत के दार्शनिक विचारों और धार्मिक सिद्धान्तों का वर्णन है। इन ग्रन्थों के लेखकों में एलेग्जेण्ड्रिया के निवासी क्लीमैण्ट (मृत्युकाल २२० ईस्वी), वैबिलोनिया के निवासी बार्देसनस, सेण्ट जरोम, फिलोस्ट्रेटस और कैसियस के नाम उल्लेखनीय हैं। इनमें से क्लीमैण्ट और बार्देसनस ने बुद्ध का जिक्र किया है, और उनके जन्म की कथा का विशद रूप से उल्लेख किया है। भारत के दार्शनिक विचारों का इन सभी लेखकों ने अपने ग्रन्थों में जिक्र किया है। क्लीमैण्ट ने लिखा है कि "बहुत से भारतीय बुद्ध के अनुयायी हैं, और उनका वे इतना आदर करते हैं कि उसे भगवान् मानते हैं।" क्लीमैण्ट ने यह भी लिखा है कि बौद्ध लोग पुनर्जन्म में विश्वास करते हैं, और अपने पूज्यजनों की अस्थियों पर स्तूप बनाकर उनकी पूजा करते हैं। क्लीमैण्ट ने अनेक बार एलेग्जेण्ड्रिया में बौद्ध लोगों की उपस्थिति का उल्लेख करते हुए यह स्वीकार किया है, कि ग्रीक लोगों ने अपने दार्शनिक विचार इन विदेशियों से ही ग्रहण किये हैं। केवल ग्रीक लोगों के दार्शनिक विचारों पर ही नहीं, अपितु ईसाइयों की कथाओं पर भी भारतीय कथाओं की छाप है। इसका कारण यही है कि एलेग्जेण्ड्रिया आदि में बहुत से भारतीय विद्वान् अच्छी बड़ी संख्या में निवास करते थे, और पाश्चात्य लोगों को उनके सम्पर्क में आने का अवसर मिलता रहता था। यही कारण है, जो न केवल पाश्चात्य साहित्य में भारत-विषयक अनेक ग्रन्थों की सत्ता है, अपितु उनके अपने साहित्य पर भी भारत की छाप है।

पाश्चात्य कथाओं पर भारतीय प्रभाव—पाश्चात्य देशों के साहित्य को भारत ने किस अंश तक प्रभावित किया है, इसका अनुमान उन कथाओं से किया जा सकता है, जिन पर भारत का प्रभाव प्रत्यक्ष है। भारत का कथा-साहित्य बहुत पुराना है, और उसमें जातकों, पंचतन्त्र, हितोपदेश और शुकसप्तशती का स्थान बहुत महत्त्व का है। भारत के व्यापारियों के साथ-साथ इस देश की कथाओं ने भी छठी सदी ईस्वी पूर्व से भी पहले पश्चिमी देशों में प्रवेश करना प्रारम्भ कर दिया था। ईसप नाम के लेखक की कथाएँ भारतीय कथाओं पर ही आधारित हैं। प्लेटो के ग्रन्थों में भी अनेक भारतीय कथाओं की सत्ता है, जिनमें कि शेर की खाल ओढ़े हुए गधे की कथा मुख्य है। पाश्चात्य और भारतीय कथाओं की समता तो असंदिग्ध है, पर इन कथाओं को पाश्चात्य लोगों ने भारत से ही लिया था, इसका प्रमाण यह है कि इन कथाओं के पात्र शेर, गीदड़, मोर, हाथी आदि जो पशु हैं, वे भारतीय हैं, पाश्चात्य नहीं।

(८) पाश्चात्य देशों के साथ सम्पर्क के परिणाम

भारत और पाश्चात्य देशों का यह सम्पर्क इस्लाम के प्रादुर्भाव तक कायम रहा। सातवीं सदी में जब अरब साम्राज्य का विकास हुआ, तो ईजिप्त पश्चिमी एशिया, मैसोपोटामिया आदि के सब प्रदेश उसकी अधीनता में आ गये। इसका परिणाम यह हुआ कि एलेग्जेण्ड्रिया का स्थान बगदाद ने ले लिया, और अरब साम्राज्य में विद्या के

अनेक नये केन्द्र विकसित हो गये। भारतीय विद्वान् पहले जैसे एलेग्जेण्ड्रिया आदि पाश्चात्य नगरों में रहते थे, वैसे अब बगदाद आदि में रहने लगे, और पाश्चात्य लोगों से उनका सीधा सम्बन्ध नहीं रह गया। इस समय से भारत का ज्ञान-विज्ञान अरबों द्वारा ही यूरोप में पहुँचने लगा।

यही बात व्यापार के क्षेत्र में भी हुई। पाश्चात्य व्यापार अब अरबों द्वारा होने लगा, और वे ही भारत के माल को पाश्चात्य देशों में विक्रय के लिए ले जाने लगे। सातवीं सदी से यूरोप के इतिहास में उस काल का प्रारम्भ हुआ जिसे 'अन्धकार, का युग' कहते हैं। इसी कारण इस समय से भारत और पाश्चात्य देशों का सम्बन्ध प्रायः समाप्त हो गया।

भारत पर पाश्चात्य प्रभाव—चिर काल तक पाश्चात्य देशों के सम्पर्क में रहने के कारण यह स्वाभाविक था, कि भारत पर इन देशों का प्रभाव पड़े। ईरान के हखामनी सम्राटों ने सिन्ध नदी तक के प्रदेशों को जीतकर अपने साम्राज्य में मिला लिया था। इसके कारण ईरान की प्राचीन अरमइक लिपि का भारत के उत्तर-पश्चिमी प्रदेशों में प्रवेश हुआ। यह लिपि दाईं ओर से बाईं ओर को लिखी जाती थी। तक्षशिला के अवशेषों में प्राचीन काल के दो लेख मिले हैं, जो इसी लिपि में हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि भारत के जो प्रदेश हखामनी साम्राज्य के अन्तर्गत थे उनमें इस अरमइक लिपि का प्रचार हो गया था। बाद में इन्हीं प्रदेशों में खरोष्ठी लिपि का विकास हुआ, जिसकी वर्णमाला तो ब्राह्मी लिपि के ही सदृश थी, पर जो अरमइक लिपि के समान दाईं ओर से बाईं ओर लिखी जाती थी। इस लिपि का प्रयोग भारत की अपनी भाषा को लिखने के लिये भी किया जाने लगा था। अशोक के चतुर्दश शिलालेखों की जो प्रतियाँ उत्तर-पश्चिमी भारत में उपलब्ध हुई हैं, वे इसी खरोष्ठी लिपि में हैं। संस्कृत के प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि ने 'यवनानी' लिपि का भी उल्लेख किया है, जो सम्भवतः अरमइक ही थी। इससे सूचित होता है कि पाणिनि इस लिपि से परिचित थे, और उनके समय में इसका भारत के उत्तरी-पश्चिमी प्रदेशों में प्रचार था।

ज्ञान और विज्ञान के क्षेत्र में भी पाश्चात्य लोगों ने भारत को आंशिक रूप से प्रभावित किया था। विशेषतया, ज्योतिष में भारतीयों ने अनेक बातें ग्रीक और रोमन लोगों से सीखी थीं। गार्ग्य संहिता में लिखा है कि यवन लोग म्लेच्छ हैं, पर ज्योतिष में उन्होंने बहुत उन्नति की है, इस कारण उनका ऋषिवत् आदर करना चाहिए। ज्योतिष की पाँच भारतीय संहिताओं में दो के नाम रोमक सिद्धान्त और पोलिश सिद्धान्त हैं। रोमक सिद्धान्त स्पष्ट रूप से रोम के साथ सम्बन्ध रखता है, और पोलिश सिद्धान्त का एलेग्जण्ड्रिया के प्रसिद्ध ज्योतिषी पॉल (३७८ ईस्वी) के साथ सम्बन्ध है। अनेक विद्वानों के मत में भारत में नाटकों का सूत्रपात भी पाश्चात्य लोगों के सम्पर्क द्वारा हुआ। इसके पक्ष में यह प्रमाण दिया जाता है, कि नाटक खेलते हुए भारतीय लोग परदे के गिरने को 'यवनिका पतन' कहा करते थे। भारत के प्राचीन सिक्कों पर भी ग्रीक लोगों के प्रभाव को स्वीकार किया जाता है। इसमें सन्देह नहीं, कि उत्तर-पश्चिमी भारत के यवन राजाओं ने ही इस देश में पहले-पहल सुडौल सिक्कों का निर्माण

प्रारम्भ किया था। ग्रीक लोगों के सम्पर्क के कारण भारत की मूर्ति निर्माण कला में 'गान्धारी शैली' का प्रारम्भ हुआ, यह भी अनेक विद्वानों का मत है।

पाश्चात्य देशों के सम्पर्क द्वारा भारत के धर्म पर कोई प्रभाव हुआ या नहीं, यह बात विवादग्रस्त है। कुशाण सम्राट् कनिष्क के अनेक सिक्कों पर भारतीय देवी-देवताओं के अतिरिक्त ग्रीक देवी-देवताओं की प्रतिमाएँ भी अंकित हैं। इससे यह तो स्पष्ट ही है, कि कनिष्क के समय में भारतीयों को ग्रीस के प्राचीन धर्म से भी परिचित होने का अवसर मिला था। पर इससे भारत के धर्म पर कोई महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा, यह स्वीकार कर सकना सम्भव नहीं है।

पर पश्चिम में प्रादुर्भूत हुए ईसाई धर्म का भारत में प्रवेश बहुत प्राचीन काल में हो गया था, यह असंदिग्ध है। ईसाइयों की प्राचीन कथाओं के अनुसार टामस नाम का ईसाई प्रचारक ईस्वी सन् की प्रथम सदी में ही भारत में अपने धर्म का प्रचार करने के लिए आया था। इस कथा में सचाई हो या नहीं, पर यह निश्चित है कि दूसरी सदी के अन्त से पूर्व ही अनेक ईसाई प्रचारक भारत में आने लग गये थे, और तीसरी चौथी सदियों में दक्षिणी भारत में इस धर्म का प्रचार भी शुरू हो गया था।

पाश्चात्य देशों पर भारत का प्रभाव—भारत के सम्पर्क ने पाश्चात्य देशों को अनेक प्रकार से प्रभावित किया। यह प्रभाव इन देशों के विचारों और धर्म पर स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। इस अध्याय में ऊपर इस सम्बन्ध में प्रकाश भी डाला जा चुका है। हम यहाँ पुनः संक्षेप में इसे इस प्रकार स्पष्ट कर सकते हैं—

(१) ग्रीक लोगों के दार्शनिक विचारों पर भारत का प्रभाव असंदिग्ध है। जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, एलेग्जेण्ड्रिया के क्लीमैण्ट के अनुसार ग्रीक लोगों ने अपने दार्शनिक विचार भारतीयों से ही ग्रहण किये थे। पाइथोगोरेस के सम्बन्ध में यह माना जाता है कि उसने भारत की यात्रा की थी, और इस देश के दार्शनिकों के सम्पर्क में आकर ही उसने अपने दार्शनिक विचारों का विकास किया था। भारत के सांख्य दर्शन का प्रभाव पाइथोगोरेस के मन्तव्यों पर स्पष्ट है। उसका काल छठी सदी ईस्वी पूर्व में था। उस समय तक ग्रीक लोग भारतीयों के निकट सम्पर्क में आने लग गये थे, और यह स्वाभाविक था कि भारत के समुन्नत दार्शनिक चिन्तन से वे प्रभावित होते। ग्रीस का प्रसिद्ध दार्शनिक सुकरात भारतीय विद्वानों के सम्पर्क में आया था, यह इसी अध्याय में ऊपर लिखा जा चुका है। उसके शिष्य प्लेटो के विचारों पर भी भारत का प्रभाव है, यह भी हम प्रदर्शित कर चुके हैं। चौथी सदी ई० पू० में आरिस्टोक्लेनस नाम का एक प्रसिद्ध ग्रीक विद्वान् हुआ, जो अरिस्टोटल का शिष्य था। उसके इतिवृत्त से सूचित होता है कि भारत के विद्वान् ग्रीस आदि पाश्चात्य देशों में जाया करते थे, और उन देशों की भाषाएँ सीखकर वहाँ प्रवचन किया करते थे। इसी प्रकार ग्रीक व अन्य विदेशी विद्वान् भी भारत में आकर इस देश के दर्शन व धर्म का अनुशीलन करते थे। स्कीथियेनस नाम का एक व्यापारी भारत में व्यापार के लिए आया करता था। यहाँ उसे भारतीय दर्शन के प्रति रुचि उत्पन्न हुई, और दर्शन शास्त्र का अध्ययन कर वह एलेग्जेण्ड्रिया में बस गया। वहाँ उसने भारतीय दर्शन का अध्यापन शुरू किया। इसी प्रकार अन्य

भी कितने ही ग्रीक, अरब, सीरियन आदि विद्वान् भारत आये, और उन्होंने इस देश के ज्ञान को प्राप्त किया। यही कारण है, जो पाश्चात्य दार्शनिक विचार भारत के दर्शन-शास्त्रों से प्रभावित हुए, और उनके व भारत के विचारों में इतनी अधिक समता पायी जाती है।

(२) भारत के धार्मिक विचारों ने भी पाश्चात्य देशों के धर्मों को प्रभावित किया। अशोक के समय में विदेशों में धर्म-विजय और बौद्ध धर्म के प्रचार का उपक्रम प्रारम्भ हुआ था, जिसके कारण अनेक पाश्चात्य देश बौद्ध धर्म के अनुयायी बन गये थे, और अलबरूनी दसवीं सदी के अन्त में यह लिख सका था कि पुराने जमाने में सीरिया तक के सब पाश्चात्य देशों में बौद्ध धर्म का प्रचार था। अलबरूनी के कथन की सत्यता पुरातत्व सम्बन्धी अवशेषों द्वारा भी प्रमाणित होती है। सीसतान में एक पुराने बौद्ध विहार के अवशेष मिले हैं, जिन्हें देखकर उस प्रदेश में बौद्ध धर्म की सत्ता में कोई सन्देह नहीं रह जाता। चीनी भाषा के पुराने ग्रन्थों में पार्थिया के एक राजकुमार की कथा दी गयी है, जिसने कि राजगद्दी का परित्याग कर बौद्ध भिक्षुओं के काषाय वस्त्रों को धारण कर लिया था।

बौद्ध धर्म के समान भारत के पौराणिक धर्म की भी इन पाश्चात्य देशों में सत्ता थी। सीरिया के एक लेखक जनॉव के अनुसार दूसरी सदी ई० पू० में युफ्रेटिस नदी के उपरले क्षेत्र में टैरल प्रदेश में भारतीयों की एक बस्ती थी, जिसमें दो विशाल मन्दिर विद्यमान थे। इन मन्दिरों में प्रतिष्ठापित मूर्तियाँ ऊँचाई में ७ और ९ मीटर थीं। ३०४ ईस्वी के लगभग ईसाई सन्त ग्रेगरी ने इन मन्दिरों को नष्ट करने का प्रयत्न किया। भारतीयों ने अपने मन्दिरों की रक्षा के लिये संघर्ष किया, पर वे सफल नहीं हो सके, और ग्रेगिरी ने मन्दिरों की मूर्तियों को खंड-खंड कर दिया।

पाश्चात्य देशों में बौद्ध और पौराणिक धर्मों की सत्ता का ही यह परिणाम हुआ, कि इस क्षेत्र के धर्मों पर भारत के धार्मिक मन्तव्यों और विधि-विधानों का प्रभाव पड़ा। ईसाई धर्म के मन्तव्यों और कर्मकाण्ड में अनेक ऐसी बातें हैं, जो भारतीय धार्मिक मन्तव्यों व कर्मकाण्ड से मिलती जुलती हैं। पुराने ईसाई चर्चों का अन्दरूनी भाग बौद्ध चैत्य के सदृश होता था। उनमें भी पूज्य-सन्तों की अस्थियों को स्थापित करने व उनकी पूजा करने की प्रथा प्रचलित थी। ईसाई सन्त व साधु भारतीय मुनियों के समान ही तपस्या व साधना में तत्पर रहा करते थे। उनकी अनेक धार्मिक गाथाएँ भी भारतीय कथाओं के समान हैं। ये समानताएँ आकस्मिक नहीं हो सकतीं। जिस प्रदेश में ईसाई धर्म का प्रादुर्भाव हुआ था, वहाँ पहले बौद्ध व अन्य भरतीय धर्मों की सत्ता थी। इसी कारण ईसाई धर्म में वे अनेक बातें प्रविष्ट हुईं, जो भारत में प्रचलित धार्मिक मान्यताओं के सदृश हैं।

तीसरी सदी ईस्वी में पाश्चात्य संसार में एक नये धार्मिक सम्प्रदाय का प्रारम्भ हुआ था, जिसका प्रवर्त्तक मनी था। इस सम्प्रदाय का एक धर्मग्रन्थ बौद्ध सूत्रों की शैली में लिखा गया है, और उसमें मनी को 'तथागत' कहा गया है। इस ग्रन्थ में बुद्ध और बोधिसत्वों का भी उल्लेख है। इसी प्रकार इस युग के अन्य अनेक धार्मिक सम्प्र-

दायों पर भी बौद्ध धर्म व अन्य भारतीय धर्मों का प्रभाव है।

(३) पाश्चात्य देशों की कथाओं पर भारत के पंचतन्त्र, जातक, हितोपदेश, शुकसप्तशती आदि का जो प्रभाव है, उसका उल्लेख इसी अध्याय में ऊपर किया जा चुका है। छठी सदी में पञ्चतन्त्र का संस्कृत से पहलवी भाषा में अनुवाद किया गया था, और फिर पहलवी से अरबी तथा सीरियन भाषाओं में। पञ्चतन्त्र का अरबी अनुवाद पाश्चात्य देशों में बहुत लोकप्रिय हुआ, और बाद में उसे फारसी, हिब्रू, लेटिन, स्पेनिश, इटालियन आदि भाषाओं में अनुदित किया गया। पञ्चतन्त्र की कथाओं के आधार पर पाश्चात्य साहित्य में भी अनेक कथाओं की रचना की गई, जो पश्चिमी संसार पर भारत के प्रभाव का स्पष्ट प्रमाण है।

(६) रोमन साम्राज्य के ह्रास के पश्चात् भारत और पाश्चात्य जगत् का सम्बन्ध

भारत का रोमन साम्राज्य के साथ जो व्यापारिक व राजनीतिक सम्बन्ध था, उस पर इसी अध्याय में ऊपर प्रकाश डाला जा चुका है। तीसरी सदी के पश्चात् इस सम्बन्ध में शिथिलता आनी प्रारम्भ हो गई थी। इसका कारण यह था, कि इस काल में उत्तर की ओर से रोमन साम्राज्य पर हमले शुरू हो गए थे, और साम्राज्य की एकता भी खण्डित होने लग गई थी। पर इसके बाद भी रोमन साम्राज्य और भारत में व्यापार जारी रहा। दक्षिण भारत के मदुरा, त्रावन्कोर आदि अनेक स्थानों पर चौथी और पाँचवीं सदियों के अनेक रोमन सम्राटों के बहुत-से सिक्के उपलब्ध हुए हैं, जिससे यह प्रमाणित हो जाता है कि छठी सदी के प्रारम्भ तक भारत और रोमन साम्राज्य में व्यापारिक सम्बन्ध विद्यमान था। ४०८ ईस्वी में जब एटिला ने रोम को आक्रान्त किया, तो अपनी नगरी को ध्वंस से बचाने के लिए रोम द्वारा जो सम्पत्ति उसे प्रदान की गई, उसमें ४० मन के लगभग काली मिरचें भी थीं, जो भारत से ही पश्चिमी देशों में बिक्री के लिये जाया करती थीं। इतनी बड़ी मात्रा में एक भारतीय पण्य की उपलब्धि इस बात का स्पष्ट प्रमाण है, कि पाँचवीं सदी में भी भारत और रोम का व्यापार अच्छी उन्नत दशा में था।

केवल रोमन साम्राज्य के साथ ही नहीं, अपितु पश्चिमी एशिया के साथ भी भारत का व्यापारिक सम्बन्ध विद्यमान था। एमिएनस, मार्केलिनस के अनुसार चौथी सदी के उत्तरार्ध में ईराक की दजला नदी के तट पर स्थित बतने नामक नगर में प्रतिवर्ष एक मेला लगा करता था, जिसमें भारतीय माल भी बिकने के लिये लाया जाता था। चीनी साहित्य से ज्ञात होता है, कि अरब और ईरान के साथ चीन का व्यापार बहुत फलती-फूलती दशा में था। यह व्यापार समुद्र के मार्ग से होता था, और इसके लिये चीन तथा पश्चिमी एशिया के विविध देशों के व्यापारियों को भारत के समुद्र तट से होकर गुजरना होता था। अरब और ईरान के जहाज भारत के बन्दरगाहों से होकर ही चीन जाया करते थे। यि-त्सिग ने एक ईरानी जहाज पर ही चीन से भारत लिए प्रस्थान किया था। ६२० ईस्वी में जब वज्रबोध नामक भिक्षु

समुद्र मार्ग द्वारा भारत से चीन गया था, तो उसने मार्ग में लंका के एक बन्दरगाह पर ३५ ईरानी जहाज देखे थे।

इस्लाम के प्रादुर्भाव से पूर्व के काल में अरब और ईरान के भारत के साथ जो सम्बन्ध थे, उनके विषय में भी अनेक महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ उपलब्ध हैं। उस समय अरब में अदन और दाबा दो मुख्य बन्दरगाह थे। दाबा की स्थिति अरब के दक्षिण-पूर्वी कोने में ओमन में थी। वहाँ प्रतिवर्ष एक मेला लगा करता था, जिसमें सिन्ध, हिन्द, चीन और ग्रीस के व्यापारी अपने पण्य को लेकर एकत्र हुआ करते थे। अदन भारत के साथ व्यापार का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था, जहाँ भारत के मसाले बहुत बड़ी मात्रा में बिक्री के लिए ले जाये जाते थे। मसाले आदि भारतीय पण्य की बिक्री अदन से केवल अरब में ही नहीं होती थी, अपितु यूरोप के व्यापारी भी उन्हें वहाँ से खरीदकर अपने देशों में ले जाया करते थे।

ईरान और भारत में राजनीतिक सम्बन्ध भी विद्यमान थे। नौवीं सदी में लिखी गई ईरान की एक इतिहास-सम्बन्धी पुस्तक से ज्ञात होता है, कि ईरान के राजा खुसरो (५९०-६२८ ईस्वी) के शासन के ३६वें वर्ष में भारत के एक राजा ने उसकी सेवा में एक दूतमण्डल भेजा था, जिस द्वारा अनेकविध उपहारों के साथ एक ऐसा पत्र भी भेजा गया था जिस पर 'गोपनीय' लिखा था। यह पत्र खुसरो के एक राजकुमार के नाम था, और इसमें यह भविष्यवाणी की गई थी, कि दो वर्ष बाद वह कुमार राजसिंहासन पर आरूढ़ हो जायेगा। अनेक ऐतिहासिकों का मत है, कि खुसरो के पास दूतमण्डल भेजनेवाला भारतीय राजा पुलकेशी द्वितीय था, जो खुसरो द्वितीय का समकालीन था। अजन्ता की एक गुहा की भीतरी छत पर एक चित्र विद्यमान है, जिसमें खुसरो द्वितीय तथा उसकी रानी के अतिरिक्त पुलकेशी द्वितीय की सेवा में उपस्थित एक ईरानी दूतमण्डल को भी चित्रित किया गया है। इस चित्र से इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता, कि खुसरो द्वितीय और पुलकेशी द्वितीय में राजनीतिक सम्बन्ध की सत्ता थी, और इन दोनों राजाओं के दूत एक-दूसरे के दरबार में आया-जाया करते थे। संस्कृत के प्रसिद्ध कवि वाणभट्ट द्वारा लिखित हर्षचरित से सूचित होता है, कि राजा हर्ष की अश्वशाला ईरानी घोड़ों से परिपूर्ण थी। यह तभी सम्भव था, जबकि भारत और ईरान में घनिष्ठ सम्बन्ध विद्यमान हो। फारसी के प्रसिद्ध कवि फिरदौसी ने शाहनामा में लिखा है, कि हिन्द के शाह ने खुसरो प्रथम के दरबार में अपना दूतमण्डल भेजा था, जो शतरंज की खेल की बिसात भी अपने साथ ले गया था। शतरंज का ईरान और अरब में प्रवेश भारत से ही हुआ था, यह बात शाहनामा के अतिरिक्त अन्य ईरानी व अरब ग्रन्थों से भी सूचित होता है। शतरंज भारतीय खेल थी, जो सातवीं सदी में ईरान गई और वहाँ से अरब होती हुई पाश्चात्य जगत् के अन्य देशों में भी पहुँच गई। शतरंज सम्भवतः संस्कृत के चतुरंग का अपभ्रंश है।

गणित, ज्योतिष, आयुर्वेद आदि विज्ञानों के क्षेत्र में भारत ने जो उन्नति की थी, पाश्चात्य जगत् पर उसका भी प्रभाव पड़ा। ईरान के सासानी वंश के राजा खुसरो

प्रथम (५३१-५७९ ईस्वी) के शासनकाल में वरजूये नामक एक ईरानी ने इस प्रयोजन से भारत की यात्रा की थी, ताकि इस देश में रह कर वह चिकित्साशास्त्र तथा अन्य विज्ञानों का अध्ययन कर सके। इस्लाम के प्रचार से पहले ईरान के लोग जरदुष्ट्र के धर्म के अनुयायी थे। पर वहाँ भारतीय धर्मों का भी प्रचार था। ह् युएन्त्सांग ने अपने यात्राविवरण में लंश-की-लो नामक एक राज्य का उल्लेख किया है, जो भारत के पश्चिम में स्थित था और ईरान के अधीन था। वहाँ १०० विहार विद्यमान थे, जिनमें ६००० भिक्षु निवास करते थे। साथ ही, वहाँ कई सौ देव-मन्दिर भी थे, जिनमें बहुसंख्यक पाशुपत सम्प्रदाय के थे। ह् युएन्त्सांग के अनुसार खास ईरान में भी दो या तीन बौद्ध विहारों की सत्ता थी, और उनके अतिरिक्त बहुत से देव-मन्दिर भी वहाँ विद्यमान थे। भारत और ईरान के बीच जो घनिष्ठ सम्बन्ध प्राचीन काल में था, उसका संकेत सिंगकियाँग के दन्दानउइलिक नामक स्थान पर उपलब्ध प्राचीन भग्नावशेषों के एक चित्र से भी मिलता है। यह एक ऐसे बोधिसत्त्व का चित्र है जिसके चार भुजाएँ हैं और जिसका परिधान ईरानी है। बोधिसत्त्व की मुखाकृति भारतीय होते हुए भी उसे ईरानी परिधान में चित्रित करना यह सूचित करता है कि ईरान में भी बौद्ध धर्म का प्रचार था और वहाँ भी एक ऐसी कला का विकास प्रारम्भ हो गया था जिसमें ईरानी और भारतीय तत्त्वों का सम्मिश्रण था। दन्दान-उइलिक का यह चित्र आठवीं सदी का माना जाता है।

(१०) पश्चिम के मुस्लिम देशों से भारत का सम्बन्ध

सातवीं सदी में अरब में हजरत मुहम्मद का प्रादुर्भाव हुआ, जो न केवल एक नवीन धर्म (इस्लाम) के प्रवर्तक थे, अपितु जिन्होंने अरब की विविध जातियों को संगठित कर एक शक्तिशाली राष्ट्र का भी निर्माण किया था। मुहम्मद द्वारा अरब में जिस नई शक्ति व स्फूर्ति का संचार हुआ, उसका उपयोग उनके उत्तराधिकारियों ने साम्राज्य विस्तार के लिए किया। खलीफाओं के नेतृत्व में अरब सेनाओं ने चारों ओर हमले शुरू कर दिए, और कुछ ही समय में सीरिया, ईजिप्त, उत्तरी अफ्रीका, स्पेन और ईरान अरबों के हाथ में चले गए। मध्य एशिया, अफगानिस्तान और सिन्ध पर भी उन्होंने आक्रमण किए, और कुछ ही समय में पश्चिमी एशिया के प्रायः सभी देश अरब साम्राज्य के अन्तर्गत हो गए। अरब लोग इन देशों को अपने अधीन करके ही संतुष्ट नहीं हो गए, उन्होंने उनके निवासियों को इस्लाम का अनुयायी भी बनाया और इसके लिए शक्ति का भी उपयोग किया। इस प्रकार जो विशाल अरब साम्राज्य स्थापित हुआ, आठवीं सदी में उसका केन्द्र बगदाद था। बगदाद के खलीफाओं का भारत के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था। इस समय तक अरब लोग सिन्ध की विजय कर चुके थे, जिसके कारण भारत के भी एक कोने में इस्लाम का प्रवेश हो गया था। सिन्ध के पूर्व तथा उत्तर में जो अनेक राजपूत राज्य थे, उन्हें अरबों के आक्रमणों की सदा आशंका बनी रहती थी। यही कारण था, जो मध्य भारत के प्रसिद्ध राजा यशोवर्मा ने अपने अन्यतम मन्त्री भिक्षु बुद्धसेन या संघभद्र को ७३१ ईस्वी में चीन के सम्राट् के

पास दूत बना कर भेजा था। यशोवर्मा अरबों के विरुद्ध चीन से सहायता प्राप्त करना चाहता था। सम्भवतः, इसी प्रयोजन से काश्मीर के राजा ललितादित्य ने भी एक दूतमण्डल ७३६ ईस्वी में चीन भेजा था। इसमें सन्देह नहीं कि भारत के विविध राजा अरबों के आक्रमणों से अपने राज्यों की रक्षा के लिए प्रयत्नशील रहे, और इसीलिए अरब भारत में सिन्ध से आगे नहीं बढ़ सके। पर भारत के एक भाग में उनका जो पदार्पण हो गया था, उसके कारण अरब साम्राज्य और भारत के सम्बन्धों में बहुत वृद्धि हुई, और इससे भारत के ज्ञान-विज्ञान के पाश्चात्य संसार में प्रवेश में बहुत सहायता मिली। क्योंकि सिन्ध अरब साम्राज्य के अन्तर्गत था, अतः वहाँ के अनेक अधीनस्थ स्थानीय राजा बगदाद के दरबार में अपने प्रतिनिधि भेजते रहते थे। साथ ही भारत के विविध राजपूत राज्यों में प्रतिद्वन्द्विता होने के कारण उनमें जो संघर्ष चलता रहता था, उसके परिणामस्वरूप कतिपय स्वतन्त्र भारतीय राजा भी अरबों के साथ मैत्री सम्बन्ध स्थापित करने के लिए उत्सुक रहते थे। अरबों के विरुद्ध संघर्ष में भिन्नमाल के गुर्जर-प्रतीहार राजाओं का विशेष कर्तृत्व था। नागभट सदृश प्रतापी गुर्जर-प्रतीहार राजाओं के कारण ही अरब लोग सिन्ध से आगे नहीं बढ़ सके थे। पर दक्षिणापथ के राष्ट्रकूट राजा अपने पड़ोसी गुर्जर-प्रतीहारों के उत्कर्ष को सहने के लिए उद्यत नहीं थे। इसी कारण अरबों ने गुर्जर-प्रतीहारों के विरुद्ध राष्ट्रकूट राजाओं से सन्धि की थी, और राष्ट्रकूटों तथा अरबों का सम्बन्ध बहुत घनिष्ठ हो गया था। इस प्रकार अनेक स्वतन्त्र भारतीय राजा भी अपने राजदूत बगदाद के अरब खलीफाओं के पास भेजने लगे थे।

भारत और अरब के सम्बन्धों में खलीफा अल-मंसूर (७५४-७५) और हारून अल रशीद (७८६-८०९) के समय में बहुत अधिक वृद्धि हुई। भारत से जो अनेक दूतमण्डल मंसूर के समय में बगदाद गए, उनके साथ कतिपय भारतीय विद्वान् भी वहाँ गए, जिनसे अरबों ने गणित, ज्योतिष तथा अनेक अन्य विज्ञानों की शिक्षा प्राप्त की। अल-बरूनी के अनुसार अल्फज़ारी और याकूब-इब्न-तारिक के ग्रन्थों में नक्षत्र-तारा-ग्रह आदि के चक्र जिस ढंग से वर्णित हैं, उसका ज्ञान अरबों ने एक ऐसे हिन्दू से प्राप्त किया था, जो सिन्ध के एक दूतमण्डल के साथ १५४ हिजरी (७७१ ई०) में खलीफा मंसूर के दरबार में बगदाद गया था। अल-बरूनी ने यह भी लिखा है कि याकूब-इब्न-तारिक को नक्षत्रों के बीच की दूरी के सम्बन्ध में भारतीय ज्योतिषियों के मन्तव्यों का परिचय एक प्रसिद्ध हिन्दू विद्वान् द्वारा प्राप्त हुआ था, जो १६१ हिजरी (७७८ ईस्वी) में एक दूतमण्डल के साथ बगदाद गया था। भारत के दूतमण्डलों के साथ बगदाद जाने वाले हिन्दू विद्वान् गणित, ज्योतिष आदि विज्ञानों के अनेक ग्रन्थ भी अपने साथ ले गए थे, जिनमें ब्रह्मगुप्त द्वारा लिखित ब्रह्म-स्फुट-सिद्धान्त और खण्डखाद्यक उल्लेखनीय हैं। अल्फजारी और याकूब-इब्न-तारिक सदृश अरब विद्वानों ने भारतीय पण्डितों की सहायता से इन ग्रन्थों का अरबी भाषा में अनुवाद किया, जिन द्वारा अरब लोगों को पहले-पहल ज्योतिष-विज्ञान से परिचय प्राप्त करने का अवसर मिला। अरब में ज्योतिष का जो विकास हुआ, उस का सूत्रपात ब्रह्मगुप्त के इन ग्रन्थों से ही हुआ था। सम्भवतः, इसी समय अरबों को उन अंकों का परिज्ञान हुआ, जो वर्तमान समय

में अरबी अंक कहाते हैं, पर वस्तुतः जो भारतीय अंक हैं। भारतीयों ने बहुत प्राचीन काल में ही १, २ आदि ९ तक के अंकों तथा शून्य का ज्ञान प्राप्त कर लिया था, और इनके द्वारा वे किसी भी राशि या गणना को प्रकट कर सकते थे। अंकगणित के विकास में इस से बहुत सहायता मिली। प्राचीन रोमन लोग अक्षरों (i, ii, iii, iv, v आदि) द्वारा गिनती या अंकों को लिखा करते थे, और शून्य (०) का उन्हें ज्ञान नहीं था। इस कारण गुणा, भाग आदि कर सकना उनके लिए सुगम नहीं था, और वे गणित में अधिक उन्नति नहीं कर सके थे। शून्य और दशमलव का ज्ञान प्राप्त कर भारतीयों ने गणित तथा ज्योतिष में बहुत उन्नति की। अरबों ने इनका ज्ञान भारतीयों से ही प्राप्त किया था। यूरोप के लोगों ने अंकों, शून्य तथा दशमलव का ज्ञान सीधे भारतीयों से प्राप्त किया या अरबों द्वारा, इस प्रश्न पर मतभेद है। पर सब कोई यह स्वीकार करते हैं कि शून्य तथा दशमलव का आविष्कार सबसे पूर्व भारतीयों द्वारा ही किया गया था। इस प्रसंग में सेवेरस सेबोख्त नामक एक सीरियन विद्वान् का कथन उल्लेखनीय है, जिसका काल सातवीं सदी के मध्य में था और जो ईराक में दजला नदी के तटवर्ती प्रदेश का निवासी था। उसने लिखा है, कि ज्योतिष के क्षेत्र में जो आविष्कार भारतीयों ने किए हैं, वे ग्रीक तथा बैबिलोनियन लोगों द्वारा किए गए आविष्कारों की तुलना में बहुत अधिक महत्त्व के हैं। भारतीय लोग नौ अंकों द्वारा जिस ढंग से किसी भी गिनती को प्रगट कर सकते हैं, वह वस्तुतः अद्भुत है। "ग्रीक भाषा बोलने के कारण जो लोग यह समझते हैं कि उन्होंने विज्ञान की चरम सीमा को प्राप्त कर लिया है, उन्हें यदि इस बात का पता चले तो उन्हें यह विश्वास हो जाएगा कि अन्य भी ऐसे लोग हैं जो कुछ जानते हैं।"

हारून अल रशीद (७८६-८०९) के समय में अरब और भारत के सम्बन्धों में और भी अधिक वृद्धि हुई। इसका प्रधान श्रेय बल्ख के बरमक परिवार के व्यक्तियों को है, जो इस काल में खलीफा के मन्त्रीपद पर नियुक्त थे और अपनी योग्यता के कारण जो शासन में सर्वेसर्वा बन गए थे। बल्ख (बाह्लीक नगरी) के नवसंघाराम या नवविहार के प्रधान स्थविरों ने किसी समय भिक्षुव्रत का त्याग कर गृहस्थ होना प्रारम्भ कर दिया था, और उनके वंशज ही इस विहार के कर्त्ताधर्ता बन गए थे। इन्हें 'परमक' (सर्वोच्च) कहा जाता था, जो बिगड़कर अरबी में बरमक हो गया। सातवीं सदी का अन्त होने से पूर्व ही अरबों ने अपने साम्राज्य का विस्तार करते हुए बल्ख की भी विजय कर ली थी, और बौद्धों के इस प्रसिद्ध केन्द्र (नवविहार) को बुरी तरह से विनष्ट कर दिया था। वहाँ के भिक्षुओं तथा स्थविरों को उन्होंने इस्लाम को स्वीकार करने के लिए विवश किया था, और बरमक परिवार के व्यक्तियों को वे अपने साथ बगदाद ले गए थे। बरमक लोग नवविहार की प्राचीन परम्परा के अनुसार धर्म, दर्शन तथा विज्ञान आदि के प्रकाण्ड पण्डित होते थे, और मुसलमान बन जाने के कारण उनमें पाण्डित्य का अन्त नहीं हो गया था। उनकी योग्यता से लाभ उठाने के लिए खलीफाओं ने उन्हें मन्त्री के पद पर नियुक्त किया, और अपने दरबार में उन्हें सम्मानास्पद स्थान प्रदान किए। बरमक परिवार के खालिद को खलीफा मंसूर के समय में प्रधानमंत्री के पद पर

नियुक्त किया गया था (७५५ ईस्वी)। ८०२ ईस्वी तक यह पद प्रायः बरमक परिवार के व्यक्तियों के ही हाथों में रहा। स्वाभाविक रूप से बरमकी मन्त्रियों को भारतीय संस्कृति तथा विद्याओं से प्रेम था, अतः उन्होंने अपनी स्थिति का उपयोग भारतीय विद्वानों को बगदाद निमन्त्रित करने के लिए किया, और उन्हें गणित, ज्योतिष, दर्शन, आयुर्वेद आदि के संस्कृत ग्रन्थों का अरबी भाषा में अनुवाद करने का कार्य सुपुर्द किया। बहुत-से अरब विद्वान् भी इस काल में भारत भेजे गए। वहाँ जाकर उन्होंने संस्कृत भाषा सीखी, ताकि भारतीय ज्ञान-विज्ञान का मूल ग्रन्थों द्वारा अध्ययन कर सकें। इस समय जो बहुत से भारतीय विद्वान् बगदाद में रह रहे थे, उनमें से एक का नाम मंख था। वह सुयोग्य चिकित्सक था, और उसने खलीफा हारून-अल-रशीद को एक असाध्य रोग से मुक्त करने में अपनी योग्यता को प्रदर्शित किया था। प्रसन्न होकर खलीफा ने उसे राजकीय चिकित्सालय का प्रधान चिकित्सक नियुक्त कर दिया था। मंख द्वारा आयुर्वेद के प्रसिद्ध ग्रन्थ सुश्रुत का अरबी भाषा में अनुवाद भी किया गया था। चरक, अष्टाँग-हृदय आदि अन्य भी अनेक आयुर्वेद ग्रन्थों को इस समय अरबी में अनूदित किया गया था। अरबी ग्रन्थों में अनेक ऐसे भारतीय विद्वानों के नाम विद्यमान हैं, जो इस काल में बगदाद गए थे। पर ये नाम अरबी में हैं, और इनके मूल भारतीय नामों का पता कर सकना कठिन है। कतिपय विद्वानों ने इनके भारतीय नाम प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया है, और यह सुझाया है कि इनके नाम अत्रि, वेदव्यास, व्याघ्र, धन्वन्तरि आदि थे। मंसूर और हारून-अल-रशीद द्वारा कतिपय बौद्ध-ग्रन्थों का भी अरबी में अनुवाद कराया गया था, जिससे अरब विद्वानों तथा दार्शनिकों को बौद्ध दर्शन तथा सिद्धान्तों से परिचित होने का भी अवसर मिला था। अरब के दार्शनिक विचारों पर इनका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। इस्लाम में जो सूफी सम्प्रदाय का विकास हुआ, उस का एक कारण बौद्ध और वेदान्त दर्शनों तथा आदर्शों द्वारा उसका प्रभावित होना भी माना जाता है। भवन-निर्माण, कला, संगीत, भूगोल आदि सभी क्षेत्रों में अरबों ने भारतीयों से बहुत कुछ सीखा था। यूरोप के इतिहास में मध्यकाल अन्धकार और अज्ञान का युग था। पर उस काल में ज्ञान का दीपक अरब में अवश्य प्रकाशित हो रहा था। अरब के सम्पर्क से ही बाद में यूरोप में भी नव-जागरण का सूत्रपात हुआ था। अरब की इस उन्नति का प्रधान श्रेय भारत के साथ उसके सम्पर्क को ही दिया जाना चाहिए।

यद्यपि अरब आक्रान्ता भारत में सिन्ध से आगे नहीं बढ़ सके थे, पर अरब व्यापारियों ने भारत में अन्यत्र भी बड़ी संख्या में आना-जाना शुरू कर दिया था, और अनेक व्यापारी इस देश में बस भी गए थे। भारत के राजा इस्लाम के प्रति सहिष्णुता का भाव रखते थे। कतिपय राजाओं ने तो मुसलमानों के लिए अपने खर्च से मस्जिदों का भी निर्माण करा दिया था। दसवीं सदी के इब्न हौकल नामक लेखक ने लिखा है, कि पश्चिमी भारत के अनेक महत्त्वपूर्ण नगरों में जामा मस्जिदें विद्यमान थीं, जिनमें मुसलिम प्रार्थनाविधि तथा मन्तव्यों का खुले तौर पर अनुसरण किया जाता था। राष्ट्रकूटों के राज्य में तो बहुत से नगरों में मुसलमानों की अपनी बस्तियाँ भी थीं,

जिनके शासन के लिए मुसलिम कर्मचारियों की ही नियुक्ति की जाती थी।

दसवीं सदी के अन्तिम वर्षों में महमूद गजनवी ने भारत पर आक्रमण किए और बारहवीं सदी के अन्त में मुहम्मद गोरी ने। इस समय में भारत के अन्य अनेक प्रदेशों पर भी विविध मुसलिम राजवंशों के शासन स्थापित होने लग गए, जिसके कारण पाश्चात्य देशों और भारत के सम्बन्धों का स्वरूप बहुत परिवर्तित हो गया।

तीसरा अध्याय

भारत और अफगानिस्तान

(१) मौर्य युग से पूर्व का काल

वैदिक काल में अफगानिस्तान भारत का ही एक अंग था, यह पहले अध्याय में लिखा जा चुका है। ऋग्वेद के समय में भारतीय आर्य प्रधानतया सप्तसैन्धव देश में बसे हुए थे। पंजाब और उत्तर-पश्चिमी सीमा-प्रान्त सप्तसैन्धव के अन्तर्गत थे। आर्यों का विस्तार तब गंगा-यमुना की घाटी में भी हो चुका था, और उत्तरी भारत के इस क्षेत्र में उन्होंने अपने बहुत-से जनपद स्थापित कर लिये थे। ये आर्य-जनपद कुभा (काबुल), सुवास्तु (स्वात), क्रुमु (खुर्रम), गोमती (गोमल) और गौरी (पंजकोरा) नदियों द्वारा सिंचित प्रदेशों में भी विद्यमान थे, और इनमें जिन जनों (कबीलों) का निवास था, वे आर्य जाति के ही थे। आर्य जातियों व जनपदों के पारस्परिक संघर्ष में ये जन भी हाथ बटाते थे। इसीलिए जब हस्तिनापुर के राजा संवरण पर अहिच्छात्र के राजा सुदास ने आक्रमण किया, तो संवरण की सहायता के लिये पश्चिम की जो आर्य जातियाँ अग्रसर हुईं, उनमें अलिन, भलानस और पक्थ भी थीं। इनके जनपद उस प्रदेश में विद्यमान थे, जहाँ अब अफगानिस्तान का राज्य है। आर्य जाति की एक शाखा जैसे भारत में आकर बसी थी, वैसे ही एक अन्य शाखा ईरान में भी गई थी। ईरान के लोग भी आर्य जाति के ही हैं। अफगानिस्तान की स्थिति ईरान और भारत के बीच में है। जिस प्रकार प्राचीन भारतीय आर्य जातियों का अफगानिस्तान के आर्यों के साथ सम्पर्क था, वैसे ही ईरान के आर्यों का भी था। इसी कारण ईरान के प्राचीन ग्रन्थ अवस्ता में हीरात, बल्ख, कन्धार तथा सीस्तान का उल्लेख मिलता है। अफगानिस्तान में बसे हुए आर्य जनों का भारत और ईरान के साथ समान रूप से सम्बन्ध रहा, क्योंकि इनका निवास दोनों के मध्यवर्ती प्रदेश में था। भारत के लोग अफगानिस्तान के जनपदों को अपने देश के ही अन्तर्गत मानते रहे। इसीलिए बौद्ध ग्रन्थों में भारत के सोलह महाजनपदों का परिगणन करते हुए गान्धार और कम्बोज को भी महाजनपदों के रूप में लिखा गया है।

हखामनी साम्राज्य और अफगानिस्तान—भारत के समान ईरान में भी प्राचीन काल में अनेक छोटे-बड़े राज्यों की सत्ता थी। ये राज्य परस्पर संघर्ष में व्यापृत रहा करते थे, और उनमें भी यह प्रवृत्ति थी, कि पड़ौस के अन्य राज्यों को जीत कर अपने साम्राज्य का निर्माण करें। सातवीं सदी ईस्वी पूर्व में पार्स नामक ईरानी राज्य बहुत शक्तिशाली हो गया, और उसके राजा हखामनी ने अपनी शक्ति को बहुत बढ़ा लिया। छठी सदी ई० पू० में हखामनी के वंश में एक अन्य महत्वाकांक्षी राजा हुआ, जिसका

नाम कुरु (Cyrus या काइरस) था। कुरु ने न केवल सम्पूर्ण ईरान को जीतकर अपने अधीन किया, अपितु पूर्व में आगे बढ़कर शकास्थान (सीस्तान), बाख्त्री (बैक्ट्रिया) और मकरान को भी जीत लिया। हिन्दुकुश पर्वतमाला के पश्चिम के सब प्रदेश राजा कुरु की अधीनता में आ गए थे, और उसके साम्राज्य की पूर्वी सीमा भारत के साथ आ लगी थी। कुरु के वंशजों ने ईरान के साम्राज्य का और अधिक विस्तार किया। इनमें दारयवुश (डेरियस) का अफगानिस्तान और भारत के इतिहास के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। उसका शासन काल ५२१ से ४८५ ई० पू० तक था, और वह मगध के प्रतापी राजा बिम्बिसार और अजातशत्रु का समकालीन था। अपने साम्राज्य का विस्तार करते हुए उसने कम्बोज, पश्चिमी गान्धार और सिन्ध की भी विजय की। दारयवुश का उत्तराधिकारी (४८५-४६५ ई० पू०) ख्षयार्श (Xerxes) था। उसने अपने साम्राज्य का विस्तार करने के लिए पश्चिम की ओर अनेक आक्रमण किए, और ग्रीस को भी आक्रान्त किया। उसकी सेना में गान्धार और सिन्ध के सैनिक भी सम्मिलित थे। जिनके सूती वस्त्रों को देखकर ग्रीस के लोग अत्यन्त आश्चर्य अनुभव करते थे। यह पहला अवसर था, जब कि ग्रीक लोगों ने सूती वस्त्र देखे थे। अफगानिस्तान और सिन्ध के जिन राज्यों को दारयवुश ने अपने साम्राज्य के अन्तर्गत किया था, वे देर तक ईरान के अधीन नहीं रहे। सम्भवत: पाँचवीं सदी ई० पू० में ही उन्होंने स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली थी। चौथी सदी ई० पू० में जब सिकन्दर ने इन प्रदेशों पर आक्रमण किया, तब ये ईरान की अधीनता से मुक्त हो चुके थे।

ईरान के ये प्रतापी राजा हखामनी वंश के थे। अंग्रेजी की पुस्तकों में इन्हें अचामनीद (Achaemenid) वंश का लिखा जाता है। भारत के आर्य राजाओं के समान ईरान के हखामनी या अचामनीद वंश के राजा भी आर्य थे, और दारयवुश अपने शिलालेखों में अपने को ऐर्य ऐर्यपुत्र (आर्य आर्यपुत्र) कहा है। दारयवुश का जो उत्कीर्ण लेख नकशाए-रुस्तम में मिला है, उसमें उस द्वारा शासित प्रदेशों में बाख्त्री (बैक्ट्रिया), सुगद (सुग्ध या सोग्डियाना), गादार (गान्धार) और हिन्दुश (सिन्धु या सिन्ध) को भी अन्तर्गत किया गया है। ख्षयार्श के पर्सिपोलिस में उपलब्ध शिलालेख में भी इस राजा द्वारा शासित प्रदेशों में इनका परिगणन हुआ है। ये सब हखामनी साम्राज्य के विविध प्रान्त बना दिए गए थे, और इनके शासन के लिए क्षत्रपों और महाक्षत्रपों की नियुक्ति की गई थी। हखामनी साम्राज्य के प्रान्तों में कस्पिओई या कपिसई भी एक था, जो स्पष्टतया कपिशा को सूचित करता है। कपिशा की स्थिति गान्धार के पश्चिम में थी। इसमें सन्देह नहीं कि अफगानिस्तान और उसके समीपवर्ती सब प्रदेश हखामनी सम्राटों की अधीनता में थे, यद्यपि वे देर तक उनके शासन में नहीं रह सके थे।

हखामनी राजाओं के पूर्व दिशा में अपनी शक्ति का विस्तार करने का एक महत्त्वपूर्ण परिणाम यह हुआ, कि उससे अफगानिस्तान तथा पश्चिमी भारत का पाश्चात्य संसार के साथ सम्बन्ध अधिक सुदृढ़ हो गया। सिन्ध पर आक्रमण करने से पूर्व दारयवुश ने अपने जल सेनापति स्काईलैक्स को ईरान के समुद्रतट के साथ-साथ जलमार्ग

द्वारा सिन्ध नदी के मुहाने तक के मार्ग का अवगाहन करने के लिए भेजा था। उसने मकरान के समुद्रतट के प्रदेश के सम्बन्ध में भी नई जानकारी प्राप्त की, जिसके कारण पूर्व और पश्चिम के देशों के व्यापारियों के लिए भी अपने व्यापार की वृद्धि कर सकना अधिक सुगम हो गया। ईरान की भाषा को लिखने के लिए हखामनी राजा अरमईक लिपि का प्रयोग किया करते थे। यह लिपि दायीं ओर से बायीं ओर को लिखी जाती थी। अशोक के जो शिलालेख भारत के उत्तर-पश्चिमी प्रदेशों तथा गान्धार में उपलब्ध हुए हैं, उनमें खरोष्ठी लिपि का उपयोग किया गया है। खरोष्ठी लिपि भी दायीं ओर से बायीं ओर लिखी जाती है। सम्भवतः, इस लिपि पर ईरान की अरमईक लिपि का प्रभाव था। खरोष्ठी लिपि गान्धार तथा उसके समीपवर्ती प्रदेशों में आठ सौ वर्ष के लगभग (तीसरी सदी ई० प० से पाँचवीं सदी ई०पू० तक) प्रचलित रही। हखामनी राजा अपने प्रान्तीय शासकों के लिए क्षत्रप तथा महाक्षत्रप संज्ञाओं का प्रयोग करते थे। ये शब्द भी इस क्षेत्र के प्रान्तीय शासकों के लिए चिरकाल तक प्रयुक्त होते रहे। हखामनी राजाओं की विजयों के कारण अफगानिस्तान के क्षेत्र को ईरान ने अनेक प्रकार से प्रभावित अवश्य किया, पर वहाँ की आधारभूत संस्कृति पहले के समान भारतीय ही बनी रही।

सिकन्दर का साम्राज्य और अफगानिस्तान—ईरान का हखामनी साम्राज्य देर तक कायम नहीं रहा। प्राचीनकाल में ग्रीस में बहुत-से छोटे-छोटे जनपद थे, जिन्हें ग्रीक लोग 'पोलिस' कहते थे। इनमें एक मैसिडोन था, जिसके राजा फिलिप (चौथी सदी ई० पू०) ने ग्रीस के सब जनपदों को जीतकर अपने अधीन कर लिया था। उसके पुत्र सिकन्दर ने फिलिप की मृत्यु (३३६ ई० पू०) के पश्चात् मैसिडोन के साम्राज्य को और अधिक विस्तृत किया। उस समय ईजिप्त, एशिया माइनर और सीरिया के प्रदेश ईरान के हखामनी साम्राज्य के अन्तर्गत थे। छठी सदी ई० पू० में जिस विशाल ईरानी साम्राज्य का निर्माण शुरू हुआ था, ढाई सौ के लगभग वर्ष व्यतीत हो जाने पर वह बहुत निर्बल हो गया था। सिकन्दर ने इस विशाल परन्तु निर्बल साम्राज्य पर आक्रमण किया, और बात की बात में एशिया माइनर तथा ईजिप्त को जीत लिया। फिर ईराक के बैबिलोन, निनेवा आदि प्राचीन नगरों पर कब्जा करके ३३१ ई० पू० में उसने ईरान पर आक्रमण किया। हखामनी राजा दारयवुश तृतीय सिकन्दर का सामना नहीं कर सका, और वह अपने प्राणों की रक्षा के लिए बाख्त्री चला गया। ईरान की राजधानी पर्सिपोलिस का मैसिडोनियन सेना द्वारा बुरी तरह से ध्वंस किया गया।

ईरान को विजय कर सिकन्दर अफगानिस्तान की दिशा में अग्रसर हुआ। ३३० ई० पू० के समाप्त होने से पूर्व ही वह शकस्थान (सीस्तान) जा पहुँचा। यह प्रदेश मकरान के उत्तर तथा अफगानिस्तान के पठार के दक्षिण-पश्चिम में था। उसे जीत कर सिकन्दर ने ठेठ अफगानिस्तान पर आक्रमण किया, और हरुअवती नगरी की विजय की। यह हरुअवती नगरी दक्षिणी अफगानिस्तान की राजधानी थी, और अरगन्दाब या अरगन्द नदी के तट पर बसी हुई थी। वर्तमान समय का कन्धार या

कन्दहार नगर प्राचीन हरुग्रवती के स्थान पर ही ग्राबाद है। इसे जीत कर सिकन्दर ने काबुल नदी की घाटी में प्रवेश किया। इस घाटी में जहाँ ग्राजकल चरीकर है, सिकन्दर ने एक नई नगरी की स्थापना की, जिसे सिकन्दरिया नाम दिया गया। काबुल घाटी में उसे यह समाचार मिला, कि बाख्त्री के प्रदेश में ईरानी साम्राज्य की सेना का पुनःसंगठन हुग्रा है, ग्रौर वह पीछे की ग्रोर से मैसिडोनियन सेना पर ग्राक्रमण की तैयारी में संलग्न है। सिकन्दर ने यह उचित समझा, कि पहले हिन्दुकुश पर्वत-माला को पार कर बाख्त्री पर ग्राक्रमण किया जाए। ईरानी सेना सिकन्दर का सामना नहीं कर सकी, वह परास्त हो गई ग्रौर सिकन्दर ने सीर नदी तक के सम्पूर्ण प्रदेश को जीत कर ग्रपने ग्रधीन कर लिया। बाख्त्री में भारतीय ग्रौर ईरानी दोनों प्रकार की ग्रार्य जातियों का निवास था, ग्रौर उन दोनों के ग्रनेक जनपद वहाँ विद्यमान थे। यही कारण है, कि बाख्त्री में जिन सेनाग्रों के साथ सिकन्दर का युद्ध हुग्रा, उनमें शशिगुप्त नाम के एक भारतीय राजा की सेना भी सम्मिलित थी। सम्भवतः, यह शशिगुप्त हिन्दुकुश पर्वतमाला के उत्तरी प्रदेश के किसी राज्य का राजा था। बाख्त्री से काबुल की घाटी को वापस लौटकर सिकन्दर ने ग्रपनी सेना को दो भागों में विभक्त किया। हेफेस्तियन ग्रौर पर्डिक्कस नामक दो सेनापतियों को यह कार्य सुपुर्द किया गया, कि वे पूर्व की ग्रोर ग्रग्रसर होते हुए सिन्ध नदी तट पहुँच जाएं। सिकन्दर ने स्वयं एक बड़ी सेना लेकर काबुल नदी के उत्तर की ग्रोर प्रस्थान किया, ग्रौर उन विविध जनपदों की विजय का प्रयत्न प्रारम्भ किया, जो इस पार्वत्य प्रदेश में स्थित थे। ये जनपद पूर्णतया भारतीय थे, ग्रौर ग्रीक लेखकों ने इन्हें स्पष्ट रूप से भारतीय लिखा है। इस क्षेत्र की ग्रलीशांग ग्रौर कुनार (कूनड़) नदियों की घाटी में निवास करने वाली जाति को ग्रीक लेखकों ने ग्रस्पस (Aspasioi) कहा है। ग्रस्पस के ग्रागे गौरी ग्रौर सुवास्तु नदियों की घाटी में ग्रस्सकेन (Assakcnoi) जाति का निवास था। इसके जनपद की राजधानी मस्सग थी, जिसका निर्माण एक दुर्ग के समान हुग्रा था। घनघोर युद्धों के ग्रनन्तर ही सिकन्दर इन्हें परास्त करने में समर्थ हुग्रा था। कतिपय ऐतिहासिकों के मत में ग्रस्पस ग्रौर ग्रस्सकेन के संस्कृत नाम 'ग्रश्वायन' ग्रौर 'ग्रश्वाकायन' थे। इन्हें 'ग्रश्वक' ग्रौर 'ग्रश्मक' के साथ मिलाने का भी प्रयत्न किया गया है। महाभारत में ग्रश्वक नामक एक जाति का उल्लेख है, जिसकी गणना उत्तर दिशा के क्षेत्र में निवास करने वाली जातियों में की गई है। सम्भवतः, इसी ग्रश्वक के लिए ग्रीक लेखकों ने 'ग्रस्पस' शब्द का प्रयोग किया है। वर्तमान समय के उत्तर-पश्चिमी सीमा-प्रान्त (पाकिस्तान) में पठानों के ग्रनेक कबीले बसे हुए हैं, जिनमें से एक यूसुफजई भी है, जिसके लिए पश्तो भाषा में 'ग्रसिप' या 'इसप' प्रयुक्त होता है। यह इसप या ग्रसिप स्पष्टतया ग्रस्सप या ग्रश्वक का ग्रपभ्रंश है। पाणिनि की ग्रष्टाध्यायी में भी 'ग्रश्मक' शब्द ग्राया है, जो ग्रश्वक को भी सूचित कर सकता है। पाणिनि ने ग्रन्यत्र 'ग्रश्वायन' ग्रौर 'ग्रश्वकायन' का भी उल्लेख किया है। सम्भवतः, ग्रश्वकायन ग्रस्सकेन को सूचित करता है, ग्रौर 'ग्रश्वायन' ग्रस्पस को। ग्रस्सकेन की राजधानी मस्सग को संस्कृत का 'मशकावती' के साथ मिलाया गया है, जिसका उल्लेख पाणिनि की ग्रष्टाध्यायी में भी

विद्यमान है।

हेफेस्तियन और पर्डिक्कस के सेनापतित्व में सिकन्दर ने जिन सेनाओं को सीधे सिन्ध नदी की ओर बढ़ने का आदेश दिया था, उन्हें भी अनेक जनपदों से युद्ध करने पड़े। इनमें गान्धार जनपद प्रधान था। उस युग में गांधार जनपद सिन्ध नदी के दायें और बायें दोनों तटों पर विस्तीर्ण था। पश्चिमी गान्धार की राजधानी पुष्करावती या पुष्कलावती थी। ग्रीक लेखकों ने इसी को प्युकलावतिस (Peukelaotis) लिखा है। ग्रीक विवरणों के अनुसार पुष्करावती के राजा का नाम अस्तस (Astes) था, जिसे संस्कृत में अष्टक या हस्ती कहा जा सकता है।

सिकन्दर के आक्रमण के विषय में यहाँ अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है। ग्रीक लेखकों ने इस आक्रमण का जो वृतान्त लिखा है, उसे पढ़कर इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि अफगानिस्तान और उसके समीपवर्ती प्रदेशों में इस काल में जो विविध जनपद या राज्य विद्यमान थे, उनके निवासी व शासक भारतीय थे। हखामनी वंश के प्रतापी ईरानी राजा उन्हें देर तक अपनी अधीनता में नहीं रख सके थे, और पाचवीं सदी ई० पू० या उसके लगभग वे स्वतन्त्रता प्राप्त करने में समर्थ हो गये थे।

(२) मौर्य, बैक्ट्रियन और इन्डो-ग्रीक राजाओं का काल

यद्यपि सिकन्दर अफगानिस्तान के विविध भारतीय जनपदों को जीतने में समर्थ हुआ था, पर वे देर तक मैसिडोनियन लोगों के शासन में नहीं रहे। ३२३ ईस्वी पूर्व में सिकन्दर की मृत्यु हो गई थी, और उसके मरते ही उसके साम्राज्य में अव्यवस्था उत्पन्न हो गई थी। उसके विभिन्न सेनापति अपने-अपने पृथक् राज्य स्थापित करने में तत्पर हो गये थे, और सिकन्दर का साम्राज्य अनेक खण्डों में विभक्त हो गया था। ये खण्ड तीन थे, मैसिडोनिया, ईजिप्त और सीरिया। पंजाब से एशिया माइनर तक का विशाल एशियाई प्रदेश सीरिया के राज्य के अन्तर्गत था, जिसका स्वामी सैल्युकस था। सैल्युकस द्वारा शासित यह सीरियन राज्य वस्तुतः पुराने हखामनी साम्राज्य का ही उत्तराधिकारी था।

भारत और अफगानिस्तान के जिन प्रदेशों को जीत कर सिकन्दर ने अपने अधीन किया था, उनके शासन के लिये उसने छः शासक नियुक्त किये थे—(१) क्षत्रप निकनौर, जो पश्चिमी गान्धार का शासक था। सिन्ध नदी के पश्चिम से लगा कर काबुल की घाटी से पूर्व तक का सम्पूर्ण प्रदेश निकनौर के शासन में था। (२) आक्स्यार्टस, जो पैरोपनिसदी या काबुल की घाटी का क्षत्रप था। (३) पाइथॉन, जो सिन्ध का क्षत्रप था। (४) आम्भि, जिसे सिन्ध और वितस्ता (जेहलम) नदियों के मध्यवर्ती प्रदेश का क्षत्रप नियुक्त किया गया था। (५) पोरु, जो वितस्ता और विपाशा नदियों के बीच के प्रदेश का क्षत्रप था। (६) हिमालय और उसके साथ-साथ का तराई का प्रदेश अभिसार के राजा के सुपुर्द किया गया था। पर सिकन्दर द्वारा नियुक्त ये क्षत्रप देर तक अपने-अपने प्रदेशों पर शासन नहीं कर सके। चन्द्रगुप्त मौर्य

के नेतृत्त्व में जनता ने उनके विरुद्ध विद्रोह कर दिया, और पराधीनता के जुए को अपने कन्धे से उतार फेंका। चन्द्रगुप्त द्वारा न केवल मैसिडोनिया के विदेशी शासन का अन्त किया गया, अपितु प्रायः सम्पूर्ण उत्तरी भारत में एक सुसंगठित तथा सुव्यवस्थित साम्राज्य की भी स्थापना की गई। उत्तर-पश्चिमी भारत और अफगानिस्तान के जिन विविध जनपदों को जीतकर सिकन्दर ने अपने अधीन किया था, वे अब चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा स्थापित मागध साम्राज्य के अन्तर्गत हो गये थे।

सीरिया के राजा सैल्युकस ने इन प्रदेशों को जीतने के लिए प्रयत्न किया, पर उसे सफलता प्राप्त नहीं हुई। युद्ध में वह चन्द्रगुप्त द्वारा परास्त कर दिया गया, और पैरोपनिसदी, आरिया, जड्रोसिया तथा आर्कोशिया के प्रदेशों पर चन्द्रगुप्त के प्रभुत्त्व को सैल्युकस ने स्वीकार कर लिया। पैरोपनिसदी से अफगानिस्तान का वह पहाड़ी प्रदेश अभिप्रेत है, जो हिन्दुकुश पर्वतमाला की उपत्यका में स्थित है। काबुल का प्रान्त इसी के अन्तर्गत था। आर्कोशिया से आजकल के कन्दहार का ग्रहण होता था। आरिया आधुनिक हीरात का पुराना नाम था, और जड्रोसिया का अभिप्राय वर्तमान समय के मकरान (बलोचिस्तान में) से था। सैल्युकस की पराजय के परिणामस्वरूप अफगानिस्तान और उसके समीपवर्ती इन सब प्रदेशों पर चन्द्रगुप्त मौर्य का स्वामित्त्व निर्विवाद रूप से स्थापित हो गया था। अफगानिस्तान के क्षेत्र के विविध जनपद इस समय उसी ढंग से मौर्य साम्राज्य में सम्मिलित हो गये थे, जैसे कि अवन्ति, कुरु, पाञ्चाल, काशी, कोशल आदि जनपद थे। इसी लिये चन्द्रगुप्त के पौत्र अशोक ने अपने शिलालेखों में गान्धार और कम्बोज का उल्लेख अपने 'राजविषय' (राज्य या विजित) के अन्तर्गत विशद रूप से किया है। एक सदी के लगभग तक अफगानिस्तान का प्रदेश मौर्य साम्राज्य में सम्मिलित रहा, और वहाँ भारत की सभ्यता तथा संस्कृति के प्रभाव में और भी अधिक वृद्धि हुई। धर्मविजय की नीति को अपना कर अशोक ने अपने 'विजित' तथा 'प्रत्यन्त' देशों में जिन धर्ममहामात्रों, अन्त-महामात्रों और स्त्री-महामात्रों की नियुक्ति की थी, उन्होंने इस देश में भी अशोक के धर्मानुशासन का प्रचार किया। बौद्धों की जो तीसरी धर्मसंगीति (महासभा) आचार्य उपगुप्त के नेतृत्त्व में अशोक के समय में हुई थी, उसने विविध देशों में बौद्ध धर्म के प्रचार के लिये एक महान् आयोजन किया था। महावंसो में इसका विशद रूप से विवरण विद्यमान है, जिसके अनुसार मज्झन्तिक (मध्यान्तिक) के नेतृत्व में एक प्रचारक-मण्डली काश्मीर-गान्धार में भी भेजी गई थी। इसमें सन्देह नहीं, कि मज्झन्तिक तथा उसके साथियों को गान्धार में अनुपम सफलता प्राप्त हुई, जिसके परिणामस्वरूप यह देश बौद्ध धर्म तथा भारतीय संस्कृति एक महत्वपूर्ण केन्द्र बन गया।

हखामनी राजाओं और सिकन्दर के आक्रमणों के कारण अफगानिस्तान का सम्पर्क ईरानी और ग्रीक लोगों के साथ भी हो गया था। एक सदी के लगभग यह देश ईरान के साम्राज्य के अन्तर्गत रहा था। यह स्वाभाविक था, कि इस सुदीर्घ काल में ईरान की भाषा तथा संस्कृति इस देश पर अपना अमिट प्रभाव छोड़ जाए। सिकन्दर तथा उसके उत्तराधिकारी वहाँ देर तक शासन नहीं कर सके थे। पर सिकन्दर ने

अपने जीते हुए प्रदेशों में अनेक नई नगरियाँ बसायी थीं, जिनमें ग्रीक व मैसिडोनियन सैनिकों की छावनियाँ भी स्थापित की गई थीं। कम-से-कम ऐसी दो नगरियाँ अफगानिस्तान के क्षेत्र में भी बसायी गई थीं। उनमें जिन ग्रीक (यवन) लोगों तथा सैनिकों को आबाद किया गया था, वे स्थायी रूप से वहीं के निवासी बन गए थे, और धीरे-धीरे भारतीय धर्म तथा संस्कृति आदि को भी उन्होंने अपना लिया था। ईरानी और ग्रीक लोगों के सम्पर्क में आने के कारण इस क्षेत्र के प्रदेशों पर इन क्षेत्र में विदेशी जातियों की संस्कृति का भी प्रभाव पड़ा। काबुल की घाटी से परे कपिशा के अशोक द्वारा उत्कीर्ण कराये गए जो शिलालेख मिले हैं, वे अरमइक तथा ग्रीक दोनों लिपियों में है, जिससे मौर्य काल में अफगानिस्तान में ईरान तथा ग्रीस के प्रभाव की सत्ता में कोई सन्देह नहीं रह जाता।

राजा अशोक की मृत्यु के अनन्तर मौर्य साम्राज्य खण्ड-खण्ड होना प्रारम्भ हो गया था। कलिङ्ग और आन्ध्र के समान काश्मीर और गान्धार भी पाटलिपुत्र के मौर्य सम्राटों की अधीनता से स्वतन्त्र हो गए थे। सैल्युकस द्वारा स्थापित सीरियन साम्राज्य भी देर तक अक्षुण्ण नहीं रह सका था। बैक्ट्रिया (बाख्त्री) और पार्थिया सदृश सुदूरवर्ती प्रदेश उससे पृथक् होने प्रारम्भ हो गए थे। सीरियन सम्राट् एण्टियोकस थिओस के समय में बैक्ट्रिया के क्षत्रप के पद पर डायोदोटस (दियोदोत) नियुक्त था (तीसरी सदी ई० पू०)। सीरियन साम्राज्य की निर्बलता से लाभ उठाकर वह स्वतन्त्र हो गया, और इस प्रकार बैक्ट्रिया में एक स्वतन्त्र ग्रीक (यवन) राज्य की स्थापना हुई (२५० ई० पू०)। बैक्ट्रिया की आबादी में यवन लोगों का महत्त्वपूर्ण स्थान था, यद्यपि वहाँ के मूल निवासी जाति से यवन नहीं थे। राजा और शासक वर्ग के यवन होने के कारण बैक्ट्रिया के राज्य को भी यवन-राज्य कहा जाता है। बैक्ट्रिया के पश्चिम और कैस्पियन सागर के दक्षिण-पूर्व में पार्थिया का प्रदेश था। सीरिया की निर्बलता से लाभ उठाकर वहाँ के निवासियों ने भी विद्रोह कर दिया, और २४८ ई० पू० वे लगभग स्वतन्त्र पार्थियन राज्य की स्थापना हुई। पार्थियन विद्रोह के नेता अरसक और तिरिदात नाम के दो भाई थे। उन्होंने धीरे-धीरे पार्थियन राज्य की शक्ति को बहुत बढ़ा लिया, और शीघ्र ही ईरान का सम्पूर्ण प्रदेश उसकी अधीनता में आ गया।

२२३ ई० पू० में सीरिया के राजसिंहासन पर एण्टियोकस तृतीय आरूढ़ हुआ, और उस ने अपने वंश के लुप्त गौरव के पुनरुद्धार का प्रयत्न किया। पार्थिया पर आक्रमण कर उसने उसे जीतने की योजना बनाई, जो सफल नहीं हो सकी। पार्थियन राजा को जीतने में असफल होकर एण्टियोकस तृतीय ने उसके साथ सन्धि कर ली। पार्थिया की ओर से निश्चिन्त होकर उसने बैक्ट्रिया पर आक्रमण किया (२१९ ई० पू० के लगभग)। उस समय बैक्ट्रिया के राजसिंहासन पर युथिडिमास विराजमान था, जो वीर व शक्तिशाली राजा था। दो वर्ष तक वह निरन्तर एण्टियोकस से युद्ध करता रहा, और सीरियन सम्राट् उसे परास्त कर सकने में असमर्थ रहा। अन्त में विवश होकर एण्टियोकस ने युथिडिमास के साथ सन्धि कर ली, और इस सन्धि को स्थिर करने के

लिए अपनी पुत्री का विवाह बैक्ट्रिया के राजा के पुत्र डेमेट्रियस (दिमित्र) के साथ कर दिया।

पार्थिया और बैक्ट्रिया के साथ सन्धि कर एण्टियोकस तृतीय ने अफगानिस्तान की ओर प्रस्थान किया। इस क्षेत्र के जो प्रदेश सैल्युकस द्वारा चन्द्रगुप्त मौर्य को प्रदान कर दिये गए थे, एण्टियोकस की दृष्टि में वे सीरियन साम्राज्य के अंग थे। अतः स्वाभाविक रूप से उसकी यह इच्छा थी कि उन्हें जीतकर अपने साम्राज्य में सम्मिलित कर ले। इसी उद्देश्य से उसने २०६ ई० पू० के लगभग हिन्दुकुश पर्वतमाला के प्रदेश पर आक्रमण किया। ग्रीक विवरणों से सूचित होता है कि एण्टियोकस हिन्दुकुश पर्वतमाला को पार कर काबुल की घाटी में प्रविष्ट हो गया, और वहाँ का राजा उसका मुकाबला नहीं कर सका। ग्रीक लेखक पोलिबिअस ने इस राजा का नाम सोफागसेनस (Sophagasenus) लिखा है, और उसे भारतीय राजा कहा है। सोफागसेनस सम्भवतः संस्कृत सुभागसेन का ग्रीक रूपान्तर है। अशोक के पश्चात् मौर्यों की निर्बलता से लाभ उठाकर गान्धार भी मगध की अधीनता से स्वतन्त्र हो गया था। और एण्टियोकस तृतीय के समय में सुभागसेन वहाँ के राजसिंहासन पर विराजमान था। सुभागसेन ने भी एण्टियोकस के साथ सन्धि कर ली, और उसे प्रचुर युद्ध सामग्री प्रदान की।

पर गान्धार में देर तक सुभागसेन व उसके उत्तराधिकारियों का शासन कायम नहीं रहा। बैक्ट्रिया (बाख्त्री) के यवन राजा युथिडिमास ने भी कुछ समय पश्चात् हिन्दुकुश पर्वतमाला के क्षेत्र पर आक्रमण किया, और उसे जीतकर अपने अधीन कर लिया। हीरात, कन्दहार, सीस्तान आदि के प्रदेशों में युथिडिमास के सिक्के अच्छी बड़ी संख्या में उपलब्ध हुए हैं, जिससे यह अनुमान किया जाता है कि ये सब प्रदेश उसके शासन में आ गए थे। युथिडिमास का उत्तराधिकारी बैक्ट्रियन राजा डेमेट्रियस था, जिसने सिन्धु नदी को पार कर भारत पर दूर-दूर तक आक्रमण किए थे। ग्रीक लेखकों ने डेमेट्रियस को भारत का राजा लिखा है। इसमें सन्देह नहीं, कि वह अफगानिस्तान और भारत के उत्तर-पश्चिमी प्रदेशों पर अपना आधिपत्य स्थापित करने में समर्थ हुआ था। पाश्चात्य संसार में डेमेट्रियस के भारत-विजय की स्मृति इतने सुदीर्घ काल तक कायम रही, कि अंग्रेज कवि चौसर ने 'इन्द के राजा' (भारत के राजा) एमेट्रियस का वर्णन किया है, जो निस्सन्देह बैक्ट्रिया का राजा डेमेट्रियस ही था। भारत की प्राचीन ऐतिहासिक अनुश्रुति में सिकन्दर और सैल्युकस का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। पर डेमेट्रियस का उल्लेख पतंजलि महाभाष्य और महाभारत में विद्यमान है। पतंजलि के महाभाष्य में दत्तामित्री नाम की नगरी का उल्लेख है, टीकाकार के अनुसार जो यवन राजा दत्तामित्र द्वारा स्थापित की गई थी। महाभारत में भी इस यवन राजा को 'दत्तामित्र' नाम से लिखा गया है। गार्ग्य संहिता में इसका 'धर्मभीत' नाम से उल्लेख मिलता है। यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है, कि बैक्ट्रिया के यवन राजा डेमेट्रियस ने सम्पूर्ण अफगानिस्तान और उसके समीपवर्ती उत्तर-पश्चिमी भारत को अपने साम्राज्य में सम्मिलित करने में सफलता प्राप्त की

थी, और उस के प्रयत्न से अफगानिस्तान पर यवनों का शासन स्थापित हो गया था। यही कारण है, कि इस क्षेत्र में बहुत-से ऐसे सिक्के उपलब्ध हुए हैं, जो यवन राजाओं द्वारा प्रचलित किए गए थे।

पर अफगानिस्तान पर शासन करने वाले ये यवन राजा भारतीय संस्कृति के प्रभाव में आने से नहीं बच सके। इसी का यह परिणाम था, कि इन राजाओं के बहुत-से सिक्कों पर ग्रीक भाषा व लिपि के साथ-साथ खरोष्ठी लिपि में प्राकृत के लेख भी अंकित हैं। डेमेट्रियस के कुछ सिक्के ऐसे भी मिले हैं, जिन पर एक ओर 'महराजस अपरिजितस देमेत्रियस' शब्द खरोष्ठी लिपि में उत्कीर्ण हैं। एक अन्य यवन राजा युक्रेटीदस के सिक्कों पर जहाँ ग्रीक लिपि में 'बसिलेअस मेगल्हू युक्रेतिद्' उत्कीर्ण है, वहाँ दूसरी ओर खरोष्ठी लिपि में 'काविसिये नगरदेवता' उत्कीर्ण किया गया है। ये सिक्के कपिशा से जारी किये गये थे। पान्तलेओन और अगथोक्लीज़ नाम के यवन राजाओं के सिक्के ऐसे भी मिले हैं, जिन में ब्राह्मी लिपि का उपयोग किया गया है। अफगानिस्तान और उसके समीपवर्ती भारतीय प्रदेशों के यवन राजाओं पर भारत की भाषा, लिपि, धर्म और संस्कृति आदि का प्रभाव इतना अधिक बढ़ता गया, कि बाद के मिनान्दर और अपोल्लोडोटस सदृश यवन राजाओं ने अपने सिक्कों पर न केवल भारतीय भाषा और लिपि का ही प्रयोग किया, अपितु अपने नामों के साथ ऐसे विशेषण भी प्रयुक्त किए, जिनसे उनका भारतीय धर्मों में दीक्षित होने का संकेत मिलता है। मिनान्दर के अनेक सिक्कों पर बौद्ध धर्म के धर्म-चक्र-प्रवर्तन का चिह्न धर्म-चक्र अंकित है, और उसके नाम के साथ 'ध्रमिक' (धार्मिक) विशेषण दिया गया है। उसके कतिपय अन्य सिक्कों पर 'महाराजस त्रातरस मेनन्द्रस' उत्कीर्ण है। अपोल्लोडोटस के सिक्कों पर 'महाराजस अपलदतस त्रातरस' अंकित है, और उसके सिक्के कन्दहार से लगाकर सिन्ध नदी के मुहाने तक के प्रदेशों से मिले हैं। अफगानिस्तान और उसके समीपवर्ती प्रदेशों के इन विविध यवन राजाओं के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने का प्रधान साधन उनके सिक्के ही हैं। इसीलिए उनके इतिहास के विषय में ऐतिहासिकों में बहुत मतभेद है। पर यह निश्चय के साथ कहा जा सकता है, कि इस क्षेत्र के यवन राजा भारतीय संस्कृति के प्रभाव में आ गए थे, और उनमें से बहुतों ने बौद्ध, वैष्णव व शैव सदृश भारतीय धर्मों को भी अपना लिया था।

पर बैक्ट्रिया, अफगानिस्तान और उत्तर-पश्चिमी भारत के यवन राजा देर तक अपनी शक्ति को कायम नहीं रख सके। बैक्ट्रिया से यवनों के शासन का अन्त शक लोगों के आक्रमणों से हुआ था। शक जातियों का मूल निवास-स्थान सीर नदी के परवर्ती प्रदेशों में था। दूसरी सदी ई० पू० में उन पर युइशि (ऋषिक) जाति ने आक्रमण किया। युइशि लोग हूणों के हमलों के कारण अपने प्राचीन अभिजन को छोड़कर आगे बढ़ने के लिए विवश हुए थे। युइशियों से परास्त होकर शकों को अपना प्रदेश छोड़ना पड़ा, और उनके विविध जन (कबीले) विविध दिशाओं में आगे बढ़े। उनकी एक शाखा ने बैक्ट्रिया पर आक्रमण किया, और वहाँ के तत्कालीन राजा हेलिओक्लीज़ को युद्ध में परास्त किया। बैक्ट्रिया पर कब्ज़ा करके शक लोग दक्षिण-

पश्चिम की ओर अग्रसर हुए, और उन्होंने पार्थिया पर आक्रमण किया। उसके राजाओं ने शकों की बाढ़ को रोकने का प्रयत्न किया, पर उन्हें सफलता प्राप्त नहीं हुई और दो पार्थियन राजा (फ्रावत द्वितीय और आर्तेबानस) शकों से लड़ते हुए मृत्यु के ग्रास बने। पर आर्तेबानस का उत्तराधिकारी मिथ्रिदातस द्वितीय (१२३-८८ ई० पू०) बड़ा शक्तिशाली था। वह शकों को परास्त करने में समर्थ हुआ, और मिथ्रिदातस की शक्ति के सम्मुख असहाय होकर शकों का प्रवाह पश्चिम की ओर से हटकर दक्षिण-पूर्व की ओर हो गया। अब उन्होंने सिन्ध के प्रदेश में प्रवेश किया और मीननगर को राजधानी बनाकर अपने राज्य की स्थापना की। यहाँ से वे भारत के अन्य प्रदेशों में गए, और सौराष्ट्र को जीतकर उन्होंने उज्जैनी पर भी चढ़ाई की (१०० ई० पू०)। भारत के अनेक प्रदेश इस समय शकों की अधीनता में आ गए थे। शकों की एक शाखा ने गान्धार तथा उत्तर-पश्चिमी भारत पर भी आक्रमण किया, और वहाँ के यवन राजाओं को युद्ध में परास्त किया। शक राजा माओस (मोग) का शासन काबुल की घाटी में विद्यमान था, और पुष्करावती तथा तक्षशिला नगर उसके अधीन थे। गान्धार के क्षेत्र से शक राजाओं के बहुत से सिक्के उपलब्ध हुए हैं, और साथ ही अनेक उत्कीर्ण लेख भी। इनमें सब से अधिक महत्त्वपूर्ण लेख तक्षशिला से प्राप्त हुआ है, जो एक ताम्रपत्र पर उत्कीर्ण है। इसके अनुसार महाराज महान् मोग के राज्य में क्षहरति चुक्ष के क्षत्रप लिअक कुसलक के पुत्र पतिक ने तक्षशिला में भगवान् शाक्य मुनि के अप्रतिष्ठापित शरीर-धातु को प्रतिष्ठापित किया था। भारत के विविध प्रदेशों में शकों के जो लेख मिले हैं, वे प्रायः संस्कृत और प्राकृत भाषाओं में हैं, और उनसे उनका मुख्यतया जैन और बौद्ध धर्मों का अनुयायी होना प्रगट होता है। यद्यपि शक लोग विदेशी थे, पर भारत में आकर उन्होंने भी इस देश की संस्कृति को अपना लिया था। गान्धार के शक राजा भी पूर्णतया भारत के प्रभाव में आ गए थे। पर इस प्रसंग में यह ध्यान में रखना चाहिए, कि अफगानिस्तान के सब प्रदेश शकों के अधीन नहीं हुए थे। काबुल घाटी के उत्तरी क्षेत्र में अब भी यवनों का शासन विद्यमान रहा था।

अफगानिस्तान के जो प्रदेश शकों के अधीन थे, उन पर भी वे देर तक निर्बाध रूप से शासन नहीं कर सके। ऐसा प्रतीत होता है, कि मिथ्रिदातस द्वितीय के किसी उत्तराधिकारी राजा के समय में पार्थियन लोगों ने पूर्व की ओर आगे बढ़कर सीस्तान तथा कन्दहार के प्रदेशों को जीत लिया था। इन प्रदेशों पर पार्थियन लोगों ने एक प्रथक् राज्य की स्थापना की, जिसका प्रथम राजा वोनोनस (वनान) था (४० ई० पू०)। सीस्तान (शकस्थान) में वनान के जो सिक्के मिले हैं, उन पर केवल ग्रीक लेख है। पर कन्दहार के प्रदेश से मिले उसके सिक्कों पर एक ओर तो ग्रीक लेख हैं, और दूसरी ओर प्राकृत भाषा के लेख उत्कीर्ण हैं। कन्दहार के शासन के लिए वनान ने अपने भाई श्पलहोरस को नियुक्त किया था। उसके सिक्कों पर 'महाराजभ्रातस ध्रमिअस श्पलहोरस' लेख अंकित हैं। श्पलहोर के बाद कन्दहार का शासक उसका पुत्र श्पलगदम बना। उस के सिक्कों पर 'श्पलहोर पुत्रस ध्रमिअस श्पलगदमस' उत्कीर्ण है। इन सिक्कों द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है, कि पहली सदी ई० पू० में कन्दहार तथा

उसके समीपवर्ती प्रदेशों के पार्थियन शासकों ने प्राकृत भाषा तथा खरोष्ठी लिपि को अपना लिया था। इन पार्थियन शासकों ने अपने नाम के साथ 'ध्रमिक' व 'ध्रमिअ' विशेषण प्रयुक्त किए हैं, जिस से सूचित होता है कि यवन और शक राजाओं के समान ये भी भारतीय धर्म के प्रभाव में आ गए थे। प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में पार्थिय को 'पह्लव' कहा गया है, और पुराणों में शकों और पह्लव नाम प्रायः साथ-साथ आते हैं।

अफगानिस्तान के क्षेत्र में न शक लोग देर तक शासन कर सके, और न पार्थियन। जिन युइशि (ऋषिक) जातियों के आक्रमणों से विवश होकर शक लोगों ने अपने मूल अभिजन का परित्याग कर बैक्ट्रिया और पार्थिया की ओर प्रस्थान किया था, वे भी शकों के पीछे-पीछे बैक्ट्रिया में प्रविष्ट हुई, और उस पर उन्होंने कब्जा कर लिया। युइशि लोगों ने बैक्ट्रिया तथा उसके समीपवर्ती प्रदेशों में अपने पाँच राज्य कायम किए (पहली सदी ई० पू०) थे। इन पाँच राज्यों में अन्यतम कुएई-शुआंग था। २५ ई० पू० के लगभग इस राज्य का स्वामी कुजुल कसस कदफिसस नामक वीर पुरुष हुआ, जिसके शासन में इस राज्य की बहुत उन्नति हुई। उसने धीरे-धीरे अन्य युइशि राज्यों को जीत लिया। हिन्दुकुश पर्वतमाला को पार कर उसने काबुल और कन्दहार पर भी आक्रमण किये, और वहाँ से पार्थियन लोगों के शासन का अन्त किया। इस प्रकार बैक्ट्रिया (बाख्त्री) के अतिरिक्त काबुल और कन्दहार के प्रदेश भी कुजुल कसस कदफिसस की अधीनता में आ गए। इस राजा के जो सिक्के मिले हैं, उनमें कुजुल के साथ कुशण या कुशाण शब्द भी आया है। कुछ ऐतिहासिकों के मत में इसका व्यक्तिगत नाम कुशाण था, और कुजुल इसका विशेषण था। अन्य ऐतिहासिकों ने यह प्रतिपादित किया है, कि 'कुशाण' वंश या जाति का परिचायक है, व्यक्तिगत नाम नहीं है। पर इसमें सन्देह नहीं, कि इसके वंशज 'कुशाण' कहे जाते थे। कुजुल कुशाण का उत्तराधिकारी विम कथफिस था। उसने अपने राज्य का और अधिक विस्तार किया, और उत्तर-पश्चिमी भारत में जो विविध यवन और शक राज्य थे, उन सबको जीत कर अपने अधीन कर लिया। सम्भवतः, मथुरा और गंगा-यमुना के प्रदेश भी उसके राज्य के अन्तर्गत थे। विम के उत्तराधिकारियों में कनिष्क बहुत प्रसिद्ध है। वह एक महान् विजेता था। उसने पूर्व में साकेत (अयोध्या) और पाटलिपुत्र तक की विजय की, और उत्तर-पूर्व में मध्य एशिया के क्षेत्र में अपनी शक्ति का विचार किया। मध्य एशिया, बैक्ट्रिया, अफगानिस्तान, उत्तर-पश्चिमी भारत और भारत का मध्यदेश—सब उसके साम्राज्य में सम्मिलित थे।

युइशि या कुशाण वंश के इन प्रतापी राजाओं ने बैक्ट्रिया, अफगानिस्तान तथा भारत के सम्पर्क में आकर भारत की भाषा, संस्कृति और धर्म को पूरी तरह से अपना लिया था। कुजुल के सिक्कों पर 'यउअस कुजुल कफ्सस सचध्रमथितस', 'यवगुस ध्रमथियस', 'कुयुल कउस कुशणस' आदि लेख अंकित हैं। एक सिक्के पर उसके नाम के साथ 'महरजस', 'रयरयस' और 'देवपुत्रस' विशेषण भी दिए गये हैं। उसके नाम के साथ 'देवपुत्रस' विशेषण की सत्ता इस बात का संकेत करती है, कि उसने बौद्ध धर्म को अपना लिया था। राजा विम कथफिस के सिक्कों पर के लेख प्रायः इस ढंग के

हैं—'महरजस रजयिरस सर्व लोग ईश्वरस महिश्वरस विम कथफिशस भरतस'। मथुरा में इस राजा की एक मूर्ति मिली है, जिस पर 'महाराजो राजाधिराजो देवपुत्रो कुशाणपुत्रो वेम···' उत्कीर्ण है। सम्भवतः, विम कथफिश ने शैव-धर्म को स्वीकार कर लिया था। इसीलिए उसके कुछ सिक्कों पर शिव तथा नन्दी की प्रतिमाएँ तथा त्रिशूल अंकित हैं। उसके कुछ सिक्कों पर विम के साथ 'महिश्वरस' विशेषण का प्रयोग भी उसके शैव धर्म का अनुयायी होने का परिचायक है। राजा कनिष्क बौद्ध धर्म का अनुयायी था। बौद्ध अनुश्रुति में उसका स्थान अशोक के समान ही महत्त्वपूर्ण है। उसके समय में बौद्धों की चौथी संगीति (महासभा) कनिष्क के संरक्षण में काश्मीर के कुण्डलवन में आयोजित की गई थी। इस राजा के बहुत-से सिक्कों पर यवन, जरथुस्त्री (ईरानी) और भारतीय—सभी प्रकार के देवी-देवताओं की प्रतिमाएँ अंकित हैं। ईरान के अग्नि (आतश), चन्द्र (माह) और सूर्य (मिहिर), ग्रीक देवता हेलिय, प्राचीन एलम की देवी नीना, भारत के शिव, स्कन्द, वायु और बुद्ध—ये सब देवता उसके सिक्कों पर नाम या चित्रों द्वारा विद्यमान हैं। इससे सूचित होता है, कि कनिष्क सब धर्मों का सम्मान करता था, और सब के देवी-देवताओं को सम्मान की दृष्टि से देखता था। पर बाद में उसका झुकाव प्रधानतया बौद्ध धर्म के प्रति हो गया था, और आचार्य बुद्ध घोष द्वारा उसे बौद्ध धर्म में दीक्षित भी कर लिया गया था। पाटलिपुत्र से लगाकर मध्य एशिया तक कनिष्क के विशाल साम्राज्य का केन्द्र-बिन्दु गान्धार देश में था। इसीलिए उसने वहाँ पुष्पपुर नाम से एक नई नगरी का निर्माण कराया, और उसे अपने साम्राज्य की राजधानी नियत किया। यही पुष्पपुर आजकल का पेशावर है। कनिष्क के बाद वासिष्क, कनिष्क द्वितीय, हुविष्क और वासुदेव पुष्पपुर के राजसिंहसन पर आरूढ़ हुए। ये सब भारतीय धर्मों के अनुयायी थे, और भारतीय संस्कृति को इन्होंने पूर्णरूप से अपना लिया था।

अफगानिस्तान के इतिहास में कुशाणों का काल एक सुवर्ण-युग के समान था। इस वंश के राजाओं ने, विशेषतया कनिष्क ने वहाँ बहुत-से विहारों तथा स्तूपों का निर्माण कराया था। अफगानिस्तान के निवासियों में यवन, शक तथा पार्थियन लोग भी अच्छी बड़ी संख्या में थे। पर प्रायः उन सब ने भारतीय धर्म स्वीकार कर लिये थे, और वे भारतीय भाषा का प्रयोग करने लगे थे। ब्राह्मी और खरोष्ठी—दोनों ही लिपियाँ इस काल में वहाँ प्रचलित थीं। भारत की मूर्तिकला में इस समय एक नई शैली का विकास हुआ, जिसे 'गान्धार शैली' कहते हैं। यह शैली यवन (ग्रीक) और भारतीय शैलियों के सम्मिश्रण का परिणाम थी, और इस का विकास गान्धार के क्षेत्र से ही प्रारम्भ हुआ था। न केवल पुष्पपुर, अपितु पुष्करावती, नगरहार, कपिशा आदि इन प्रदेशों की पुरानी नगरियाँ भी इस काल में बौद्ध धर्म तथा भारतीय संस्कृति का महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन गई थीं। बौद्ध लोगों की दृष्टि में जो महत्त्व मगध का था, प्रायः वही इस काल में गान्धार का भी हो गया।

(३) हूण, तुर्क और मुसलिम काल

कुशाण साम्राज्य भी देर तक कायम नहीं रह सका। ईसा की दूसरी सदी में वह खण्ड-खण्ड होना प्रारम्भ हो गया। नाग भारशिव राजाओं ने भारत के मध्यदेश से कुशाणों के शासन का अन्त किया, और सातवाहनों ने दक्षिणापथ से। यौधेय, कुनिन्द आदि गणराज्य पंजाब तथा उसके समीपवर्ती प्रदेशों में स्वतन्त्र हो गए, और उनके कारण इनसे भी कुशाणों के प्रभुत्व का अन्त हो गया। पर अफगानिस्तान तथा उत्तर-पश्चिमी भारत इस समय भी कुशाणों की अधीनता में रहे, और उनके "देवपुत्र शाहिशाहानुशाही" राजाओं का शासन वहाँ कायम रहा। जब गुप्त वंश के प्रतापी राजा समुद्रगुप्त ने दिग्विजय द्वारा भारत में एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की, तो अफगानिस्तान क्षेत्र के शाहिशाहानुशाही राजा ने भी "आत्म-निवेदन, कन्योपायन, दान, और गरुड़ध्वज से अंकित आज्ञापत्रों के ग्रहण" आदि उपायों से गुप्त सम्राट् को सन्तुष्ट किया। समुद्रगुप्त के उत्तराधिकारियों में चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य (३७८-४१४ ई० प०) ने गान्धार-कम्बोज (अफगानिस्तान तथा उसके परे का प्रदेश) के कुशाण राजाओं को परास्त कर वाह्लीक देश पर आक्रमण किया और अपने साम्राज्य की सीमा को वंक्षु नदी तक विस्तृत किया। पर गुप्त वंश के सम्राट् इन प्रदेशों को देर तक अपने अधीन नहीं रख सके। इसका कारण हूणों का आक्रमण था।

हूणों के विषय में इसी अध्याय में ऊपर लिखा जा चुका है। उन्हीं के आक्रमणों के कारण युइशि लोग अपने प्राचीन निवास-स्थान को छोड़कर पश्चिम-दक्षिण की ओर अग्रसर होने को विवश हुए थे, और उनसे खदेड़े जाकर शक लोग ईरान, भारत और अफगानिस्तान की ओर आए थे। पर हूण लोग युइशियों के प्रदेश को अधिगत करके ही सन्तुष्ट नहीं हुए। उनकी एक शाखा ने गुप्त साम्राज्य पर हमला किया, और कम्बोज जनपद को जीत कर गान्धार में प्रविष्ट होना प्रारम्भ किया। ये सब प्रदेश उस समय गुप्त साम्राज्य के अन्तर्गत थे। गुप्त सम्राट् स्कन्द गुप्त (४५५-४६७ ई०) ने हूणों का डट कर मुकाबला किया, और उनकी गति को अवरुद्ध करने में सफलता प्राप्त की। पर बाद के गुप्तवंशी राजा हूणों के सम्मुख नहीं टिक सके। कम्बोज और गान्धार उनके कब्जे में आ गए, और सिन्ध नदी को पार कर उन्होंने पंजाब तथा सिन्ध को भी आक्रान्त करना प्रारम्भ कर दिया। पाँचवीं सदी के अन्तिम भाग में हूणों का राजा तोरमाण था। मध्य एशिया, कम्बोज और गान्धार के सब प्रदेश उसके शासन में थे। उसने सिन्ध के पूर्व में गुप्त साम्राज्य पर भी हमले किए, पर भानुगुप्त बालादित्य के विरुद्ध उसे विशेष सफलता नहीं हुई। तोरमाण के बाद मिहिरगुल हूणों का नेता बना। कल्हणकृत राजतरङ्गिणी में इसे 'त्रिकोटिहा' या तीन करोड़ मनुष्यों का संहार करने वाला कहा गया है। सुंग-युन ने मिहिरगुल के नृशंस कृत्यों का विशद रूप से वर्णन किया है। यह चीनी यात्री ५१८ से ५२२ ईस्वी तक बामियान (अफगानिस्तान) में रह रहा था, जो उस समय हूणों के राज्य का अन्यतम केन्द्र था। सुंग-युन ने गान्धार तथा उसके समीपवर्ती प्रदेशों का जो वर्णन लिखा है, उससे ज्ञात होता है कि

इन प्रदेशों में बहुत-से बौद्ध विहार और चैत्य तथा हिन्दू मन्दिर विद्यमान थे, और वे विद्या, ज्ञान तथा संस्कृति के महत्वपूर्ण केन्द्र थे। इसी का यह परिणाम हुआ, कि हूण लोग भी भारत के धर्म तथा संस्कृति के प्रभाव में आने से बचे नहीं रह सके। शुरू में हूणों ने असाधारण वर्बरता प्रदर्शित की थी, पर बाद में वे भारत के सम्पर्क में आकर इस देश के समाज के अंग बन गये थे। हूण राजा मिहिरगुल ने शैव धर्म को स्वीकार कर लिया था। उसके एक शिलालेख में लिखा है, कि स्थाणु शिव के अतिरिक्त वह किसी के सम्मुख सिर नहीं झुकाता था। उसके जो सिक्के मिले हैं, उन पर त्रिशूल और नन्दी चिह्न अंकित हैं, और 'जयतु वृष:' ये शब्द उत्कीर्ण हैं। बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार मिहिरगुल ने बौद्धों पर अत्याचार किये थे, और गान्धार में उनके विहारों तथा चैत्यों को नष्ट भी किया था। अफगानिस्तान के क्षेत्र में बौद्ध धर्म के ह्रास की प्रक्रिया का प्रारम्भ सम्भवत: हूणों के समय में ही हो गया था।

पर हूण लोग भी देर तक अफगानिस्तान के क्षेत्र को अपने शासन में नहीं रख सके। मंगोलिया के एक सुदूरवर्ती प्रदेश में तुर्क जाति का निवास था, जिसे चीनी लोग 'तू-कियू' कहते थे। छठी सदी ईस्वी में इस जाति के उत्कर्ष का प्रारम्भ हुआ, और ईरान के सासानी राजा खुसरो अनुशीरवां के साथ मिलकर उसने हूणों की शक्ति को नष्ट करने का प्रयत्न प्रारम्भ किया। छठी सदी का अन्त होने से पूर्व ही तुर्कों ने बल्ख से लगाकर हिन्दुकुश पर्वतमाला तक के सब प्रदेशों को अपने अधीन कर लिया था। ये प्रदेश पहले हूणों के अधीन थे। सातवीं सदी के पूर्वार्द्ध में जब चीनी यात्री ह्यु एन-त्सांग ने इन प्रदेशों की यात्रा की थी, तब ये सब तुर्कों के शासन में थे। हिन्दुकुश के दक्षिण में भी उन्होंने प्रवेश कर लिया था, और वहाँ भी अपना राज्य स्थापित कर लिया था। पर अफगानिस्तान तथा उसके समीपवर्ती प्रदेशों के ये नये शासक भी भारतीय धर्म तथा संस्कृति के प्रभाव में आये बिना नहीं रहे। उन्होंने भी बौद्ध धर्म को स्वीकार कर लिया, और वे बौद्ध भिक्षुओं तथा विद्वानों का अपने गुरुओं के समान आदर करने लगे। यही कारण है, कि जब प्रभाकरमित्र नाम का बौद्ध भिक्षु चीन जाते हुए तुर्कों की राजधानी में पहुँचा, तो उनके राजा सिहू-कगन ने उसका धूमधाम के साथ स्वागत किया (६२६ ईस्वी)। इसी प्रकार कुछ वर्ष पश्चात् जब चीनी यात्री ह्यु एन-त्सांग बौद्ध धर्म के अनुशीलन के लिए भारत आते हुए तुर्क राज्य में पहुँचा, तो सिहू-कगन ने न केवल उसका स्वागत किया, अपितु अपने विशाल साम्राज्य में निरापद रूप से उसकी यात्रा के सम्बन्ध में सब व्यवस्था भी कर दी। कुशाण वंश के बौद्ध राजाओं के समान बौद्ध धर्म के अनुयायी तुर्क राजाओं ने भी अनेक बौद्ध विहारों और चैत्यों का निर्माण कराया था। वू-कुंग नाम का चीनी यात्री ७५९ से ७६४ ईस्वी तक के काल में जब काश्मीर और गान्धार देशों में आया था, तो उसने एक तुर्क राजा द्वारा बनवाये हुए ऐसे विहारों को अपनी आँखों से देखा था। सातवीं सदी में अफगानिस्तान और उसके समीपवर्ती सब प्रदेश तुर्कों के शासन में रहे, पर इससे वहाँ भारतीय धर्म तथा संस्कृति की सत्ता में कोई अन्तर नहीं आया। तुर्कों ने बौद्ध धर्म को अपना लिया था, और बहुत-से संस्कृत ग्रन्थ उसी ढंग से तुर्की भाषा में अनुदित कराए गए

थे, जैसे कि चीनी और तिब्बती भाषाओं में। जब अरबों का तुर्कों से सम्पर्क हुआ, तो उन्होंने तुर्की में अनुदित संस्कृत ग्रन्थों का अरबी में अनुवाद किया।

सातवीं सदी में अरब में इस्लाम का प्रादुर्भाव हुआ। उसके प्रवर्तक हज़रत मुहम्मद ने न केवल एक नये धर्म का सूत्रपात किया, अपितु अरब के बहुत-से छोटे-छोटे राज्यों को एक सूत्र में संगठित कर अपने देश को एक शक्तिशाली राष्ट्र का रूप भी प्रदान किया। मुहम्मद के उत्तराधिकारियों ने अरब की इस नई शक्ति का उपयोग साम्राज्य के विस्तार के लिये किया, और उन्होंने चारों ओर आक्रमण प्रारम्भ किये। देखते-देखते सीरिया, मिस्र, उत्तरी अफ्रीका, स्पेन और ईरान अरबों के आधिपत्य में आ गये। ईरान को जीतकर अरब सेनाओं ने अफगानिस्तान पर आक्रमण किया, और कन्दहार, काबुल आदि की विजय कर ली। ६६३ ईस्वी में एक अरब सेना बल्ख की ओर अग्रसर हुई, और उसे भी जीत लिया गया। अरब के ये आक्रान्ता इन प्रदेशों की विजय करके ही सन्तुष्ट नहीं हो गये, उन्होंने वहाँ के निवासियों को इस्लाम में भी दीक्षित किया, जिसके परिणामस्वरूप अफगानिस्तान तथा बल्ख आदि से बौद्ध धर्म का अन्त हो गया। बामियान के तुर्क शासकों ने खलीफा अल-मन्सूर (७५४-७७५ ई०) के समय में इस्लाम की दीक्षा ग्रहण की, और काबुल के शासकों ने खलीफा मामूँ(८१३-८३३ ई०) के समय में। चीनी यात्री वू-कुंग ७५३ ई० में गान्धार आया था। वहाँ का वर्णन करते हुए वू-कुंग ने सुखावती और पद्मावती नामक दो बौद्ध-विहारों का उल्लेख किया है। चीन के बौद्ध साहित्य में कुधा (काबुल) के एक श्रमण का वर्णन मिलता है, जिसका नाम प्रज्ञा था और जिसने ७८५ ई० के लगभग अनेक बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया था। नौवीं सदी के एक शिलालेख में नगरहार के एक बौद्ध भिक्षु का उल्लेख है, जिसे पालवंशी राजा देवपाल ने नालन्दा विहार का प्रधान आचार्य नियुक्त किया था। ये सब तथ्य यह सूचित करने के लिए पर्याप्त हैं, कि आठवीं सदी के मध्य तक गान्धार में और नौवीं सदी के प्रारम्भ तक काबुल में बौद्ध धर्म फलफूल रहा था। पर इसके कुछ समय बाद ही अरबों के आक्रमणों के कारण इन प्रदेशों से बौद्ध धर्म का लोप हो गया, और भारतीय संस्कृति के स्थान पर वहाँ के निवासियों ने अरब की संस्कृति को अपनाना प्रारम्भ कर दिया।

अफगानिस्तान के क्षेत्र में बौद्ध तुर्कों और मुस्लिम अरबों के बीच जो संघर्ष हुए, उनका वृत्तान्त यहाँ लिख सकना सम्भव नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि खलीफा मामूँ के बाद भी इस क्षेत्र में बौद्ध धर्म की सत्ता रही, और कुछ स्थानीय बौद्ध राजा अपने-अपने प्रदेशों में स्वतन्त्रतापूर्वक शासन करते रहे। इस क्षेत्र में इस्लाम की सुदृढ़ रूप से स्थापना का प्रधान श्रेय याकूब को प्राप्त है जिसके पिता ने ईरान में एक नये तुर्क राजवंश का प्रारम्भ किया था। सातवीं सदी के शुरू होने से पहले ही अरबों ने ईरान को जीत लिया था, और वह बगदाद के खलीफाओं के शासन में आ गया था। पर नौवीं सदी के प्रारम्भ में तुर्कों ने बगदाद के अरब खलीफाओं की शक्ति का अन्त कर दिया, और उसके भग्नावशेषों पर जो अनेक तुर्क राज्य स्थापित किये, ईरान का तुर्क राज्य भी उनमें से एक था। अरब के सम्पर्क में आकर इन तुर्कों ने भी इस्लाम को स्वीकार

कर लिया था। ८७०-८७१ ईस्वी में याकूब ने वल्ख, बामियान—और काबुल को भी जीत लिया, और वहाँ जो अनेक बौद्ध राज्य अभी विद्यमान थे, उनकी समाप्ति कर दी। काबुल के जिस राजा को याकूब ने परास्त किया, वह जाति से तुर्क था और धर्म से बौद्ध। सम्भवतः, इसका नाम लगतूमनि था जिसे अल-बरूनी ने हिन्दू तुर्क वंश का अन्तिम राजा लिखा है। लगतूमनि का मन्त्री कल्लर नाम का एक ब्राह्मण था। उसने एक नये राजवंश की नींव डाली, जो 'हिन्दूसाही' या 'ब्राह्मण साही' नाम से प्रसिद्ध है। कल्लर के बाद इस वंश में सामन्द, कमलू, भीम, जयपाल, आनन्दपाल, तरलोचनपाल और भीमपाल राजा हुए। इस राज्य की राजधानी ओहिन्द (उद्‌भाण्डपुर) नगरी थी, और उत्तर-पश्चिमी भारत तथा पंजाब के सब प्रदेश इस राज्य के अन्तर्गत थे। हिन्दूसाही राजा तुरुष्कों (मुस्लिम तुर्कों) से निरन्तर युद्ध में व्यापृत रहे, और बाद में उन्होंने गान्धार तथा काबुल पर भी अधिकार कर लिया। हिन्दूसाही वंश के एक राजा के शासनकाल में चीनी यात्री की-ये गान्धार होता हुआ काश्मीर गया था। की-ये बौद्ध था, और वह तीन सौ बौद्ध भिक्षुओं के साथ यात्रा के लिए निकला था (९६० ई०)। उसके यात्रा विवरण से ज्ञात होता है, कि दसवीं सदी के मध्य तक भी गान्धार के प्रदेश में बौद्ध धर्म की सत्ता थी, और उद्‌भाण्डपुर के हिन्दूसाही राजा सफलता के साथ इस्लाम का सामना करने में तत्पर थे। पर वे देर तक मुस्लिम तुर्कों के सामने नहीं टिक सके। याकूब के आक्रमणों के परिणामस्वरूप अफगानिस्तान के अनेक प्रदेश मुस्लिम तुर्कों के शासन में आ गये थे, और वहाँ उन्होंने अपने पृथक् राज्य स्थापित कर लिए थे। इनमें एक गजनी का राज्य था, जिसका राजा सुबुक्तगीन (९७७-९९७ ई०) था। उसने हिन्दूसाही राज्य पर आक्रमण किया, और हिन्दुकुश पर्वतमाला के पूर्व के अनेक दुर्गों व नगरों को जीत लिया। नगरहार के उत्तर-पश्चिम के पहाड़ों की उस तराई को, जिसमें अलीशांग नदी काबुल नदी से मिलती है आजकल लमगान कहते हैं। प्राचीन समय में इसे लम्पाक कहते थे। सुबुक्तगीन ने इसे जीतने का प्रयत्न किया। खुर्रम नदी की घाटी में मुस्लिम तुर्कों और हिन्दूसाही राज्य की सेनाओं में घनघोर युद्ध हुआ। कन्नौज के राजा राज्यपाल और जभौती के राजा धंग की सेनाएँ इस युद्ध में हिन्दूसाही राजा जयपाल की सहायता कर रही थीं। युद्ध में सुबुक्तगीन विजयी हुआ, और लमगान पर मुसलिम तुर्कों का अधिकार हो गया। सुबुक्तगीन के बाद ९९७ ई० में उसका पुत्र महमूद गजनी की राजगद्दी पर बैठा। वह संसार के सबसे बड़े विजेताओं में स्थान रखता है। १००१ ई० में उसने लमगान से आगे बढ़कर पेशावर पर आक्रमण किया। जयपाल के पुत्र आनन्दपाल ने एक बड़ी सेना के साथ महमूद का डटकर सामना किया, पर उसे सफलता प्राप्त नहीं हुई। वह परास्त हो गया, और सिन्ध नदी के पश्चिम के सब प्रदेश हिन्दूसाही राज्य से महमूद ने जीत लिये। पर आनन्दपाल ने अब भी हिम्मत नहीं हारी। उसने पहले भेरा (नमक की पहाड़ियों के समीप) को अपनी राजधानी बनाया, और फिर भटिण्डा को। वहाँ से वह महमूद के विरुद्ध संघर्ष में तत्पर रहा। आनन्दपाल के पश्चात् तरलोचनपाल और भीमपाल ने भी इस संघर्ष को जारी रखा, पर महमूद के विरुद्ध वे सफल नहीं हो सके। परिणाम

यह हुआ, कि हिन्दूसाही राज्य का अन्त हो गया, और अफगानिस्तान तथा उसके समीपवर्ती सब प्रदेश मुस्लिम तुर्कों के शासन में आ गये। इस क्षेत्र के अन्तिम हिन्दू या भारतीय राज्य का अन्त १०२६ ईस्वी में हुआ था।

गजनी के तुर्क राजा इस्लाम के अनुयायी थे। अपने राज्य में उन्होंने बौद्ध तथा अन्य भारतीय धर्मों के मन्दिरों, विहारों तथा अन्य धर्मस्थानों का बुरी तरह से ध्वंस किया। अलबरूनी के शब्दों में महमूद गजनवी ने हिन्दुओं को खाक में मिला दिया था, और उसके भय से ही काश्मीर तथा वाराणसी सदृश ऐसे प्रदेशों में उन्होंने जाकर आश्रय ग्रहण किया था जो तुर्क सल्तनत के अन्तर्गत नहीं थे। पर महमूद भी भारतीय संस्कृति के प्रभाव से अपने को अछूता नहीं रख सकता था। उसके ऐसे सिक्के भी मिले हैं, जिन पर कलमे का संस्कृत अनुवाद "अव्यक्तमेकं अवतार मुहम्मद" ऐसा अंकित किया गया है। पर इसमें सन्देह नहीं, कि इस्लाम के जोश में तुर्क राजाओं ने अफगानिस्तान के हिन्दुओं और बौद्धों पर भयंकर अत्याचार किये, उनके धर्मस्थानों को ध्वंस किया और बलपूर्वक उन्हें इस्लाम को स्वीकार करने के लिये विवश किया। इसी का यह परिणाम हुआ, कि ग्यारहवीं सदी से अफगानिस्तान तथा उसके समीपवर्ती प्रदेशों से भारतीय संस्कृति का प्रभाव क्षीण हो गया। जो भारतीय यवन, शक, पार्थियन, युइशि तथा हूण जातियों को आत्मसात् कर सकने में समर्थ हुए थे, मुसलिम तुर्कों को वे अपने प्रभाव में नहीं ला सके।

धर्म और संस्कृति की दृष्टि से अफगानिस्तान यद्यपि भारत के प्रभाव में नहीं रहा, पर उसके मुसलिम शासक भी भाषा के क्षेत्र में भारत के प्रभाव को दूर नहीं कर सके। वहाँ की भाषाओं पर अब तक भी भारत का प्रभाव विद्यमान है, और उनका सम्बन्ध ईरान या अरब की अपेक्षा भारतीय भाषाओं से बहुत अधिक है।

जहाँ तक अफगानिस्तान और भारत के राजनीतिक सम्बन्ध का प्रश्न है, मुसलिम तुर्कों के साथ इस सम्बन्ध का सदा के लिये अन्त नहीं हो गया। मुगलों के साम्राज्य में अफगानिस्तान के भी अनेक प्रदेश अन्तर्गत थे, और अकबर तथा उसके उत्तराधिकारी मुगल बादशाहों का शासन काबुल के क्षेत्र में विद्यमान था, यद्यपि ईरान के राजा उसे अपनी अधीनता में लाने के लिए निरन्तर संघर्ष करते रहते थे।

(४) अफगानिस्तान के प्राचीन इतिहास की खोज का सूत्रपात

वर्तमान समय में अफगानिस्तान की जो दशा है, उसे देखकर यह कल्पना भी नहीं की जा सकती, कि किसी समय यह देश भारतीय सभ्यता, धर्म और संस्कृति का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। बौद्ध और सनातन हिन्दू धर्म के विहारों, चैत्यों और मन्दिरों के जो बहुत-से अवशेष वहाँ विद्यमान हैं, उनका भी किसी को पता नहीं था। उन्नीसवीं सदी में जब पाश्चात्य विद्वानों ने एशिया के विविध देशों के प्राचीन इतिहास की खोज प्रारम्भ की, और संस्कृत, पालि, चीनी आदि प्राच्य भाषाओं के साहित्य का अनुशीलन उन्होंने शुरू किया, तो उनका ध्यान अफगानिस्तान की ओर भी गया। पाँचवीं सदी में चीनी यात्री फाइयान मध्य एशिया और अफगानिस्तान होता हुआ भारत

आया था, और सातवीं सदी में ह्यु एन्त्सांग। बाद में अन्य भी अनेक चीनी यात्री बौद्ध धर्म तथा दर्शन का अध्ययन करने के लिए भारत आते रहे। प्रायः ये सभी यात्री मध्य एशिया तथा अफगानिस्तान के मार्ग से ही भारत आये थे। इन्होंने अपने देश लौटकर अपनी यात्रा के जो विवरण लिखे, उनमें भारत की उत्तर पश्चिमी-सीमा के परे के देशों का भी वर्णन किया। वहाँ जिन बौद्ध धर्म-स्थलों का इन्होंने अवलोकन किया, जिन विहारों में ये ठहरे और जिन राजाओं के ये सम्पर्क में आये, उनके वृत्तान्त को भी इन्होंने लेखबद्ध किया। चीनी यात्रियों के यात्रा-विवरण मध्य एशिया तथा अफगानिस्तान के प्राचीन इतिहास का परिज्ञान प्राप्त करने के बहुत प्रामाणिक तथा महत्त्वपूर्ण साधन हैं।

पर इनसे भी अधिक महत्त्व के वे भग्नावशेष है, जो अफगानिस्तान के विविध प्रदेशों में अब तक भी विद्यमान हैं। आधुनिक समय में इनसे किस प्रकार परिचय प्राप्त किया गया, इस सम्बन्ध में भी कुछ प्रकाश डालना उपयोगी होगा। उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भिक भाग में विलियम मूरक्राफ्ट नाम का एक अंग्रेज इस प्रयोजन से तुर्किस्तान गया था, ताकि ईस्ट इण्डिया कम्पनी के लिये वहाँ से घोड़े खरीदे जा सकें। मूरक्राफ्ट एक पशुचिकित्सक था, और तुर्किस्तान के घोड़ों का वह भारत में आयात करना चाहता था। जार्ज अरबीक नाम के एक अन्य अंग्रेज के साथ १८१९ में उसने भारत से प्रस्थान किया, और अनेक विघ्न-बाधाओं का सामना करते हुए वह काबुल के रास्ते से बोखारा पहुँचने में समर्थ हुआ। अपनी यात्रा को पूरा कर वे भारत नहीं लौट सके। १८२५ में उनकी मृत्यु हो गई। पर अपनी यात्रा का जो विवरण उन्होंने लिखा था, वह १८३१ में प्रकाशित किया गया, और उसके द्वारा पाश्चात्य विद्वानों का ध्यान उन स्तूपों तथा बामियान के गुहा-मन्दिरों की ओर आकृष्ट हुआ, अफगानिस्तान में जिन्हें मूरक्राफ्ट ने अपनी आँखों से देखा था, और जिनका वर्णन उसने अपने यात्रा-विवरण में लिखा था। इसी समय अलेग्जैन्डर बर्नेस नाम के एक अंग्रेज अफसर के मन में यह बात आयी, कि उस मार्ग का अवगाहन किया जाना चाहिये जिसका अनुसरण कर सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण किया था। अपने मित्र डा० जेम्स गेरार्ड के साथ उसने पंजाब से पेशावर होते हुए अफगानिस्तान में प्रवेश किया, और हिन्दुकुश पर्वमाला को पार कर वह बोखारा पहुँच जाने में समर्थ हुआ (१८३२)। बर्नेस ने अपनी इस यात्रा का जो विवरण लिखा, उसमें उन स्तूपों, गुहा-मन्दिरों और बुर्जों आदि का भी वर्णन किया, जो उसने जलालाबाद तथा काबुल के प्रदेशों में देखे थे। बामियान के गुहा-मन्दिरों ने बर्नेस को विशेष रूप से आकृष्ट किया था। इनके विषय में उसने आश्चर्य के साथ यह लिखा, कि बामियान की ये गुफाएँ मुहम्मद से भी पहले के उस समय की हैं, जबकि इस क्षेत्र में 'काफिरों' का निवास था और जब वहाँ 'जोहक' (Zohak) का शासन था, जिसका काल ईसाई धर्म के प्रादुर्भाव से भी पहले था। बर्नेस के साथ इस यात्रा में मोहनलाल नामक एक काश्मीरी भी गया था, जिसे फारसी भाषा का अच्छा ज्ञान था। इसी समय के लगभग चार्ल्स मैस्सन नाम के अमेरिकन ने भी इस प्रयोजन से अफगानिस्तान का अवगाहन किया, ताकि उस अलैग्ज़ेण्ड्रिया नगरी के स्थान का ठीक-ठीक पता लगाया जा सके,

जिसे कोकेशस पर्वत की उपत्यका में सिकन्दर ने स्थापित किया था। मैस्सन १८३४ से १८३७ तक अफगानिस्तान में रहा, और उसने काबुल तथा जलालाबाद के क्षेत्र में स्थित बहुत-से स्तूपों को पता लगाया। वहाँ से उसने बहुत-से प्राचीन सिक्के, धातु-मञ्जूषाएँ तथा अन्य पुरानी वस्तुएँ भी प्राप्त कीं। काबुल नगरी के उत्तर-पश्चिम में २५ मील के लगभग दूरी पर स्थित बेग्रम के एक पुराने डूह से उसने ३०,००० से भी अधिक प्राचीन सिक्के प्राप्त किये। ये सिक्के यवन, शक, सासानी, हिन्दू तथा मुस्लिम राजाओं के थे, और अफगानिस्तान के प्राचीन इतिहास का अनुशीलन करने के लिये अत्यन्त उपयोगी थे। मैस्सन द्वारा की गई खोज के विवरण एशियाटिक सोसायटी की पत्रिका में प्रकाशित हुए, जिन्हें पढ़कर यूरोप के विद्वानों का ध्यान अफगानिस्तान के प्राचीन इतिहास की ओर आकृष्ट हुआ। पर वे और अधिक शोध के लिये अफगानिस्तान नहीं जा सके, क्योंकि १८३९ में अंग्रेजों और अफगानों में युद्ध प्रारम्भ हो गया था, और अफगानिस्तान के राजा ने विदेशियों के अपने देश में प्रवेश को निषिद्ध कर दिया था। इस युद्ध में विन्सेन्ट आयर नाम का एक अंग्रेज सैनिक अफगानों के हाथ कैद हो गया था। बन्दी जीवन व्यतीत करते हुए भी उसने बामियान के गुहा-मन्दिरों का अवगाहन किया, और इनके सम्बन्ध में जो विवरण लिखा, उसे पढ़कर विद्वानों की अफगानिस्तान के प्राचीन अवशेषों में दिलचस्पी बहुत बढ़ गई। कुछ समय पश्चात् फेरिये नामक एक फ्रेञ्च अफसर ने स्थल मार्ग द्वारा बगदाद से लाहौर तक की यात्रा की। अफगानिस्तान से गुजरते हुए उसने सिंगलक नामक स्थान पर ऐसे बौद्ध गुहा-मन्दिरों को देखा जिन्हें विशाल पर्वत शिलाओं को काटकर बनाया गया था। १८७८-८० के अफगान युद्ध के समय विलियम सिम्पसन नामक अंग्रेज संवाददाता ने जलालाबाद के बौद्ध स्तूपों और गुहा-मन्दिरों का अवलोकन किया, और उनका विस्तृत विवरण रायल एशियाटिक सोसायटी के जर्नल में प्रकाशित कराया (१८८२)। इस विवरण में चित्रों का भी प्रयोग किया गया था, जिससे बौद्ध युग के इन भग्नावशेषों को सजीव रूप में देख सकने का विद्वानों को अवसर मिला। १८८५ ई० में लार्ड डफरिन की सरकार द्वारा एक कमीशन की नियुक्ति की गई थी, जिसे अफगानिस्तान और रूस के बीच की सीमा को निर्धारित करने का कार्य सुपुर्द किया गया था। इस कमीशन के अफसरों ने बामियान के गुहा-मन्दिरों का एक अत्यधिक विशद विवरण तैयार किया।

सन् १९२२ में अफगानिस्तान के राजा ने अपने देश में पुरातत्त्व-सम्बन्धी खोज करने का एकाधिकार तीस वर्षों के लिए फ्रांस को प्रदान कर दिया। फ्रांस ने इस कार्य के लिए जो मण्डली नियुक्त की, उसके नेता डा० फूशे थे। फूशे के पथ-प्रदर्शन में फ्रांस के विद्वानों ने अफगानिस्तान के पुरातत्त्व सम्बन्धी प्राचीन अवशेषों के अन्वेषण तथा अध्ययन के लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य किया। इस अध्ययन के परिणाम अब प्रकाशित हो चुके हैं, और उन द्वारा अफगानिस्तान के प्राचीन इतिहास के उस युग का सही-सही चित्र हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाता है जबकि उस देश के निवासी बौद्ध आदि भारतीय धर्मों के अनुयायी थे, भारतीय भाषाएँ एवं लिपियाँ वहाँ प्रयुक्त होती थीं और वहाँ भी उसी ढंग के विहार, चैत्य, मन्दिर आदि विद्यमान थे, जैसे कि भारत में थे। वस्तुतः,

उस युग का अफगानिस्तान भारत का ही एक अंग था। मध्य एशिया, ईरान और भारत के मध्य में स्थित होने के कारण इस देश में यद्यपि अनेक जातियों तथा धर्मों का सम्मिश्रण हुआ, पर वहाँ भारतीय संस्कृति का ही प्राधान्य रहा। यवन, शक, युइशि, पार्थियन, हूण आदि जो भी जातियाँ इस प्रदेश में प्रविष्ट हुईं, वे कुछ समय के लिए वहाँ अपने-अपने राज्य स्थापित करने में अवश्य सफल हुईं, पर धर्म, संस्कृति, भाषा आदि के क्षेत्र में वे भारत से पराजित ही होती रहीं। अपनी विशेषताओं को कायम रखते हुए भी ये जातियाँ भारतीय संस्कृति के रंग में रंग गईं।

पुरातत्त्व सम्बन्धी खोजों तथा चीनी यात्रियों के विवरणों द्वारा अफगानिस्तान की प्राचीन सभ्यता और संस्कृति पर जो प्रकाश पड़ता है, हम उसका अगले प्रकरणों में उल्लेख करेंगे।

(५) चीनी यात्रियों के विवरणों के अनुसार अफगानिस्तान का धर्म तथा संस्कृति

प्राचीन काल में चीन के अनेक भिक्षु बौद्ध धर्म का गम्भीर अध्ययन करने और अपने धर्म के पवित्र तीर्थ-स्थानों की यात्रा के प्रयोजन से स्थल मार्ग द्वारा भारत आये थे। मध्य एशिया और अफगानिस्तान होते हुए ही इन्होंने भारत में प्रवेश किया था। इनके यात्रा विवरणों द्वारा प्राचीन अफगानिस्तान के धर्म तथा संस्कृति के सम्बन्ध में बहुत कुछ जानकारी प्राप्त की जा सकती है। अपनी आँखों से देखकर इन्होंने जो लिखा, उसकी प्रामाणिकता असंदिग्ध है।

फाइयान—यह चीनी यात्री पाँचवीं सदी के प्रारम्भ में भारत आया था। अफगानिस्तान के जिन स्थानों पर वह ठहरा, उनके सम्बन्ध में उसके निम्नलिखित विवरण उल्लेखनीय हैं—

"कुफेन (काबुल) में एक सहस्र से अधिक भिक्षु हैं। सब महायान सम्प्रदाय के अनुयायी हैं।"

"वू-चांग (उद्यान) से उत्तरी भारत प्रारम्भ हो जाता है। इस देश में वही भाषा बोली जाती है, जो (भारत के) मध्य देश में प्रयुक्त होती है। यहाँ के निवासियों का पहरावा, भोजन तथा पान भी मध्य देश के लोगों के सदृश है। बुद्ध का धर्म यहाँ भलीभाँति फलफूल रहा है। जिस स्थान पर श्रमण और भिक्षु निवास करते हैं, उसे संघाराम कहा जाता है। यहाँ ५०० संघाराम हैं, जिनका सम्बन्ध हीनयान सम्प्रदाय के साथ है। यदि कोई भिक्षु बाहर से इन संघारामों में आता है, तो इनमें तीन दिन के लिये उसके निवास आदि की सब व्यवस्था कर दी जाती है।"

"गान्धार के सब निवासी हीनयान के अनुयायी हैं। यह वही प्रदेश है, जहाँ अशोक के समय में उसका पुत्र धर्मवर्धन शासक के रूप में नियुक्त था। बुद्ध ने अपने एक पूर्वजन्म में, जबकि वह बोधिसत्त्व था, एक मनुष्य को यहीं पर चक्षुदान किया था। यहाँ एक चैत्य विद्यमान है, जो सोने और चाँदी से मण्डित है। तक्षशिला में राजा, मन्त्री और जनसाधारण सब स्तूपों की पूजा करते हैं। इन पर पुष्प और दीप

चढ़ाने वालों का ताँता कभी नहीं टूटता।"

"पुरुषपुर (पेशावर) में सात सौ से अधिक श्रमण व भिक्षु होंगे।" यहाँ के एक स्तूप के विषय में फाइयान ने लिखा है, कि वह जम्बूद्वीप में सबसे ऊँचा स्तूप है, और बहुत-से मणिमाणिक्य से मण्डित है।

"(पेशावर) से १६ योजन की दूरी पर नगरहार का प्रदेश है, जिसकी सीमा पर हड्डा (हे ली) नगर है। यहाँ के विहार पर सोने के पत्ते चढ़े हैं, और सप्तरत्न जड़े हैं। इस विहार में बुद्ध के सिर की एक अस्थि है, जिसकी रक्षा के लिये यहाँ के राजा ने अपने राज्य के सर्वप्रधान परिवारों के व्यक्तियों को नियुक्त किया हुआ है। प्रत्येक व्यक्ति द्वार पर अपनी मुहर लगा देता है, जिससे कि धातु की सुरक्षा सम्भव हो सके। प्रातः काल इन मुहरों की जाँच की जाती है, और तब द्वार खोला जाता है। फिर सुगन्धित जल से अपने हाथ धोकर ये व्यक्ति अस्थि को विहार से बाहर लाते हैं, और उसे एक सिंहासन पर रख देते हैं।"

"हड्डा से एक योजन उत्तर में नगरहार की राजधानी है। यहाँ एक विहार है, जो बुद्ध के दाँत पर बनाया गया है। इसकी भी उसी ढंग से पूजा की जाती है, जैसे कि हड्डा में बुद्ध के मस्तक की अस्थि की।"

"रोही (अफगानिस्तान में) के समीप ३००० श्रमण और भिक्षु निवास करते हैं। हीनयान और महायान दोनों सम्प्रदायों के अनुयायी इनमें हैं।"

"रोही से दक्षिण की ओर दस दिन की यात्रा के बाद बन्नू है। यहाँ ३००० से अधिक श्रमण और भिक्षु निवास करते हैं। ये सब हीनयान सम्प्रदाय के अनुयायी हैं।"

कुछ समय बन्नू रहकर फाइयान ने सिन्धु नदी को पार किया, और वह पंजाब में आ पहुंचा। सिन्ध नदी के पश्चिम के प्रदेशों में वर्तमान समय में पठानों का निवास है, जो इस्लाम के अनुयायी हैं। पर फाइयान के समय में पख्तूनिस्तान तथा अफगानिस्तान के इन प्रदेशों में बौद्ध धर्म का प्रचार था, और वहाँ बहुत-से विहार, चैत्य तथा स्तूप विद्यमान थे, जिनमें हजारों श्रमण और भिक्षु निवास करते थे।

ह्यु एन्-त्सांग—इस चीनी यात्री ने सातवीं सदी के पूर्वार्द्ध में भारत की यात्रा की थी, और इसने भारत आने के लिए मध्य एशिया तथा अफगानिस्तान के स्थल मार्ग का अनुसरण किया था। ह्यु एन्-त्सांग ने इन देशों की यात्रा करते हुए केवल बौद्ध साहित्य व धर्म का ही अध्ययन नहीं किया, अपितु इनकी सामाजिक दशा, रीति-रिवाज, विश्वास तथा ऐतिहासिक अनुश्रुति आदि का भी गम्भीरतापूर्वक अनुशीलन किया। उसने जो यात्रा-विवरण लिखा है, वह ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व का है। अफगानिस्तान के विविध प्रदेशों तथा नगरों के सम्बन्ध में जो बहुत-सी बातें ह्यु एन्-त्सांग ने लिखी हैं, उनमें से कुछ को हम यहाँ उद्धृत करते हैं—

१. बामियान का प्रदेश हिम से ढके पर्वतों से घिरा हुआ है। यहाँ बहुत सरदी पड़ती है। फूल और फल यहाँ नहीं होते। गेहूँ उत्पन्न होता है, और भेड़, बकरी तथा घोड़ों के लिए यहाँ उत्तम चरागाह विद्यमान हैं। बामियान में दसों बौद्ध विहार हैं, जिनमें हजारों भिक्षु निवास करते हैं। ये हीनयान के लोकोत्तरवादी सम्प्रदाय के

अनुयायी हैं। बामियान की राजधानी के उत्तर-पूर्व में बुद्ध की एक विशाल मूर्ति है, जो पत्थर की बनी हुई है और ऊँचाई में १५० फीट के लगभग है। यह मणि-रत्नों से जटित है। इस मूर्ति के पूर्व में एक विहार है, जिसे इस देश के एक पुराने राजा ने बनवाया था। इसके पूर्व में शाक्यमुनि बुद्ध की मूर्ति है, जो ऊँचाई में १०० फीट है। बामियान की राजधानी से तीन मील पूर्व की ओर बुद्ध की १००० फीट लम्बी मूर्ति है, जिसे लेटी हुई (निर्वाण की) दशा में बनाया गया है। यहाँ प्रति पाँच वर्ष के पश्चात् राजा द्वारा एक सभा की जाती है, जिसमें वह अपना सर्वस्व दान कर देता है।

कपिशा का राजा क्षत्रिय जाति का है, और बौद्ध धर्म का अनुयायी है। वह हर साल बुद्ध की एक चाँदी की मूर्ति बनवाता है, जो १८ फीट ऊँची होती है। उसके द्वारा एक मोक्ष-परिषद् का भी प्रतिवर्ष आयोजन किया जाता है, जिसमें निर्धनों, विधवाओं तथा विधुरों को उदारतापूर्वक दान दिया जाता है। यहाँ १०० से भी अधिक विहार हैं, जिनमें ६००० से भी अधिक श्रमण व भिक्षु निवास करते हैं। ये प्रधानतया महायान सम्प्रदाय के अनुयायी हैं। यहाँ के विहार और स्तूप अत्यन्त विशाल हैं, और अच्छी दशा में हैं। दसों की संख्या में यहाँ अन्य धर्मों के भी मन्दिर हैं, जिनमें एक हजार से ऊपर दिगम्बर तथा पाशुपत आदि सम्प्रदायों के अनुयायी साधु निवास करते हैं। कपिशा से एक मील के लगभग पूर्व में एक विशाल संघाराम है, जो पर्वत की उपत्यका में स्थित है। इसमें ३०० के लगभग भिक्षुओं का निवास है। ये भिक्षु हीनयान सम्प्रदाय के अनुयायी हैं। राजा कनिष्क ने जब उत्तर तथा पश्चिम के दूर-दूर के प्रदेशों को जीत कर अपने अधीन कर लिया, तो उनके पड़ौस के कतिपय कबीलों ने कनिष्क के भय से कुछ प्रमुख व्यक्तियों को उसके दरबार में बन्धक के रूप में भेज दिया था। कनिष्क ने इन बन्धकों के प्रति उत्तम बरताव किया, और शीत तथा ग्रीष्म ऋतुओं में इनके निवास के लिए पृथक्-पृथक् व्यवस्था की। सरदियों में ये भारत में निवास करते थे, और गरमियों में कपिशा में। कपिशा से एक मील पूर्व की ओर जो संघाराम है, उसका निर्माण इन बन्धकों के निवास के लिए ही कराया गया था। इस संघाराम की दीवारों पर जो चित्र बने हुए हैं, वे इन बन्धकों के ही हैं। बाद में जब इन बन्धकों को अपने देश वापस लौट जाने दिया गया, तो भी ये इस संघाराम को नहीं भूले और यहाँ पूजा के निमित्त भेंट भेजते रहे।

नगरहार के निवासी प्रधानतया बौद्ध धर्म के अनुयायी हैं, यद्यपि वहाँ अन्य देवी-देवताओं के भी पाँच मन्दिर विद्यमान हैं, जिनमें सौ के लगभग साधु निवास करते हैं। नगरहार के पूर्व में ३०० फीट ऊँचा एक स्तूप है, जिसे राजा अशोक ने बनवाया था। नगर के पश्चिम में एक संघाराम है, जिसमें निवास करने वाले भिक्षुओं की संख्या बहुत कम है। नगरहार के बीच एक ऐसा स्तूप है, जिसकी केवल नींव ही इस समय शेष है। अनुश्रुति के अनुसार इसका निर्माण बुद्ध के एक दाँत के ऊपर कराया गया था। पर अब न यहाँ कोई दाँत है, और न स्तूप। पुराने स्तूप की केवल नींव ही विद्यमान है। पर इसके समीप ही एक अन्य स्तूप है, जिसकी ऊँचाई ३० फीट है। यह कब बना और इसे किसने बनवाया, इस विषय में लोग कुछ नहीं जानते। वे समझते हैं कि यह

आकाश से गिरा था और किसी मनुष्य की कृति न होकर देवताओं द्वारा निर्मित है। नगरहार के दक्षिण-पश्चिम में चार मील की दूरी पर एक संघाराम है, जिसके समीप राजा अशोक द्वारा बनवाया हुआ २०० फीट ऊँचा एक स्तूप है। पर इस संघाराम में भी कोई रौनक नहीं है।

नगरहार के दक्षिण-पूर्व में हड्डा नगर है। यहाँ एक स्तूप है, जिस पर सप्तरत्न जड़े हैं। इसमें तथागत बुद्ध के सिर की एक अस्थि विद्यमान है, जिसकी परिधि १४ इन्च के लगभग है। इसी नगर में एक अन्य स्तूप है, जिसमें तथागत की आँख रखी हुई है। यहाँ एक मञ्जूषा में बुद्ध का एक वस्त्र तथा दण्ड भी सुरक्षित हैं। लोग इनकी श्रद्धापूर्वक पूजा करते हैं, और यह मानते हैं कि इनकी पूजा से अभिलषित फल की प्राप्ति की जा सकती है।

गान्धार की राजधानी पुरुषपुर है। इसकी स्वतन्त्रता व पृथक् सत्ता अब नष्ट हो चुकी है, और यह अब कपिशा के राजा के अधीन है। गान्धार के नगर और गाँव उजड़ी हुई दशा में हैं, और वहाँ की आबादी बहुत है। इस देश में बौद्ध धर्म का अधिक प्रचार नहीं है, लोग प्रायः अन्य धर्मों के अनुयायी हैं। यहाँ अब भी एक हजार के लगभग संघाराम विद्यमान है, पर वे उजाड़ पड़े हैं। उनमें झाड़-झंकाड़ उग आये हैं। यही दशा स्तूपों की भी है। यहाँ सौ के लगभग देवी-देवताओं के मन्दिर हैं, जिनमें विधर्मी सम्प्रदाओं के साधु अच्छी बड़ी संख्या में निवास करते हैं। पुरुषपुर नगरी के उत्तर-पूर्वी भाग में पुराने युग के भग्नावशेष विद्यमान हैं, जो एक ऐसे स्तूप के हैं जिसका निर्माण भगवान् बुद्ध के भिक्षापात्र के लिए किया गया था। कई सदियों तक यहाँ इस भिक्षापात्र की पूजा होती रही। पर बाद में इसे अन्य देशों में ले जाया गया, और अब पर्शिया में है। नगरी के बाहर राजा कनिष्क द्वारा बनवाया हुआ एक स्तूप है, जो अपने मूल रूप में ४०० फीट से भी अधिक ऊँचा था। आधार में इसकी परिधि ६०० गज के लगभग थी। लोगों का विश्वास है कि इसकी पूजा से असाध्य रोगों की चिकित्सा हो सकती है। इसीलिए वे यहाँ धूप जलाते हैं, और इस पर फूल चढ़ाते हैं। इस विशाल स्तूप के दक्षिण-पश्चिम में सौ कदमों की दूरी पर बुद्ध की एक मूर्ति है, जो श्वेत पत्थर की बनी हुई है और ऊँचाई में अठारह फीट है। विशाल स्तूप के पश्चिम की ओर एक संघाराम है। इसका निर्माण भी राजा कनिष्क द्वारा कराया गया था। यह अब भग्न दशा में है, पर इसके अवशेषों से यह भलीभाँति अनुमान लगाया जा सकता है, कि पहले यह कितना शानदार तथा विशाल होगा। यहाँ निवास करने वाले भिक्षु संख्या में अधिक नहीं हैं, और वे हीनयान सम्प्रदाय के अनुयायी हैं। पर इस संघाराम में बहुत-से ऐसे व्यक्ति निवास कर चुके हैं, जो शास्त्रों के अगाध विद्वान थे और जिन्होंने अर्हत् पद भी प्राप्त कर लिया था। इसी संघाराम के एक भाग में कभी आचार्य पार्श्व निवास करते थे, जो त्रिपिटक के प्रकाण्ड पण्डित थे और जिन्होंने त्रिविद्या (अनित्य, दुःख और अनात्म) का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया हुआ था। पार्श्व के निवास-स्थान के समीप ही एक पुरानी इमारत है, जहाँ रहते हुए आचार्य वसुबन्धु ने अभिधर्म-कोषशास्त्र की रचना की थी। वसुबन्धु के मकान से पचास कदम की दूरी एक दुमंजिली इमारत है,

जहाँ रहकर शास्त्रों के आचार्य मनोरथ ने विभाषाशास्त्र लिखा था।

पुष्कलावती (पश्चिमी गान्धार की प्राचीन राजधानी) के पश्चिमी द्वार के बाहर एक देव-मन्दिर है, जिसमें प्रतिष्ठापित मूर्ति अत्यन्त भव्य तथा चमत्कारपूर्ण है। पुष्कलावती के पूर्व में राजा अशोक द्वारा निर्मित एक स्तूप है। यही वह स्थान है, जहाँ रहते हुए आचार्य वसुमित्र ने अभिधर्म-प्रकरणपद शास्त्र की रचना की थी। नगर के उत्तर में एक पुराना संघाराम है, जहाँ कभी सँयुक्ताभिधर्मशास्त्र का रचयिता आचार्य धर्मत्रात निवास करता था। इस संघाराम के समीप राजा अशोक द्वारा निर्मित एक स्तूप है, जो ऊँचाई में कई सौ फीट है।

पुष्कलावती से ४० मील के लगभग दूर पो-लू-शा (वर्तमान पालो ढेरी) है, जहाँ हीनयान और महायान दोनों सम्प्रदायों के संघाराम विद्यमान हैं। यहाँ भी राजा अशोक द्वारा बनवाया हुआ एक स्तूप है। यहीं रहकर आचार्य ईश्वर ने संयुक्ताभिधर्म-हृदयशास्त्र की रचना की थी। पो-लू-शा के उत्तर-पूर्व में दन्तलोक नामक पर्वत है, जिसके शिखर पर राजा अशोक ने एक स्तूप का निर्माण कराया था। यहाँ से २० मील के लगभग दूर वह स्थान है, जहाँ कभी ऋषि एकशृंग निवास करते थे।

पो-लू-शा से १० मील दूर एक ऊँची पहाड़ी है, जहाँ पत्थर काटकर भीमादेवी की मूर्ति बनायी गई है। इसके बारे में अनेक चमत्कार कहे जाते हैं। यही कारण है, जो दूर-दूर से श्रद्धालु नर-नारी इसके दर्शन तथा पूजा के लिए आते हैं। भीमादेवी के मन्दिर के दक्षिण-पूर्व में ५० मील के लगभग दूर उदखण्ड नगर है। यह व्यापार का महत्त्वपूर्ण केन्द्र है, और दूर-दूर के व्यापारी अपना पण्य लेकर यहाँ आते हैं। उदखण्ड से चार मील उत्तर-पश्चिम में पो-लो-तु-लो (शलातुर) की स्थिति है, जहाँ संस्कृत के प्रसिद्ध वैयाकरण आचार्य पाणिनि निवास करते थे।

उद्यान (पेशावर या पुरुषपुर के उत्तर-पश्चिम में स्वात नदी की घाटी का प्रदेश) के निवासी महायान सम्प्रदाय के अनुयायी हैं, और बुद्ध के प्रति अगाध श्रद्धा रखते हैं। यहाँ अंगूर और अन्य फल प्रचुरता से होते हैं, और यहाँ की भूमि भी सुवर्ण तथा लोहे से परिपूर्ण है। यहाँ की भाषा भारत की भाषा से मिलती-जुलती है। सुवास्तु (स्वात) नदी के दोनों तटों पर १४०० के लगभग पुराने संघाराम हैं, जो अब उजड़ गए हैं। पहले कभी इनमें १८,००० से भी अधिक श्रमण और भिक्षु निवास करते थे, पर बाद में उनकी संख्या में निरन्तर कमी आती गई और अब वहाँ बहुत कम भिक्षु रह गए हैं। ये भिक्षु महायान के सर्वास्तिवादी, धर्मगुप्त, महीसासिक, कश्यपीय और महासांघिक सम्प्रदायों के अनुयायी हैं। उद्यान देश की राजधानी मुंगली (वर्तमान मिंगलौर) है, जिसके पूर्व में एक विशाल स्तूप विद्यमान है। मुँगली के दक्षिण में ४० मील की दूरी पर महावन संघाराम है। उसके दक्षिण-पश्चिम में मसूर संघाराम की सत्ता है, जिसके साथ १०० फीट ऊँचा एक स्तूप है। यह सम्पूर्ण प्रदेश स्तूपों और विहारों से परिपूर्ण है। मुंगली के उत्तर-पूर्व में २०० मील की दूरी पर ता-ली-लो की घाटी है, जहाँ सौ फीट से भी ऊँची मैत्रेय बुद्ध की एक मूर्ति है। इसका निर्माण अर्हत मध्यन्तिक द्वारा कराया गया था। ता-ली-लो से पर्वत-शृंखलाओं को पार कर पो-लू-लो

(बोलोर या बालटिस्तान) का प्रदेश है। यहाँ सौ के लगभग संघाराम हैं। जिनमें हजार के लगभग भिक्षु निवास करते हैं।

ह्यु एन्-त्सांग ने अफगानिस्तान के प्रदेश में स्थित संघारामों, विहारों तथा स्तूपों आदि का जिस ढँग से वर्णन किया है, उसका यहाँ अत्यन्त संक्षेप के साथ उल्लेख किया गया है। पर इसे पढ़कर उस युग के अफगानिस्तान के धर्म तथा संस्कृति का एक स्पष्ट चित्र हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाता है। सातवीं सदी के पूर्वार्द्ध में यह सम्पूर्ण प्रदेश भारतीय धर्मों तथा सभ्यता का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। वहाँ हजारों संघाराम तथा स्तूप आदि विद्यमान थे, और पौराणिक हिन्दू धर्म के विविध सम्प्रदायों के बहुत-से मन्दिरों की भी वहाँ सत्ता थी। इस युग से पूर्व ही भारत में बौद्ध धर्म का ह्रास प्रारम्भ हो चुका था। उसका प्रभाव अफगानिस्तान पर भी पड़ा था, और वहाँ भी इस धर्म के ह्रास की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गई थी।

(६) अफगानिस्तान में भारतीय संस्कृति के अवशेष

प्राचीन काल में गान्धार और कपिशा भारतीय सभ्यता और संस्कृति के महत्त्वपूर्ण केन्द्र थे। ये प्राचीन जनपद इस समय अफगानिस्तान राज्य के अन्तर्गत हैं, यद्यपि गान्धार का एक भाग पाकिस्तान में है। पूर्वी गान्धार की राजधानी तक्षशिला थी, और पश्चिमी गान्धार की पुष्कलावती। इन दोनों नगरियों के समीपवर्ती प्रदेश पुराने साँस्कृतिक अवशेषों से परिपूर्ण हैं। भारतीय कला की जिस शैली को 'गान्धार कला' कहा जाता है, उसका विकास प्रधानतया तक्षशिला में ही हुआ था। वहाँ के भग्नावशेषों में धर्मराजिका स्तूप सबसे प्रसिद्ध है। यह स्तूप एक गोलाकार चबूतरे पर बना है। चबूतरे के बाह्य भाग पर नानाविध अलंकरण है और बोधिसत्वों की मूर्तियों को स्थापित करने के लिए बहुत-से आले बने हुए हैं। पुष्कलावती के भग्नावशेषों में सबसे महत्त्वपूर्ण हारिती का मन्दिर है, जो बहुत विशाल है। इसके समीप ही बालाहिसार में कुणाल का स्तूप है। यह स्तूप उस स्थान पर बनवाया गया था, जहाँ कि अशोक की आज्ञा के अनुसार कुणाल को अन्धा किया गया था। बालाहिसार के समीप पलटूढेरी नामक स्थान है। वहाँ भी अनेक बौद्ध मूर्तियाँ तथा स्तूपों आदि के अवशेष मिले हैं। इनमें बुद्ध की महाभिनिष्क्रमण की मूर्ति विशेष महत्त्व की है। एक मूर्ति में दीपंकर जातक की उस कथा को अंकित किया गया है, जिसमें सुमेध नामक युवक ने दीपंकर बुद्ध के पैरों को मैला होने से बचाने के लिए अपने बाल कीचड़ पर बिछा दिये थे। पुष्कलावती के समीप ही सहरी बहलोल है। वहाँ भी बुद्ध, बोधिसत्वों आदि की बहुत-सी मूर्तियाँ विद्यमान हैं, और अनेक प्रस्तर-फलकों पर बुद्ध के जीवन की विविध घटनाओं को मूर्तिरूप से उत्कीर्ण किया गया है। बुद्ध का जन्म, तपस्या, धर्मचक्रप्रवर्तन आदि को मूर्तियों में चित्रित कर जातक कथाओं को भी वहाँ प्रस्तर-शिल्प द्वारा प्रस्तुत किया गया है। सहरी बहलोल के उत्तर में तख्ते बाही है। वहाँ भी अनेक विहारों, स्तूपों और चैत्यों के भग्नावशेष विद्यमान है, और बुद्ध तथा बोधिसत्त्वों की बहुत-सी मूर्तियाँ भी वहाँ पायी गई हैं। कतिपय प्रस्तर-फलकों पर जातक कथाएँ भी अंकित हैं। पुष्कलावती

का क्षेत्र प्राचीन भारतीय संस्कृति के अवशेषों की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध है।

पुष्कलावती के दक्षिण में पेशावर (पुरुषपुर) है। उसके समीप शाह जी की ढेरी नामक स्थान हैं, जहाँ से कनिष्क के विशाल स्तूप के भग्नावशेष प्राप्त हुए हैं। फाइयान और ह्यु एन्-त्सांग ने इस स्तूप का जो वर्णन लिखा है, उसे इसी अध्याय में ऊपर दिया जा चुका है। इस स्तूप के भग्नावशेषों में सोने का पानी चढ़ाई हुई एक ताम्र मंजूषा मिली है। जिसकी ऊँचाई ६ फीट के लगभग है। मंजूषा के ढक्कन पर पद्मासन में विराजमान बुद्ध की प्रतिमा अंकित है। बुद्ध के दायीं ओर इन्द्र है, और बायीं ओर ब्रह्मा। दोनों ने हाथ जोड़े हुए हैं। बुद्ध के मुखमण्डल पर अनुपम प्रभा है, और उन्होंने अपना दायाँ हाथ अभयमुद्रा में उठाया हुआ है। मंजूषा के ढक्कन पर अनेक अन्य चित्र भी अंकित हैं, यथा उड़ते हुए हंसों की पंक्ति और कमलपुष्प की खिली हुई पंखुड़ियाँ। मंजूषा पर एक अभिलेख भी उत्कीर्ण है, जिसमें कनिष्क और अगिपाल शिल्पी के नाम उत्कीर्ण हैं।

यद्यपि ये स्थान इस समय पाकिस्तान में हैं, पर इनकी स्थिति पाकिस्तान के ऐसे प्रदेश में है, जहाँ पक्थ (पठान) जाति के लोगों का निवास है, और जो वस्तुतः अफगानिस्तान का ही अंग है। पेशावर से बल्ख (बैक्ट्रिया) जाने वाले मार्ग पर जलालाबाद आता है, जो प्राचीन नगरहार का स्थानापन्न है। वहाँ बीमरान नामक स्थान पर सेलान्डी के पात्र में रखी हुई एक स्वर्ण मंजूषा मिली है, जो बुद्ध के 'शरीर' (धातु) के लिए प्रयुक्त हुई होगी। इसके समीप ही हड्डा है, जो प्राचीन भारतीय सांस्कृतिक अवशेषों की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध है। इस स्थान पर भी गान्धार शैली की अनेक प्रस्तर-मूर्तियाँ मिली हैं। साथ ही, एक स्तूप के भग्नावशेष भी हड्डा में विद्यमान हैं।

कपिशा या कपिशी—पुष्कलावती के पश्चिम में और कुभा (काबुल) नदी के उत्तर की ओर कपिशी नगरी स्थित थी, जो कपिशा जनपद की राजधानी थी। वर्तमान समय की बेग्राम उस स्थान को सूचित करता है, जहाँ प्राचीन समय में कपिशा नगरी की स्थिति थी। बेग्राम के भग्नावशेषों की खोज का कार्य फ्रेन्च विद्वानों द्वारा किया गया हैं, और उसके खण्डहरों से बहुत से हाथी दाँत के फलक प्राप्त हुए हैं, जो कभी शृंगारपेटियों या सुवर्ण-रत्न-मंजूषाओं पर जड़े हुए थे। हाथी दाँत के ये फलक सैकड़ों की संख्या में हैं, और इन पर जो चित्र उत्कीर्ण हैं वे प्रायः भारतीय चित्रकला के हैं, यद्यपि कतिपय ऐसे चित्र भी हैं जिन्हें ग्रीक व रोमन कला कहा जा सकता है। चित्रकला के मथुरा शैली के ऐसे चित्र इन फलकों पर हैं, जिनमें अशोक वृक्ष पर वामपाद से प्रहार करती हुई स्त्रियाँ चित्रित की गई हैं। इनके बालों की वेणी को कई घेरों में तथा एक-दूसरे से ऊपर उठाकर बनाया गया है, और उनसे निकलकर लटकती हुई लटाएँ भी प्रदर्शित की गई हैं। हाथी दाँत के फलकों पर उत्कीर्ण अन्य चित्रों में शृंगार की सामग्री को ले जाने वाली प्रसाधिकाओं, उड़ते हुए हंसों, हंसक्रीड़ाओं, पूर्णघट, नृत्य करने वाली स्त्रियों, बाँसुरी बजाती हुई स्त्रियों और लम्बे बालों से पानी निचोड़ती हुई स्त्रियों को प्रदर्शित किया गया है। इन स्त्रियों के शरीर मांसल बनाये

गए हैं, जिनसे कामुकता की अभिव्यक्ति होती है। ये चित्र मथुरा शैली के हैं। ग्रीक और रोमन कलाओं के प्रभाव को सूचित करने वाले चित्र प्रायः प्यालों पर अंकित हैं। वेग्राम के भग्नावशेषों में बहुत-से प्याले पाये गए हैं। अनेक द्रव्यों को मिला कर बनाये गये गोल-मोल टिकरे भी अच्छी बड़ी संख्या में वेग्राम में मिले हैं, जिन पर पाश्चात्य स्त्री-पुरुषों के तथा पान-गोष्ठियों के चित्र अंकित हैं। प्राचीन समय में कापिशी नगरी व्यापार का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण केन्द्र थी, और पाश्चात्य जगत् के व्यापारी भी वहाँ बड़ी संख्या में आया करते थे। अतः यह सर्वथा स्वाभाविक था कि वहाँ की कला पर पाश्चात्य देशों का भी प्रभाव पड़े। कापिशी (वेग्राम) के समीपवर्ती प्रदेशों में भी भारतीय संस्कृति के बहुत-से अवशेष भग्न स्तूपों, मूर्तियों, आदि के रूप में विद्यमान हैं।

बामियान—पर अफगानिस्तान के जिस स्थान से भारतीय धर्म तथा संस्कृति के सबसे महत्त्वपूर्ण अवशेष मिले हैं, वह बामियान है। काबुल से २५० मील उत्तर-पश्चिम में बामियान की उपत्यका है, जिसके एक ओर हिन्दूकुश की हिम से आच्छादित पर्वतमाला है, और दूसरी ओर शस्यश्यामल उपजाऊ घाटी है। इस उपत्यका का दृश्य अत्यन्त सुन्दर है, और प्राचीन विहारों, स्तूपों, चैत्यों तथा मन्दिरों के भग्नावशेष इसमें सर्वत्र बिखरे पड़े हैं। इन अवशेषों में सबसे महत्त्व की दो अत्यन्त विशाल बुद्ध-मूर्तियाँ हैं। एक मूर्ति १७५ फीट ऊँची है, और दूसरी मूर्ति की ऊँचाई १२० फीट है। इन्हें पहाड़ी को काट-काट कर बनाया गया था, और गान्धार शैली के अनुसार बुद्ध के परिधान के चुन्नट आदि को भली-भाँति प्रगट करने के लिए पत्थर की मूर्ति के ऊपर तृण और मिट्टी के गारे का प्लास्टर कर दिया गया था। १२० फीट ऊँची मूर्ति अधिक पुरानी है। उसे तीसरी या दूसरी सदी का माना जाता है। गारे के प्लास्टर के कारण इस मूर्ति पर बुद्ध के उत्तरीय के चुन्नट सर्वथा स्पष्ट रूप से उभर आये हैं। प्रस्तर-मूर्ति पर गारे का प्लास्टर करके उसके ऊपर नीला रंग किया गया था और हाथों तथा मुखमण्डल को सोने के पत्तरों से मढ़ दिया गया था। फाइयान ने इस मूर्ति को इसके असली रूप में देखा था। पर अब यह भग्न दशा में है। दोनों हाथ टूट गए हैं, और मुख को भी तोड़ दिया गया है। बड़ी बुद्ध-मूर्ति को भी पहाड़ी काटकर बनाया गया है। परिधान के चुन्नटों को प्रगट करने के लिए मूर्ति पर रस्से लगाए गए थे, और उन्हें लकड़ी के टुकड़ों पर ठोंक कर ठीक स्थान पर जमाया गया था। फिर मूर्ति पर तृण तथा मिट्टी से मिलाकर बनाये गये गारे का मोटा प्लास्टर किया गया था, और उसके ऊपर चूने का गहरा प्लास्टर कर दिया गया था। इस मूर्ति को लाल रंग से रँगा गया था, और इसके भी हाथों तथा मुखमण्डल को सोने के पत्तरों से मढ़ दिया गया था। मूर्ति का दायाँ हाथ अभय मुद्रा में ऊपर की ओर उठा हुआ था, और बायाँ हाथ नीचे लटक रहा था। पर अब एक भी हाथ शेष नहीं है, और मुख को भी क्षत-विक्षत कर दिया है। बड़ी मूर्ति को पाँचवीं सदी में निर्मित माना जाता है।

दोनों मूर्तियों के साथ-साथ दोनों ओर गुहामन्दिरों की शृँखलाएँ चली गई हैं। बड़ी मूर्ति के साथ की गुहा-शृंखला में दस गुहा-मन्दिर हैं। पर प्रत्येक गुहामन्दिर

अपने आपमें अनेक भवनों का सम्मुच्चय है । प्रायः प्रत्येक में एक-एक बड़ा सभा भवन, एक-एक पूजा-कोष्ठ, एक-एक गलियारा, और एक-एक अन्य भवन है, जिन सबको चट्टानें काट-काट कर बनाया गया है । पर सब गुहा-मन्दिर आकार आदि की दृष्टि से एक-समान नहीं हैं । इन गुहामन्दिरों की दीवारों के साथ-साथ जो बुद्ध व बोधिसत्त्वों की मूर्तियाँ स्थापित थीं, वे अब नष्ट हो चुकी हैं, पर जिन आधारों पर वे स्थापित की गई थीं वे अब भी विद्यमान हैं । गुहाओं की भित्तियों पर जो चित्र अंकित हैं, वे सासानी, भारतीय तथा मध्य एशिया की शैलियों के हैं । इन्हें चित्रित करने के लिए गुहाओं की प्रस्तर-भित्तियों को चूने के प्लास्टर की मोटी तह से समतल किया गया था, और फिर उस पर चित्र बनाये गये थे, जिनके लिए रंगीन मिट्टी तथा खनिज द्रव्यों के प्राकृतिक रंगों का प्रयोग किया गया था । भारतीय शैली के जो चित्र इन गुहाओं में हैं, वे प्रायः गुप्त शैली के हैं । भित्तियों पर चित्रित रूपावलियों से बुद्ध को विविध मुद्राओं में प्रदर्शित किया गया है, और उनके ऊपर ऐसे चित्रफलक हैं, जिनमें पुष्प तथा रत्न बखेरती हुई अप्सराओं को अंकित किया गया है । बहुत-सी भित्तियाँ ऐसी भी हैं, जिन पर चित्र न होकर प्रतिमाएँ उत्कीर्ण की गई हैं । भित्ति-चित्रों के निर्माण के लिए केवल बुद्ध, बोधिसत्त्व या बौद्ध धर्म से सम्बन्ध रखने वाली कथाओं का ही उपयोग नहीं किया गया है, अपितु पशु-पक्षियों तथा अन्य देवी-देवताओं को भी चित्रों में अंकित किया गया है । मोतियों की मालाओं को चोंचों में दबाये हुए पक्षी, जंगली सुअरों का शिकार करते हुए शिकारी, एवं इसी प्रकार के कितने ही चित्र बामियान के गुहा-मन्दिरों की भित्तियों आदि पर विद्यमान हैं । छोटी बुद्ध-मूर्ति के साथ के गुहा-मन्दिरों के एक गलियारे में सूर्य देवता का चित्र भी है, जिसमें उन्हें रथ पर आरूढ़ प्रदर्शित किया गया है ।

बामियान की इन गुहाओं को पहले कबायली लोगों ने अपना निवास-स्थान बनाया हुआ था । वे उनमें भोजन बनाने और आग तापने के लिए लकड़ियाँ जलाया करते थे, जिनके धुएँ के कारण कालस की मोटी तहें भित्तियों तथा छतों पर जम गई थीं । अब बड़े परिश्रम से उन्हें साफ किया जा रहा है, जिससे उन पर बने हुए सुन्दर एवं कलात्मक चित्र दिखायी पड़ने लगे हैं, यद्यपि सदियों की उपेक्षा के कारण वे प्रायः ध्वस्त दशा में हैं । गुहामन्दिरों के गलियारों व पूजा-भवनों में जो बहुत-सी मूर्तियाँ स्थापित थीं, वे भी नष्ट हो चुकी हैं, यद्यपि किसी-किसी मूर्ति के सिर या हाथ आदि अब भी मिल जाते हैं । कोई-कोई मूर्ति अच्छी दशा में भी मिली है, जिन सबको काबुल के संग्रहालय में सुरक्षित रख दिया गया है ।

बामियान से ३ मील की दूरी पर कक्रक नामक स्थान है । वहाँ भी एक विशाल गुहामन्दिर है, जो ५० फीट ऊँचा है । इसमें भी पहले एक बुद्ध-मूर्ति स्थापित थी, जिस के भग्नावशेष अब तक भी वहाँ विद्यमान हैं । इस गुहामन्दिर तथा इसकी बुद्ध मूर्ति को सातवीं सदी का माना जाता है । कला की दृष्टि से यह बुद्ध मूर्ति अत्यन्त उत्कृष्ट है । इसके मुखमण्डल पर जो शान्ति और आध्यात्मिकता परिलक्षित होती है, वह वस्तुतः अनुपम है । कक्रक के गुहामन्दिर में भी बहुत से भित्ति चित्र विद्यमान हैं ।

बामियान के पश्चिम में ७५ मील की दूरी पर सियाह गर्द नामक गाँव है, और उसके समीप फोंदुकिस्तान की घाटी है। इस घाटी में भी प्राचीन काल के बहुत-से भग्नावशेष मिले हैं, जिनमें बोधिसत्त्वों की मृण्मूर्तियाँ अत्यन्त सजीव तथा कलात्मक हैं। उनके मुखमण्डलों पर दैवी मुसकान है। ये छठी सदी की गुप्त शैली के अनुरूप हैं। यहाँ अनेक विहारों के भग्नावशेष भी विद्यमान हैं, जिनके भित्ति-चित्र अजन्ता के चित्रों से सादृश्य रखते हैं। काबुल से १२ मील उत्तर में खैरखाना नामक स्थान पर एक पुराने मन्दिर के खण्डहर हैं, जिनमें सूर्य की भी एक मूर्ति पायी गई है। इस मूर्ति में सूर्य देवता को दोनों पैर लटकाये हुए अपने सेवक दण्ड और पिंगल के बीच में दो घोड़ों के रथ पर बैठे हुए प्रदर्शित किया गया है। वस्तुतः, अफगानिस्तान प्राचीन भारतीय संस्कृति के अवशेषों से परिपूर्ण है, क्योंकि वह पहले भारत का ही एक अंग था।

चौथा अध्याय

मध्य एशिया में भारतीय संस्कृति तथा धर्म का प्रसार

(१) मध्य एशिया का पुरातन इतिहास

चीन के पश्चिम, ईरान तथा अफगानिस्तान के उत्तर-पूर्व, तिब्बत के उत्तर और एशियाई रूस के दक्षिण में जो विशाल भूखण्ड है, उसे ही स्थूल रूप से 'मध्य एशिया' कहा जाता है। इस क्षेत्र के निवासी प्रायः तुर्क जातियों के हैं, जिसके कारण इसे 'तुर्किस्तान' भी कहते हैं। राजनीतिक दृष्टि से वर्तमान समय में यह दो भागों में विभक्त है, चीनी तुर्किस्तान या सिंगकियांग और रूसी तुर्किस्तान। इन्हें क्रमशः पूर्वी मध्य एशिया और पश्चिमी मध्य एशिया भी कह सकते हैं। रूस में कम्युनिस्ट व्यवस्था स्थापित हो जाने पर रूसी तुर्किस्तान में अनेक सोवियत सोशलिस्ट रिपब्लिकें स्थापित हो गई हैं। प्राकृतिक दृष्टि से पश्चिमी मध्य एशिया के दो भाग हैं, दक्षिणापथ और उत्तरापथ। सीर नदी और अराल सागर के दक्षिण में पश्चिमी मध्य एशिया का जो भाग है, उसे दक्षिणापथ कह सकते हैं। रूसी सोवियत समाजवादी जनतन्त्र संघ के अन्तर्गत तुर्कमान रिपब्लिक, ताजिक रिपब्लिक और उजबक रिपब्लिक इसी भाग में स्थित हैं। उत्तरापथ में खिरगिज रिपब्लिक और कज्जाक रिपब्लिक की सत्ता है। पूर्वी मध्य एशिया चीन के संघराज्य के अन्तर्गत है, और चीन में उसे सिंगकिआंग कहा जाता है। मध्य एशिया के इस विशाल भूखण्ड का बड़ा भाग मरुभूमि के रूप में है, यद्यपि सीता (तारीम), सीर, आमू (वंक्षु) आदि अनेक नदियाँ इसमें विद्यमान हैं। थियानशान, अल्ताई, सरीकोल, क्युनलिन और कराकुरम आदि की अनेक पर्वतमालाओं की भी इस भूखण्ड में सत्ता है।

विश्व के अन्य अनेक देशों के समान मध्य एशिया में भी पुरातन प्रस्तर युग, मध्य प्रस्तर युग और नवीन प्रस्तर युग के बहुत-से अवशेष पाये गये हैं, जिनसे सूचित होता है कि अत्यन्त प्राचीन समय में भी इस भू-भाग में मनुष्यों का निवास था, और वे धीरे-धीरे सभ्यता के मार्ग पर अग्रसर होने में तत्पर थे। प्रस्तर युग के पश्चात् मध्य एशिया में भी ताम्र, ब्रोंज तथा लौह युगों का प्रारम्भ हुआ, और वहाँ के निवासी पशुपालन तथा कृषि के साथ-साथ धातुओं का भी प्रयोग करने लगे। मध्य एशिया के ये आदिवासी किस जाति के थे, इस प्रश्न पर ऐतिहासिकों में मतभेद है। कुछ उन्हें मुण्डा-द्रविड़ जाति का मानते हैं, और कुछ इन्डो-यूरोपियन जाति का। अनौ (अश्काबाद के समीप) और ख्वारिज्म में ताम्र युग के जो अवशेष मिले हैं, वे सिन्धु घाटी और मैसोपोटामिया की प्राचीन सभ्यताओं के अवशेषों से बहुत सादृश्य रखते हैं। विशेषतया सिन्धु घाटी की प्राचीन सभ्यता से इसकी समता बहुत अधिक है। इसी को दृष्टि में

रखकर रूस के विद्वान् तात्सताफ ने यह प्रतिपादित किया है, कि मध्य एशिया में ताम्र-युग के प्राचीन निवासी मुण्डा-द्रविड़ जाति के थे, जो इन्डो-यूरोपियन लोगों के प्रवेश से पूर्व इस भू-भाग में बसी हुई थी।

बाद में इण्डो-यूरोपियन जातियों ने मध्य एशिया में प्रवेश किया। इस जाति की दो शाखाएँ इस भू-भाग में आबाद हुईं, शक और आर्य। शक जाति ने सीर नदी और अराल सागर के उत्तर के प्रदेशों को आबाद किया, और आर्यों ने उनके दक्षिण के प्रदेशों को। वंक्षु (आमू) और रसा (सीर) नदियों के मध्यवर्ती प्रदेशों को प्राचीन काल में सुग्ध कहते थे, और वहाँ आर्य जाति का निवास था। सीर के उत्तर के सब प्रदेश तब शक लोगों द्वारा आबाद थे। शकों की भी अनेक शाखाएँ थीं, जिन्होंने सीर नदी के उत्तर-पूर्व में इसिक-कुल झील तथा उससे भी परे के विविध प्रदेशों को आबाद किया था। सीर के दक्षिण के प्रदेशों में इन्डो-यूरोपियन जाति की जो शाखा (आर्य) आबाद हुई, वह उस प्राचीन सभ्यता के सम्पर्क में आयी, जिसके भग्नावशेष अनौ तथा ख्वारिज्म आदि में उपलब्ध हुए हैं। भारत की सिन्धु-घाटी सभ्यता के समान मध्य एशिया के दक्षिणापथ की यह सभ्यता भी बहुत उन्नत थी। उसके साथ सम्पर्क का यह परिणाम हुआ, कि आर्य लोग उन्नति के मार्ग पर तेजी के साथ अग्रसर होने लगे। पर सीर नदी के उत्तर के जिन प्रदेशों में शक लोग आबाद हुए थे, उनके पुराने निवासी सभ्यता में अधिक उन्नत नहीं थे। इसी कारण शक आर्यों की तुलना में पिछड़ गए। दूसरी सदी ईस्वी पूर्व तक भी शक लोग फिरन्दर या घुमन्तू दशा में रहे, जब कि आर्यों ने ग्रामों और नगरों में स्थायी रूप से बस कर खेती, शिल्प, कला आदि में समुचित उन्नति करना प्रारम्भ कर दिया था।

छठी सदी ईस्वी पूर्व में ईरान के हखामनी वंश के राजा दारयवुश ने अपने साम्राज्य का विस्तार करते हुए उन सब प्रदेशों को जीत कर अपने अधीन कर लिया, जो पश्चिमी मध्य एशिया के दक्षिणापथ के अन्तर्गत थे और जिनमें आर्य जाति ने अपनी बहुत-सी बस्तियाँ कायम की हुई थीं। ख्वारिज्म, बल्ख और सुग्ध के प्रदेश उसके अधीन थे। शकों से भी उसके अनेक युद्ध हुए थे, पर सीर नदी के उत्तर में निवास करने वाली इस जाति को वह अपना वशवर्ती नहीं बना सका था। गत वर्षों में रूस के पुरातत्त्ववेत्ताओं ने शकों के प्राचीन भग्नावशेषों का अनुसन्धान कर इस जाति के धर्म, रीतिरिवाज तथा सभ्यता के विषय में बहुत-सी नई बातें मालूम की हैं। शक लोग स्वलियु (सूर्य), दिवू (द्यौः), अपिया (आप्या = पृथ्वी), पक (भग) आदि की पूजा करते थे, और अपने शवों के साथ उन अनेक वस्तुओं को रख दिया करते थे, जिनका उपयोग जीवन-काल में मृत व्यक्ति द्वारा किया जाता था। शक जाति की बहुत-सी उपशाखाएँ थीं, जो सीर नदी के उत्तर-पूर्व में दूर-दूर तक के प्रदेशों में बसी हुई थीं। इनमें एक उपशाखा वू-युन थी, जो इसिक-कुल झील के पूर्व की ओर के प्रदेश में बसी हुई थी। शकों की ही एक अन्य उपशाखा युइशि थी, जिसका निवास ठेठ चीन के पश्चिम में लोपनौर झील के क्षेत्र में था। वू-युन और युइशि जातियों द्वारा आबाद प्रदेशों के बीच में तारीम नदी के उत्तर तथा श्वेत पर्वत (पाई शान) के दक्षिण के प्रदेश में तुखार

जाति निवास करती थी। यह भी शकों की ही एक उपशाखा थी। इस प्रकार चीन के पश्चिम से लगाकर अराल सागर तक के सब प्रदेशों में विविध शक जातियों का निवास था, जो प्रायः फिरन्दर व घुमन्तू दशा में थीं।

इस विशाल शक-भूमि के उत्तर-पूर्व में हूण जातियाँ बसी हुई थीं। वर्तमान समय के मंगोलिया, मञ्चूरिया और उनके उत्तर के साइबीरिया के प्रदेश हूण लोगों की भूमि थे, जिस में वे अपने पशुओं को चराया करते थे। हूण लोग बहुत-से कबीलों में संगठित थे, जिन्हें ओई कहा जाता था। समय-समय पर ये अपने प्रदेश के दक्षिण में स्थित चीन देश पर आक्रमण करते रहते थे, जिनसे अपना बचाव करने के प्रयोजन से तीसरी सदी ई० पू० में चीन की विशाल दीवार का निर्माण कराया गया था।

शकों की विविध शाखाओं तथा हूणों के राजनीतिक इतिहास के सम्बन्ध में अनेक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक बातें शोध द्वारा इस समय ज्ञात हो चुकी हैं। पर उनका इस ग्रन्थ के लिए विशेष उपयोग नहीं है। मध्य एशिया के विविध प्रदेशों में भारतीय संस्कृति तथा धर्म का प्रवेश कब और किस प्रकार हुआ, यही हमें इस ग्रन्थ में प्रदर्शित करना है। इसके लिए यह जान लेना ही पर्याप्त होगा, कि पश्चिमी मध्य एशिया का दक्षिणी भाग जिसे इन्डो-यूरोपियन जाति की आर्य शाखा ने आबाद किया था, पहले ईरान के हखामनी साम्राज्य के अधीन हुआ, और बाद में जब ईरान की शक्ति क्षीण हो गई, तो सिकन्दर के नेतृत्व में यवन लोगों ने उसे अपने आधिपत्य में ले लिया। पर सीर नदी के उत्तर के पश्चिमी मध्य एशिया के जो प्रदेश इन्डो-यूरोपियन जाति की शक शाखा द्वारा आबाद थे, ईरानी तथा यवन आक्रान्ता उनकी स्वतन्त्र सत्ता का अन्त नहीं कर सके। पर इन शक जातियों को एक अन्य संकट का सामना करना पड़ा। तीसरी सदी ईस्वी पूर्व में जब चीन के सम्राटों ने हूणों से अपने देश की रक्षा करने के प्रयोजन से एक विशाल दीवार बनवा ली, तो इस घुमन्तू जाति के लिए चीन पर आक्रमण करते रहना सम्भव नहीं रहा। अब हूणों के लिए केवल यह मार्ग रह गया, कि वे पश्चिम-दक्षिण की ओर उन प्रदेशों को आक्रान्त करें, जहाँ युइशि, वू-सुन तथा तुखार आदि शक जातियों का निवास था। १७६ ई० पू० के लगभग उन्होंने उस प्रदेश पर आक्रमण किया, जहाँ युइशि लोग रहते थे। युइशि हूणों के सम्मुख नहीं टिक सके। उनसे हारकर वे तारीम नदी के उत्तर तथा श्वेत पर्वत के दक्षिण के उस प्रदेश में प्रविष्ट हो गए, जहाँ तुखार लोग रहते थे। तुखारों को युइशियों ने अपने अधीन कर लिया। पर हूणों ने वहाँ भी युइशियों को चैन से नहीं रहने दिया। १६५ ई० पू० में उन्होंने इस प्रदेश पर भी चढ़ाई की। हूणों के सम्मुख अपने को असहाय पाकर युइशियों तथा तुखारों ने पश्चिम-दक्षिण की ओर प्रस्थान कर दिया, और थियानशान की पर्वतमाला को लांघ कर सीर नदी की घाटी के उस प्रदेश में जा पहुँचे, जहाँ कि शक जाति की प्रधान शाखा का निवास था। मार्ग में उन्होंने वू-सुन लोगों से भी अनेक युद्ध किए, और उनको भी बुरी तरह से पददलित किया। तुखारों तथा युइशियों द्वारा परास्त होकर शक लोग सुग्ध तथा वाह्लीक की ओर अग्रसर हुए। पर तुखार-युइशियों ने वहाँ भी उनका पीछा नहीं छोड़ा। उन दिनों वाह्लीक (बैक्ट्रिया-बल्ख) में यवनों का शासन था। युइशियों

द्वारा इस यवन (ग्रीक) राज्य का अन्त किया गया, और वे उस प्रदेश में फैल गए जिसे वर्तमान समय में बदख्शाँ कहते हैं। तुखार-युइशियों के कारण यह अब तुखार देश कहाने लगा।

जिन हूणों के भय से चीन में विशाल दीवार का निर्माण कराया गया था, वे अब चीन के पश्चिम के उन प्रदेशों में आ बसे थे, जहाँ पहले युइशियों का निवास था। अब वे उत्तर की ओर से तो चीन पर आक्रमण नहीं कर सकते थे, पर समय-समय पर वे चीन पर पश्चिम की ओर से हमले करते रहते थे, जिनका सामना करना चीन के लिए बहुत सुगम नहीं था। इस दशा में चीन के सम्राट् वू-ती (१४२-८५ ई० पू०) ने अपने सेनापति चाङ्-कियन को इस प्रयोजन से युइशियों के पास अपना दूत बना कर भेजा, ताकि हूणों की शक्ति को नष्ट करने के कार्य में वह उनका सहयोग प्राप्त कर सके। हूण युइशियों के पुराने शत्रु थे, और उन्होंने युइशियों को अपने मूल अभिजन का परित्याग करने के लिए विवश किया था। अतः वू-ती को आशा थी, कि हूणों के विरुद्ध युइशियों का सहयोग वह प्राप्त कर सकेगा। उसकी योजना यह थी, कि चीन हूणों पर पूर्व की ओर से आक्रमण करे, और युइशि पश्चिम से। जब हूण परास्त हो जाएँ, तो युइशि फिर अपने पुराने अभिजन में आ बसें। १३८ ई० पू० में चाङ्-कियन ने अपनी यात्रा प्रारम्भ की, पर मार्ग में उसे हूणों ने पकड़ लिया और वह दस साल तक उनकी कैद में रहा। कैद से छूटकर वह सीर नदी के दक्षिण में स्थित खोकन्द पहुँचा, और वहाँ से समरकन्द होता हुआ बल्ख (बैक्ट्रिया) आ गया, जो उस समय युइशियों के शासन में था। चाङ्-कियन ने युइशियों को हूणों के विरुद्ध संघर्ष में चीन का सहयोग प्रदान करने तथा अपने मूल अभिजन को वापस लौट चलने को बहुत प्रेरित किया, पर वे इसके लिए उद्यत नहीं हुए। बल्ख का प्रदेश सभ्यता और संस्कृति की दृष्टि से अत्यन्त उन्नत था। वहाँ के वैभवपूर्ण जीवन का परित्याग कर घुमन्तू जीवन बिताने और हूणों से उलझने का विचार उन्हें पसन्द नहीं आया। युइशियों से किसी भी प्रकार के सहयोग से निराश होकर सम्राट् वू-ती के चाङ्-कियन को वू-सुनो के पास भेजा (११५ ई० पू०), उस समय जिनका निवास इसिक-कुल झील के समीपवर्ती प्रदेशों में था। हूणों के विरुद्ध वू-सुन लोगों की सहायता प्राप्त करने के अतिरिक्त चाङ्-कियन को यह कार्य भी सुपुर्द किया गया, कि वह पश्चिम के सब देशों के सम्बन्ध में समुचित जानकारी प्राप्त करे, ताकि चीन उनके साथ अपने व्यापार को बढ़ा सके। इसीलिए उसने अपने अनेक दूत पश्चिम के विविध राज्यों में भेजे, और उन्होंने वहाँ जाकर जो जानकारी प्राप्त की, उसकी रिपोर्ट चीन सम्राट् को दे दी गई। यह रिपोर्ट अपने मूल रूप में प्राप्य नहीं है। पर बाद के दो चीनी लेखकों ने अपनी पुस्तकों में इस रिपोर्ट का प्रयोग किया था, जिनसे इस युग के मध्य एशिया के देशों के विषय में अनेक महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात होती हैं। यद्यपि सम्राट् वू-ती हूणों के विरुद्ध युइशि तथा वू-सुन लोगों की सहायता प्राप्त नहीं कर सका था, पर उसने अपनी शक्ति के भरोसे तीन बार हूणों पर आक्रमण किये (१२९ ई० पू०, ११९ ई० पू० और ९९ ई० पू० में) जिनके परिणामस्वरूप हूणों की शक्ति को जबर्दस्त धक्का लगा। उन्हें चीन की पश्चिमी

सीमा से उत्तर की ओर खदेड़ दिया गया, जिसके कारण चीन की पश्चिमी सीमा से खोकन्द (सीर नदी के दक्षिण में) और ताशकन्द तक जाने वाला मार्ग चीन के व्यापार के लिए सर्वथा सुरक्षित हो गया। हूणों की पराजय का एक परिणाम यह भी हुआ, कि श्वेत पर्वत (पाई शान) और तारीम नदी के मध्यवर्ती प्रदेशों में निवास करने वाली विविध जातियाँ, जो पहले हूणों के प्रभुत्त्व को स्वीकार करती थीं, अब चीन के सम्राट् को अपना अधिपति मानने लगीं।

सम्राट् वू-ती ने हूणों को पराजित कर उत्तर की ओर खदेड़ दिया था, और पश्चिम में खोकन्द तथा ताशकन्द तक के सब प्रदेशों पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था, पर युइशियों को वह अपना वशवर्ती नहीं बना सका। वंक्षु (आमू) नदी के दक्षिण तथा समीपवर्ती प्रदेशों में वे स्वतन्त्रतापूर्वक शासन करते रहे। धीरे-धीरे युइशियों ने दक्षिण-पूर्व के उन प्रदेशों में भी प्रवेश कर लिया, जहाँ पहले कपिशा और गान्धार के राज्य थे और अब जहाँ शकों तथा पल्हवों (पार्थिवों) ने अपने कतिपय राज्य स्थापित किए हुए थे। उन्होंने इन राज्यों को जीत लिया। युइशियों के इस उत्कर्ष का सूत्रपात कुजुल कफ्म कदफिसस नाम के राजा द्वारा हुआ, जो कुशाण वंश का था। कुजुल का उत्तराधिकारी विम क्थफिस था, जिसने पूर्वी पंजाब तथा मथुरा तक अपने राज्य का विस्तार किया था। इस कुशाण राजा का शासन-काल ३५ से ६५ ईस्वी तक माना जाता है, यद्यपि इस विषय में ऐतिहासिकों में मतभेद है। विम के बाद कनिष्क विशाल युइशि या कुशाण साम्राज्य का स्वामी बना। चारों दिशाओं में उसने विजययात्राएँ कीं, और अपने साम्राज्य का बहुत विस्तार किया। प्रायः सम्पूर्ण उत्तरी भारत उसकी अधीनता में था, और उत्तर-पश्चिम में वंक्षु (आमू) तथा रसा (सीर) नदियों के मध्यवर्ती प्रदेश तक उसका शासन स्वीकार किया जाता था। पर कनिष्क इससे संतुष्ट नहीं था। वह चाहता था, कि युइशियों के प्राचीन अभिजन (लोपनौर झील से थियानशान पर्वतमाला तक के प्रदेश) पर भी अपने आधिपत्य को स्थापित करे। पर उस समय यह देश चीन के प्रभुत्त्व में था। जिन दिनों कुशाण राजा विम क्थफिस पूर्वी पंजाब तथा मथुरा के प्रदेशों को अपनी अधीनता में ले आने के लिए प्रयत्नशील था, चीन के सम्राट् मध्य एशिया पर अपना आधिपत्य स्थापित करने में तत्पर थे। तकला मकान की मरुभूमि के दक्षिण में उन दिनों तेरह राज्य थे, जिनमें खोतन सर्व-प्रधान था। चीनी सम्राट् हो-ती ने अपने सेनापति पान-छाओ को इस उद्देश्य से खोतन भेजा, ताकि वहाँ के राजा से सहयोग प्राप्त कर इन सब राज्यों को चीन का वशवर्ती बना लिया जाए (७३ ईस्वी)। पान-छाओ को अपने उद्देश्य की पूर्ति में अनुपम सफलता प्राप्त हुई, और उसने न केवल दक्षिणी मध्य एशिया के सब राज्यों को चीन की अधीनता स्वीकृत करने के लिए विवश किया, अपितु सुग्ध देश की विजय कर चीनी साम्राज्य की पश्चिमी सीमा को कैस्पियन सागर तक पहुँचा दिया। तारीम नदी की घाटी में जो अनेक राज्य थे, पान-छाओ ने उनसे भी चीन का वशवर्ती होकर रहना स्वीकार कराया। इन दशा में कनिष्क के लिए यह सुगम नहीं था, कि वह अपने प्राचीन जातीय अभिजन को फिर से अधिगत कर सके। साथ ही, इस बात की भी

आशंका थी, कि पान-छाओ कहीं उन प्रदेशों पर भी आक्रमण न कर दे, जो कि कनिष्क की अधीनता में थे। अतः कनिष्क ने यही उचित समझा, कि चीन के सम्राट् के साथ मैत्री-सम्बन्ध स्थापित किया जाए। उसने अपना दूत यह संदेश लेकर पान-छाओ के पास भेजा, कि एक चीनी राजकुमारी का उसके साथ विवाह कर दिया जाए। उस युग में राजाओं में मैत्री स्थापित करने के लिए विवाह-सम्बन्ध का बहुधा आश्रय लिया जाता था। पर पान-छाओ ने कनिष्क के दूत को जेल में डाल दिया। इस पर कनिष्क ने एक बड़ी सेना के साथ उत्तर-पश्चिम की ओर प्रस्थान किया, पर पान-छाओ ने उसे पामीर से पूर्व की ओर अग्रसर नहीं होने दिया। ईस्वी सन् की पहली सदी के समाप्त होने से पूर्व ही पान-छाओ की मृत्यु हो गई थी, और उसका पुत्र पान-छांग चीन की पश्चिमी सेना का सेनापति बन गया था। अब कनिष्क ने एक बार फिर चीन के विरुद्ध अपनी सैन्यशक्ति को आजमाया, और पान-छांग को परास्त कर न केवल अपने पुराने जातीय अभिजन को फिर से अपने अधिकार में ले लिया, अपितु मध्य एशिया के उन सब प्रदेशों पर भी अपना प्रभुत्त्व स्थापित कर लिया जो पहले चीन के वशवर्ती थे। चीन कहीं फिर उसके विरुद्ध सैन्यशक्ति का प्रयोग न करे, इसके लिए वह कुछ चीनी राजकुमारों को बन्धक या जामिन के रूप में अपने साथ भारत ले आया। क्योंकि उत्तरी भारत और मध्य एशिया इस समय एक ही राजा के शासन में थे, अतः इनमें परस्पर सम्पर्क में बहुत वृद्धि हुई, और भारतीय संस्कृति तथा धर्म के मध्य एशिया के विविध प्रदेशों में प्रसार में भी इससे बहुत सहायता मिली।

कनिष्क के पश्चात् (१०० ईस्वी) आधी सदी के लगभग तक विशाल कुशाण साम्राज्य प्रायः अक्षुण्ण रहा। पर कुशाण वासुदेव (१५२-१८६ ईस्वी) के समय से इस साम्राज्य में शिथिलता आने लग गई, और इसकी अखण्डता कायम नहीं रह सकी। भारत में गंगा-यमुना के क्षेत्र से भारशिव-नाग वंश के राजाओं ने कुशाणों के शासन का अन्त किया, और राजस्थान में मालव गण और हरयाणा में यौधेय तथा कुणिन्द गणों ने स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली। तीसरी सदी में पश्चिमी पंजाब भी कुशाणों के हाथ से निकल गया। इसी समय ईरान में सासानी वंश के राजाओं ने अपनी शक्ति बढ़ानी शुरू की, और मध्य एशिया के बाह्लीक (बल्ख) तथा उसके समीपवर्ती प्रदेशों को कुशाणों से जीत लिया। पर अफगानिस्तान, पश्चिमी गान्धार तथा सुग्ध देश अब भी कुशाणों के शासन में रहे। जिस प्रकार विविध राजनीतिक शक्तियों द्वारा भारत से कुशाणों का अन्त किया गया था, वैसे ही मध्य एशिया में उनका जो विशाल साम्राज्य था, वह वहाँ की स्थानीय शक्तियों के सम्मुख अपने को कायम नहीं रख सका। मध्य एशिया के प्रदेशों से कुशाणों के शासन का अन्त करने में प्रधान कर्तृत्त्व ज्वान-ज्वान या जू-जुन लोगों का था। ये जाति से शक न होकर हूण थे। कुशाणों की निर्बलता से लाभ उठाकर इन्होंने मध्य एशिया में दूर-दूर तक आक्रमण किए, और सुग्ध देश को विजय कर बल्ख में भी प्रवेश कर लिया। यह देश उस समय (चौथी सदी का पूर्वार्ध) ईरान के सासानी सम्राट् के अधीन था। जू-जुन आक्रान्ताओं से उसके अनेक युद्ध हुए। पर अन्त में ईरानी सम्राट् तथा जू-जुन राजा में सन्धि हो गई (३५८ ईस्वी), जिसके

अनुसार जू-जुन राजा ने ईरान के सामन्त की स्थिति में बल्ख में शासन करना स्वीकार कर लिया। इस प्रकार मध्य एशिया से कुशाणों का शासन पूर्ण रूप से उठ गया। पर अफगानिस्तान और पश्चिमी गान्धार बाद में भी उनके हाथों में रहे।

कुशाणों की शक्ति के क्षीण हो जाने पर मध्य एशिया के विविध प्रदेशों पर किन विविध जातियों द्वारा अपने-अपने शासन स्थापित किए, यह अभी अज्ञात है। पर पांचवीं सदी के प्रारम्भ काल में मध्य एशिया के प्रायः सभी प्रदेश एक शक्तिशाली जाति द्वारा आक्रान्त किए जा रहे थे, जो इतिहास में श्वेत हूण या हेफताल के नाम से प्रसिद्ध है। कुछ ऐतिहासिकों का मत है, कि हेफताल हूण न होकर शक जाति के थे, पर हूणों के सम्पर्क में रहने के कारण उनके रहन-सहन तथा संस्कृति पर हूणों का बहुत अधिक प्रभाव था। इतिहास के ग्रन्थों में इन्हें प्रायः श्वेत हूण के नाम से ही लिखा जाता है, अतः हम भी इसी संज्ञा का प्रयोग करेंगे। थियानशान पर्वतमाला के उत्तर से होते हुए श्वेत हूण पश्चिमी मध्य एशिया पहुँच गए, और फिर ताशकन्द से दक्षिण की ओर मुड़कर उन्होंने सीर नदी को पार किया, और सुग्ध तथा बल्ख पर कब्जा कर लिया। इस काल में बल्ख ईरान की अधीनता स्वीकार करता था। अतः ईरान के सासानी सम्राटों के लिए हूणों की बाढ़ को रोकने का प्रयत्न करना आवश्यक हो गया। एक सदी से भी अधिक समय तक सासानी सम्राट् हूणों के विरुद्ध संघर्ष में तत्पर रहे। दो सासानी सम्राट् इन श्वेत हूणों से युद्ध करते हुए पञ्चत्त्व को भी प्राप्त हुए, होरमुज़्द ४५४ ईस्वी में और फिरोज ४८४ ईस्वी में। अब श्वेत हूण मध्य एशिया की प्रधान राजनीतिक शक्ति बन गए थे। सासानियों को परास्त कर उन्होंने अफगानिस्तान पर आक्रमण किया, और वहाँ से पंजाब होते हुए वे भारत के मध्यदेश तक चले आए। गुप्त वंशी सम्राट् स्कन्दगुप्त (४५५-४६७ ईस्वी) ने हूणों का सामना करने में अद्भुत पराक्रम प्रदर्शित किया, और उनसे अपने साम्राज्य की रक्षा की। पर इस समय मध्य एशिया पर श्वेत हूणों का प्रभुत्त्व भली-भाँति स्थापित हो गया था, और उनकी राजधानी सम्भवतः बोखारा के समीप एक ऐसे स्थान पर थी, जहाँ एक पुराने नगर के बहुत-से भग्नावशेष अब भी विद्यमान हैं। रूसी विद्वानों ने वहाँ जो खुदाई गत वर्षों में की है, उसमें एक बड़ा भवन मिला है, जिसकी दीवारों पर मनुष्यों और पशुओं के बहुत-से चित्र अंकित हैं। श्वेत हूणों के केवल दो राजाओं के नाम भारत में उपलब्ध हुए उनके सिक्कों तथा अभिलेखों द्वारा ज्ञात हुए हैं। ये राजा तोरमाण और मिहिरकुल थे।

भारत और ईरान की उन्नत सभ्यताओं के सम्पर्क में आकर श्वेत हूण भी अच्छे सभ्य व सुसंस्कृत हो गए थे, और अपने पुराने घुमन्तू जीवन का परित्याग कर उन्होंने नगरों में निवास प्रारम्भ कर दिया था। पर अपने पूर्ववर्ती युइशियों, शकों आदि के समान वे भी देर तक मध्य एशिया के क्षेत्र में शान्तिपूर्वक निवास कर सकने में असमर्थ रहे। चीन के उत्तर-पश्चिम में निवास करने वाली हूण जाति का एक कबीला तुर्क था, जिसका पुराना नाम अस्सेना था। इस कबीले के लोग नोकीली टोपी पहना करते थे, जिनके कारण वे दुर-पो कहाने लगे। दुर-पो ही आगे बिगड़ कर तिर्कू

या तुर्क हो गया। दुर-पो या तुर्क कबीले में एक वीर पुरुष हुआ, जिसका नाम बूमिन था। मध्य एशिया से कुशाणों की शक्ति का अन्त करने में प्रधान कर्तृत्त्व ज्वान-ज्वान लोगों का था, यह हम ऊपर लिख चुके हैं। पर समयान्तर में जब इनकी शक्ति भी क्षीण हो गई, तो तुर्कों ने बूमिन के नेतृत्व में अपने उत्कर्ष का प्रारम्भ किया और ज्वान-ज्वान के राजा के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया। उसे परास्त कर बूमिन ने अपने को खागान, कगान या खान घोषित कर दिया। तुर्क लोग राजा के लिए इसी शब्द का प्रयोग किया करते थे। ५५२ ईस्वी में जब बूमिन की मृत्यु हुई, तुर्क कबीला बहुत शक्तिशाली हो चुका था। तुर्कों ने अब शकों, युइशियों तथा श्वेत हूणों के मार्ग का अनुसरण कर पश्चिम की ओर अपनी शक्ति का विस्तार प्रारम्भ किया, और कुछ ही समय में तकला मकान मरुभूमि के उत्तर तथा पश्चिम के मध्य एशिया के सब प्रदेशों पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया, और इनके साम्राज्य की पश्चिमी सीमा काला सागर (ब्लैक सी) तक पहुँच गई।

मध्य एशिया के तुर्क राजाओं (खानों) में तोबा खान का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उसका शासन काल ५६९ से ५८० ईस्वी तक था। उसकी प्रसिद्धि का मुख्य कारण यह है, कि उसने बौद्धधर्म को स्वीकार कर लिया था और उसके समय में तुर्कों में बौद्ध धर्म के प्रचार में बहुत सहायता मिली थी। कहते हैं, कि एक युद्ध में बहुत-से बन्दी तोबा खान के हाथ लगे थे, जिनमें एक बौद्ध भिक्षु भी था। खान को उपदेश देते हुए उसने कहा, समृद्धि धर्म द्वारा ही होती है। स्यान-पी राजवंश की समृद्धि का कारण धर्म ही है। तोबा खान को बौद्ध धर्म बहुत अच्छा लगा, और उसने एक विहार भी बनवाया। स्यान-पीह्णों की एक शाखा का वंश था, जिसके नेतृत्त्व में यह जाति इसिक-कुल झील के समीपवर्ती प्रदेशों से होती हुई अराल सागर, काला सागर तथा डैन्यूब नदी तक जा पहुँची थी। तोबा खान की बौद्ध धर्म के प्रति इतनी अधिक रुचि हो गई थी, कि उसने बौद्ध ग्रन्थों को लाने के लिये अपने दूत होनान भेजे थे। उसके द्वारा अनेक स्तूपों का भी निर्माण कराया गया था। इस प्रकार तुर्क लोगों में भी बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ, और मध्य एशिया के सुविस्तृत प्रदेशों पर शासन करने वाली यह नई जाति भी उसी प्रकार भारतीय धर्म तथा संस्कृति के प्रभाव में आ गई, जैसे कि उससे पहले की यूइशि, शक आदि जातियाँ आयी थीं।

तोबा खान के पश्चात् मध्य एशिया का विशाल तुर्क साम्राज्य दो भागों में विभक्त हो गया। तोबा खान के पुत्र शेतू शेबोलियो (५८२-५८७ ईस्वी) ने साम्राज्य के पूर्वी प्रदेशों पर अपना शासन स्थापित किया, और भतीजे दालोब्यान ने पश्चिमी प्रदेशों में। इसी के वंशज तुन-शेखू खान के शासन काल में चीनी यात्री ह्यु एन्-त्सांग पश्चिमी तुर्क साम्राज्य भी गया था, और वहाँ उसने तुर्क राजा से भेंट भी की थी। ह्यु एन्-त्सांग के यात्रा विवरण से ज्ञात होता है, कि तुन-शेखू खान अग्निपूजक था। ईरान के जरदुस्थ्री धर्म के सम्पर्क में आने के कारण पश्चिमी तुर्क यदि अग्नि की पूजा करने लगे हों, तो यह स्वाभाविक ही है। पर पूर्वी तुर्कों ने बौद्ध धर्म अपना लिया था, यह अभी ऊपर लिखा जा चुका है। मध्य एशिया के पूर्वी प्रदेशों में बौद्ध धर्म सदियों से

प्रचलित था, और तुर्कों से पूर्व जो लोग वहाँ निवास करते थे, वे इसी धर्म के अनुयायी थे। पर मध्य एशिया के पश्चिमी क्षेत्रों का सम्पर्क ईरानियों और यूरोपियन लोगों के साथ भी था। उन दिनों ईरान में पारसी (जरदुस्थ्री) धर्म का प्रचार था, और यूरोप में ईसाई धर्म का। पश्चिमी तुर्क इन धर्मों के सम्पर्क में भी आये। इसीका यह परिणाम था, कि पश्चिमी तुर्क साम्राज्य का राजा तुन-शेखू खान अग्नि की भी पूजा करने लगा था। वस्तुतः, मध्य एशिया के पश्चिमी प्रदेशों में बौद्ध धर्म के साथ-साथ पारसी तथा ईसाई धर्म भी पनपने लग गये थे।

छठी सदी में अरब में एक महापुरुष का जन्म हुआ, जिसका नाम मुहम्मद था। उसके द्वारा एक नये धर्म का प्रारम्भ किया गया, जिसे इस्लाम कहते हैं। यह मुहम्मद केवल धर्म-प्रवर्तक ही नहीं था। अरब के अनेक छोटे-छोटे राज्यों का अन्त कर उसने एक शक्तिशाली अरब राष्ट्र का भी निर्माण किया था। उसके उत्तराधिकारियों ने अरब की इस नई शक्ति का उपयोग साम्राज्य के विस्तार के लिये किया, और उन्होंने (खलीफाओं ने) चारों दिशाओं में हमले शुरू कर दिये। कुछ ही समय में सीरिया, मिस्र, उत्तरी अफ्रीका, स्पेन और ईरान अरबों के हाथ में चले गये। ७१२ ईस्वी में मुहम्मद बिन कासिम के नेतृत्व में एक अरब सेना ने सिन्ध पर भी आक्रमण किया था, और अरबों ने ईरान को भी जीत कर अपने अधीन कर लिया था। वहाँ से वे उत्तर-पूर्व की ओर मध्य एशिया के क्षेत्र में भी अग्रसर हुए। आठवीं सदी में मध्य एशिया की जो राजनीतिक दशा थी, उस पर ऊपर प्रकाश डाला जा चुका है। उसका बड़ा भाग उन दिनों तुर्कों के शासन में था, जिनके विविध सरदारों या खानों ने बौद्ध धर्म को अपना लिया था, यद्यपि कुछ तुर्क पारसी धर्म को भी आदर की दृष्टि से देखते थे और उसकीभी अनेक पूजा-विधियों का अनुसरण किया करते थे। तकला मकान मरुस्थल के दक्षिण तथा उत्तर दोनों ओर उस समय ऐसे नगरों तथा बस्तियों की सत्ता थी, जिनमें भारतीय भी अच्छी बड़ी संख्या में निवास करते थे। शक, युइशि, हूण, तुर्क आदि जिन अनेक जातियों ने मध्य एशिया को आक्रान्त कर अपने अधीन किया, राजनीतिक दृष्टि से विजेता होती हुई भी धर्म तथा संस्कृति की दृष्टि से वे उन लोगों द्वारा परास्त कर दी गईं, जिन्हें जीत कर उन्होंने अपने अधीन किया था। इन सब ने भी बौद्ध धर्म, भारतीय लिपि तथा भाषा आदि को अपना लिया, और वहाँ के पुराने निवासियों में वे मिल-जुल गये। पर जो मुसलिम अरब आठवीं सदी में दक्षिण-पश्चिम की ओर से मध्य एशिया पर आक्रमण करने को प्रवृत्त हुए, उनमें अपने धर्म के लिए अनुपम उत्साह था, और वे संसार से कुफ्र को नष्ट कर मुहम्मद के धर्म का सर्वत्र प्रसार करने के लिए कटिबद्ध थे। इसी का यह परिणाम हुआ, कि उन्होंने मध्य एशिया को न केवल युद्ध के क्षेत्र में ही परास्त किया, अपितु वहाँ के धर्म तथा संस्कृति को पराभूत कर वहाँ के निवासियों को मुसलमान बनाने में भी सफलता प्राप्त की। मध्य एशिया के तत्कालीन तुर्क शासक वीरता में अरबों से किसी प्रकार कम नहीं थे। पर उनमें एकता का अभाव था। तुर्कों के बहुत-से छोटे-छोटे राज्य उस समय विद्यमान थे, जिनके कगान या खान बहुधा आपस में लड़ते रहते थे। किसी शक्तिशाली खान की अधीनता

स्वीकार कर लेने की दशा में भी उनमें वह ऐक्य व संगठन स्थापित नहीं हो पाता था, जिससे कि वे एक समर्थ राजनीतिक सत्ता का रूप प्राप्त कर सकते। इसी का यह परिणाम हुआ कि तुर्क लोग अरबों के सम्मुख नहीं टिक सके।

सातवीं सदी के उत्तरार्ध में अरबों ने ईरान के उत्तर-पूर्व में आगे बढ़कर हीरात और बल्ख को जीत लिया था। फिर वंक्षु (आमू) नदी को पार कर बोखारा और बैकन्द पर उन्होंने हमला किया। (१०५ ई० प०) उन दिनों बैकन्द व्यापार का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था, और चीन के रेशम आदि के विक्रय से वहाँ के व्यापारियों ने अपार सम्पत्ति सञ्चित कर ली थी। अरब सेनापति कुतैब ने इस नगरी को बुरी तरह लूटा। बैकन्द तथा बोखारा की विजय कर कुतैब सीर नदी की ओर आगे बढ़ा, और पुराने सुग्ध देश को अरब साम्राज्य में सम्मिलित करने में सफल हुआ। मध्य एशिया के तुर्क शासक किस प्रकार अरबों से परास्त होकर न केवल उनकी अधीनता अपितु उनके धर्म को भी स्वीकृत करने को विवश हुए, इसका वृतान्त लिख सकना सम्भव नहीं है। आठवीं सदी के पूर्वार्ध तक प्रायः सम्पूर्ण पश्चिमी मध्य एशिया अरबों द्वारा हस्तगत कर लिया गया था, और उन्होंने पूर्वी मध्य एशिया पर भी आक्रमण प्रारम्भ कर दिए थे। मध्य एशिया के विविध नगरों को आक्रान्त करते हुए अरब लोग न वहाँ के धर्म-मन्दिरों की परवाह करते थे और न स्त्रियों तथा बच्चों की। बौद्ध विहारों, चैत्यों तथा अन्य धर्मस्थानों को लूटने तथा उनका ध्वंस करने में उन्होंने जरा भी संकोच नहीं किया। स्त्रियों और बच्चों को उन्होंने गुलाम बनाया, और विधर्मी श्रमणों तथा पुरोहितों को मौत के घाट उतारा। बीसवीं सदी के प्रारम्भ काल में ल कॉक नामक जर्मन विद्वान् ने मध्य एशिया की मरुभूमि के एक उजड़े हुए नगर की खुदाई कराते हुए एक घर के अन्दर बहुत-से बौद्ध तथा नेस्तारी भिक्षुओं को तलवार द्वारा कतल किया हुआ पाया था। इसमें सन्देह नहीं, कि मुसलिम अरबों के आक्रमणों द्वारा मध्य एशिया में एक नई संस्कृति तथा धर्म का प्रवेश हुआ, और न केवल वहाँ के तुर्क शासक अपितु अन्य जातियों के लोग भी इस्लाम को स्वीकार करने के लिए विवश किये गये।

पर अरब लोग मध्य एशिया को स्थायी रूप से अपने अधीन नहीं रख सके। तुर्कों ने इस्लाम अवश्य स्वीकार कर लिया था, पर वे राजनीतिक दृष्टि से अरबों की अधीनता में रहने को उद्यत नहीं थे। मुसलमान बन जाने पर अनेक तुर्क सरदारों ने अरबों द्वारा सेना तथा शासन में उच्च पद प्राप्त कर लिये थे, और मध्य एशिया के जो प्रदेश अरब खलीफाओं के साम्राज्य में थे, उनके शासन में इन मुसलिम तुर्कों को महत्त्वपूर्ण स्थिति प्राप्त थी। बाद में जब आपसी झगड़ों के कारण अरब साम्राज्य में शिथिलता आने लगी, तो मध्य एशिया के तुर्क सरदार या खान (जो अब इस्लाम को अपना चुके थे) स्वतन्त्र हो गये। सीर और तारीम नदियों के उत्तर के प्रदेश अरबों द्वारा जीते नहीं जा सके थे। इसी प्रकार तकला मकान मरुभूमि के दक्षिण में जो बहुत-से राज्य थे, वे भी अरबों के अधीन नहीं हुए थे। पर राजनीतिक दृष्टि से स्वतन्त्र रहते हुए भी ये इस्लाम से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके। सीर नदी के उत्तर में तुर्कों के जिन कबीलों ने अपने राज्य कायम किये हुए थे, दसवीं सदी के मध्य भाग

तक उन्होंने मुसलिम धर्म को स्वीकार कर लिया था। पामीर और कराकुरम पर्वत-मालाओं के पूर्वी प्रदेशों में जिन तुर्कों ने अपना आधिपत्य स्थापित किया हुआ था, दसवीं सदी तक उन्होंने भी इस्लाम की दीक्षा ग्रहण करली थी। मध्य एशिया में इस्लाम के प्रवेश एवं प्रसार का यह परिणाम हुआ, कि वहाँ से भारतीय धर्म तथा संस्कृति का लोप हो गया, क्योंकि इस क्षेत्र के बौद्ध मूर्ति-पूजा में विश्वास रखते थे और मुसलमान मूर्ति-पूजा के घोर विरोधी थे। पर मध्य एशिया में भारतीयों द्वारा जिन धार्मिक तथा दार्शनिक मन्तव्यों का विकास किया गया था, इस्लाम भी उनसे प्रभावित हुए विना नहीं रहा। सूफी सम्प्रदाय का प्रारम्भ मध्य एशिया में ही हुआ था, और इस सम्प्रदाय पर भारत के प्राचीन दार्शनिक विचारों का प्रभाव स्पष्ट रूप से विद्यमान है।

मध्य एशिया में मुसलिम तुर्कों के जो विविध राज्य दसवीं सदी में विद्यमान थे, उनका यहाँ उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं है। इस काल में इस क्षेत्र के सब प्रदेश इस्लाम और मुसलिम संस्कृति के प्रभाव में आने लग गये थे। पर तुर्कों से भारतीय संस्कृति तथा धर्म का अन्त होने में काफी समय लगा। दसवीं और ग्यारहवीं सदियों में मध्य एशिया के क्षेत्र में इस्लाम के अनुयायी तुर्क खान विधर्मी खानों से निरन्तर संघर्ष करते रहे। अन्त में वे विजयी हुए, और मुसलिम तुर्कों ने अरबों के मुकाबिले में भी अपनी शक्ति बहुत बढ़ा ली। तुर्कों की एक शाखा एशिया माइनर तक अपने प्रभुत्व को स्थापित करने में समर्थ हुई, और पूर्वी रोमन साम्राज्य का अन्त कर उसने बाइजेन्टियम को अपना केन्द्र बनाया (१५वीं सदी)। मुसलिम तुर्कों द्वारा ही खोतन के समृद्ध एवं शक्तिशाली राज्य का अन्त किया गया, जिसके कारण मध्य एशिया से बौद्ध धर्म तथा भारतीय संस्कृति का ह्रास प्रारम्भ हो गया (ग्यारहवीं सदी)।

(२) मध्य एशिया के भारतीय उपनिवेश

पिछले प्रकरण में मध्य एशिया के राजनीतिक इतिहास पर प्रकाश डालते हुए उन भारतीय उपनिवेशों या राज्यों का उल्लेख नहीं किया गया जो प्राचीन समय में मध्य एशिया के विविध प्रदेशों में विद्यमान थे। इन्डो-यूरोपियन जाति की ही अन्यतम शाखा शक जाति ने मध्य एशिया में अपनी सभ्यता का विकास किया था, यह ऊपर लिखा जा चुका है। पर ईस्वी सन् से तीन-चार सदी पूर्व भारतीय आर्यों ने भी इस क्षेत्र में प्रवेश करना प्रारम्भ किया, और वहाँ अपने अनेक उपनिवेश स्थापित किये। इनमें से कुछ उपनिवेश अच्छे समृद्ध तथा शक्तिशाली राज्य बन गये, और जो भारतीय उनमें जाकर आबाद हुए थे, उन्होंने वहाँ के पुराने निवासियों को भी अपने धर्म तथा संस्कृति द्वारा प्रभावित किया। परिणाम यह हुआ, कि मध्य एशिया के इन उपनिवेशों व राज्यों के सब निवासी भारतीय (बौद्ध) धर्म के अनुयायी हो गये, लिखने के लिए वे भारतीय लिपियों का प्रयोग करने लगे, संस्कृत तथा प्राकृत भाषाओं का वहाँ प्रचार हुआ और वहाँ की अपनी भाषाएँ भी भारतीय भाषाओं से बहुत प्रभावित हुईं। दसवीं सदी के अन्त तक प्रायः १२०० वर्षों के सुदीर्घ काल में मध्य एशिया के ये भारतीय उपनिवेश बृहत्तर भारत के अंग रहे। मध्य एशिया के क्षेत्र में विविध जातियों—युइशि, वू-सुन,

ज्वान-ज्वान, हिंगलू, श्वेत हूण, तुर्क आदि द्वारा जो राजनीतिक उथल-पुथल होती रहती थी और जिसका उल्लेख पिछले प्रकरण में किया गया है, उसके बीच में ये उपनिवेश समुद्र के मध्य द्वीपों के समान थे।

मध्य एशिया के सुविस्तृत क्षेत्र के मध्य में तकला-मकान मरुभूमि की स्थिति है, जिसके उत्तर तथा दक्षिण में अनेक ऐसे प्रदेश विद्यमान हैं, जो मनुष्यों के निवास के योग्य हैं। चीन से पश्चिमी देशों को जाने-आने वाले मार्ग इन्हीं प्रदेशों से होकर जाते थे। भारतीयों ने मध्य एशिया में अपने जिन उपनिवेशों की स्थापना की थी, वे भी इन्हीं प्रदेशों में थे। तकला-मकान की मरुभूमि के कारण मध्य एशिया के भारतीय उपनिवेश दो भागों में बँट गए थे, उत्तरी उपनिवेश और दक्षिणी उपनिवेश। तकला-मकान के उत्तर में तारीम नदी बहती है, और उसके उत्तर में थियानशान पर्वतमाला स्थित है। भारतीयों की उत्तरी उपनिवेश-परम्परा तारीम नदी और थियानशान पर्वतमाला के मध्यवर्ती प्रदेश में थी। यदि पश्चिम की ओर से इन पर दृष्टिपात किया जाए, तो काशगर के बाद अक्सू, भरुक, कुचि (कूचा), काराशहर (अग्निदेश) व तुर्फान (काओशांग) की सत्ता थी। दक्षिणी उपनिवेश पश्चिम से पूर्व की ओर यारकन्द (चोक्कुक), खोतन, रल्लक, भीम, नीया (निजांग), तुखार(आन्देरे), चल्मद (चर्चन) और नफोमो (नाभक) थे। नफोमो के पूर्व में चीन का प्रारम्भ हो जाता। वहाँ भी भारतीय धर्म तथा संस्कृति के प्रभाव की सत्ता थी, यद्यपि वहाँ भारतीयों ने अपने उपनिवेश स्थापित नहीं किये थे।

खोतन, चोक्कुक, काशगर और चल्मद में भारतीयों की आबादी बहुत अधिक थी। बहुत बड़ी संख्या में भारतीय लोग उनमें आबाद थे। पुराने निवासियों की तुलना में वहाँ बसे हुए भारतीयों का राजनीतिक, आर्थिक व सांस्कृतिक महत्त्व भी बहुत अधिक था। इसी कारण इन्हें भारतीय उपनिवेश कहा जाता है। कम्बोज और गान्धार के साथ इनका व्यापार-सम्बन्ध बहुत घनिष्ठ था, और व्यापार के प्रयोजन से इनमें बसे हुए भारतीय बहुधा भारत आते-जाते रहते थे। इनमें ऐसी प्राकृत भाषाओं का प्रचलन था, जिन पर उत्तर-पश्चिमी भारत में बोली जाने वाली प्राकृत का बहुत प्रभाव था और जो उससे मिलती-जुलती थीं। लिखने के लिए इनमें खरोष्ठी भाषा प्रयोग में लायी जाती थी। बाद में मध्य एशिया के इन भारतीय उपनिवेशों में संस्कृत भाषा और ब्राह्मी लिपि का भी प्रयोग होने लगा। यद्यपि सर्वसाधारण लोग पुरानी प्राकृत को ही प्रयुक्त करते रहे, पर सुशिक्षित लोग संस्कृत का अध्ययन करने के लिए प्रवृत्त हुए। चौथी सदी के अन्त में जब चीनी यात्री फाइयान मध्य एशिया के इन प्रदेशों में आया, तो इनका वर्णन करते हुए उसने लिखा है कि इनके निवासी धर्म और संस्कृति की दृष्टि से भारतीयों के सदृश हैं। भिक्षु लोग संस्कृत पढ़ते हैं, और बौद्ध धर्म की भारतीय पुस्तकों का अध्ययन करते हैं।

मध्य एशिया के राजनीतिक इतिहास के परिज्ञान के सम्बन्ध में अभी बहुत कम कार्य हुआ है। इसीलिए वहाँ के भारतीय उपनिवेशों की राजनीतिक व अन्य घटनाओं का लिख सकना अभी सम्भव नहीं है। उनके सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने के जो साधन इस समय उपलब्ध हैं, वे निम्नलिखित हैं—(१) प्राचीन चीनी ग्रन्थ—चीन की

पश्चिमी सीमा मध्य एशिया के साथ लगती थी, और वर्तमान समय में इस क्षेत्र का बड़ा भाग (सिंकियांग या चीनी तुर्किस्तान) चीन के अन्तर्गत भी है। चीन के शक्तिशाली सम्राट् समय-समय पर मध्य एशिया के विविध राज्यों पर आक्रमण कर उन्हें अपने अधीन करने के लिये प्रयत्न करते रहे। इस कारण चीन के प्राचीन साहित्य में जहाँ शक्तिशाली चीनी राजाओं की विजयों तथा साम्राज्य-विस्तार ,का वर्णन है, वहाँ स्वाभाविक रूप से मध्य एशिया के विविध राज्यों के विषय में भी अनेक सूचनाएँ विद्यमान हैं। (२) तिब्बती अनुश्रति—तकला-मकान मरुभूमि के दक्षिण में जो अनेक उपनिवेश थे, तिब्वत की उत्तरी सीमा उनके साथ लगती थी। इस कारण कतिपय प्रतापी तिब्बती राजाओं ने भी उत्तर दिशा में अग्रसर होकर इन उपनिवेशों पर आक्रमण किये और इन्हें अपनी अधीनता स्वीकृत करने के लिए विवश किया। अतः प्राचीन तिब्बती अनुश्रुति से भी तिब्बत के पड़ौस में स्थित इन भारतीय उपनिवेशों के सम्बन्ध में बहुत-सी महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात होती हैं। (३) प्राचीन अवशेष—मध्य एशिया के विविध प्रदेशों में प्राचीन काल में बहुत-से बौद्ध विहारों, चैत्यों, गुहा-मन्दिरों तथा स्तूपों की सत्ता थी, जिनके भग्नावशेष इस समय भी विद्यमान हैं। ये प्रायः रेत के बड़े-बड़े डूहों या ढेरों के नीचे दवे पड़े हैं। उन्नीसवीं सदी में अनेक फ्रेंच, जर्मन, रूसी तथा अंग्रेज विद्वानों ने मध्य एशिया का अवगाहन कर इन्हें प्रकाश में लाने का प्रयत्न किया, जिसके कारण इस क्षेत्र में भारतीय धर्म तथा संस्कृति की सत्ता के ठोस प्रमाण अब उपलब्ध हो गये हैं। पर अभी इस क्षेत्र से ऐसे अभिलेख, सिक्के व ग्रन्थ आदि, जिनसे वहाँ के भारतीय उपनिवेशों का राजनीतिक इतिहास तैयार करने में सहायता मिल सके, बहुत ही कम प्राप्त हुए हैं। इसमें सन्देह नहीं, कि मध्य एशिया में बहुत-से प्राचीन नगरों के खण्डहर भी रेत के ढेरों के नीचे दबे पड़े हैं। अभी उनकी खुदाई का कार्य समुचित रूप से सम्पन्न नहीं किया गया है। रूस ने गत वर्षों में इस ओर ध्यान दिया है, और वहाँ के पुरातत्त्व विभाग ने कतिपय ऐसे प्राचीन नगरों की खुदाई भी करायी है जो इस समय समाजवादी सोवियत रूसी संघ राज्य के अन्तर्गत प्रदेशों में हैं। पर भारत के प्राचीन उपनिवेश—प्रधानतया उन प्रदेशों में थे, जो वर्तमान काल में चीनी तुर्किस्तान या सिंकियांग के अंग हैं। यह आशा की जा सकती है, कि भविष्य में चीनी तुर्किस्तान में भी पुरातत्त्व-सम्बन्धी खोज द्वारा ऐसी सामग्री उपलब्ध हो जायेगी, जिसके द्वारा इस क्षेत्र के भारतीय उपनिवेशों का प्रमाणिक इतिहास तैयार कर सकना सम्भव हो सकेगा।

जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, मध्य एशिया के बड़े भाग में अनेक घुमन्तू या फिरन्दर जातियों का निवास था, और भारतीय उपनिवेशों (या ऐसे राज्यों, जिनमें भारतीय धर्म तथा संस्कृति की सत्ता थी) की उनके बीच में वही स्थिति थी जो समुद्र मध्य में द्वीपों की होती है। मध्य एशिया के प्राचीन इतिहास को भलीभाँति समझने के लिए इस तथ्य को अधिक स्पष्ट करने की आवश्यकता है।

मध्य एशिया के दो क्षेत्र थे, एक में घुमन्तू जातियों का निवास था और दूसरे में ऐसे जनपदों या राज्यों की सत्ता थी जिनके निवासी वहाँ स्थायी रूप से बसे हुए थे।

घुमन्तू जातियों के क्षेत्र के भी दो भाग थे। ठेठ चीन के उत्तर में मंचूरिया और मंगोलिया के प्रदेशों में ऐसी घुमन्तू जातियाँ रहती थीं, जो जातीय दृष्टि से आर्य न होकर मंगोल, तुर्क या हूण थीं। इस क्षेत्र के पश्चिम में थियानशान पर्वतमाला के उत्तर से लगाकर दक्षिणी रूस तक ऐसी घुमन्तू जातियों का निवास था, जो विशाल इन्डो-यूरोपियन या आर्य जाति की शाखाएँ थीं। ऊपर हमने जिन युइशि, वू-सुन, तुखार तथा शक जातियों का उल्लेख किया है, वे जातीय दृष्टि से आर्य ही थीं। ये जातियाँ (युइशि, वू-सुन, हिगनू, श्वेत हूण, तुर्क आदि) समय-समय पर उन प्रदेशों पर आक्रमण करती रहीं, जहाँ स्थायी रूप से बसे हुए लोगों ने अपने विविध जनपद या राज्य कायम किये हुए थे। ये स्थायी राज्य इन क्षेत्रों में थे—(१) तकला मकान मरुस्थल के उत्तर में भरुक, कुची, अग्निदेश आदि में, (२) तकला मकान के दक्षिण में यारकन्द, खोतन, चल्मद आदि में (३) वंक्षु और सीर नदियों के मध्यवर्ती सुग्ध देश में, और (४) सुग्ध के दक्षिण में बल्ख के प्रदेश में।

मध्य एशिया में भारतीय संस्कृति और धर्म के केन्द्र ये जनपद ही थे, जिनमें कि आर्य जाति की ही विविध शाखाएँ स्थायी रूप से बसी हुई थीं। समय-समय पर इन पर घुमन्तू जातियों के आक्रमण होते रहे, और वे इन्हें अपनी अधीनता में भी लाती रहीं। पर इससे इनके सांस्कृतिक जीवन में विशेष अन्तर नहीं आया। घुमन्तू जातियाँ ही इनके सम्पर्क में आकर भारतीय संस्कृति से प्रभावित होती रहीं।

मध्य एशिया के भारतीय उपनिवेशों में खोतन और कुची प्रधान थे। तकला-मकान के दक्षिण में स्थित भारतीय उपनिवेशों में खोतन सब से शक्तिशाली एवं समृद्ध था, और उत्तर में कुची। हम अब इनके इतिहास पर संक्षेप से प्रकाश डालेंगे।

(२) खोतन का राज्य

खोतन की स्थापना के सम्बन्ध में तिब्बत और चीन के प्राचीन ग्रन्थों में अनेक कथाएँ पायी जाती हैं। रॉकहिल ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'लाइफ आफ बुद्ध' में प्राचीन तिब्बती अनुश्रुति का संकलन किया है। वहाँ खोतन के विषय में जो कथा दी गई है, वह इस प्रकार है—

बुद्ध कश्यप के समय में कुछ ऋषि खोतन देश में गये, पर वहाँ के निवासियों ने उनके प्रति बहुत बुरा बरताव किया। इस कारण वे वहाँ से चले गये। इससे नागों को बहुत कष्ट हुआ। उन्होंने सम्पूर्ण खोतन को एक झील के रूप में परिवर्तित कर दिया। जब बुद्ध शाक्य मुनि इस संसार में विद्यमान थे, वे भी खोतन पधारे थे। उन्होंने खोतन की झील को प्रकाश की किरणों से घेर लिया। इस प्रकाश से ३६३ फूल उत्पन्न हुए। प्रत्येक कमल के मध्य में एक-एक दीप प्रदीप्त हो रहा था। सब कमलों का प्रकाश एक स्थान पर एकत्र हो गया, और इस प्रकाश ने झील के चारों ओर बायें पार्श्व से दायें पार्श्व की तरफ तीन बार चक्कर लगाये। इसके बाद प्रकाश लुप्त हो गया। बुद्ध शाक्य मुनि ने इसी प्रकार के अन्य भी प्रयोग किये, जिनके प्रभाव से खोतन की झील सूख गई, और वह देश मनुष्यों के निवास-योग्य हो गया।

राजा अजातशत्रु ने ३२ वर्ष राज्य किया। उसके राज्याभिषेक के पाँच वर्ष बाद बुद्ध की मृत्यु हो गई। अजातशत्रु से धर्माशोक तक कुल दस राजा हुए। धर्माशोक ने ५४ वर्ष राज्य किया। बुद्ध की मृत्यु के २३४ वर्ष बाद भारत में धर्माशोक का राज्य था। यह राजा पहले बड़ा क्रूर और अत्याचारी था। उसने अर्हत यश से बौद्ध धर्म की दीक्षा ग्रहण की, और भविष्य में कोई भी पाप न करने की प्रतिज्ञा की। इस समय खोतन की झील सूख चुकी थी, पर वह देश अभी आबाद नहीं हुआ था।

राज्याभिषेक के तीसवें साल में अशोक की महारानी के एक पुत्र उत्पन्न हुआ। ज्योतिषियों ने बताया कि बालक में प्रभुता के अनेक चिह्न विद्यमान हैं, और यह पिता के जीवन काल में ही राजा बन जायगा। यह सुनकर अशोक को बड़ी चिन्ता हुई। उसने आज्ञा दी, कि इस बालक का परित्याग कर दिया जाय। परित्याग करने के बाद भी भूमि माता द्वारा बालक का पालन होता रहा। इसीलिए उसका नाम कुस्तन (कु-भूमि है स्तन जिसकी) पड़ गया।

उस समय चीन के एक प्रदेश में बोधिसत्व का राज्य था। उसके ९९९ पुत्र थे। इस पर बोधिसत्व ने वैश्रवण से प्रार्थना की, कि उसके एक पुत्र और हो जाय, ताकि संख्या पूरी १००० हो जाय। वैश्रवण ने देखा, कि कुस्तन का भविष्य बहुत उज्ज्वल है। वह उसे चीन ले गया और बोधिसत्व के पुत्रों में सम्मिलित कर दिया। एक दिन जब कुस्तन का बोधिसत्व के अन्य पुत्रों के साथ झगड़ा हो रहा था, तो उन्होंने उससे कहा—'तू सम्राट् का पुत्र नहीं है।' यह जानकर कुस्तन को बड़ा कष्ट हुआ। इस बात की सचाई का निश्चय करके उसने राजा से अपने देश का पता लगाने और वहाँ जाने की अनुमति माँगी। इस पर राजा ने कहा—'तू मेरा ही पुत्र है। यह तो तेरा अपना देश है। तुझे दुःखी नहीं होना चाहिये।' पर कुस्तन का इससे भी सन्तोष नहीं हुआ। कुस्तन ने पक्का इरादा कर लिया था, कि उसका भी अपना पृथक् राज्य हो। अतः उसने अपने दस हजार साथियों को एकत्र किया, और पश्चिम की तरफ चल पड़ा। इस तरह चलते-चलते वह खोतन के मेस्कर नामक स्थान पर जा पहुँचा।

सम्राट् अशोक के एक मन्त्री का नाम यश था। वह बहुत प्रभावशाली था। धीरे-धीरे वह राजा की आँखों में खटकने लगा। यश को जब यह बात मालूम हुई, तो उसने भी यही निश्चय किया कि भारत छोड़कर अपने लिए नया क्षेत्र ढूँढ़ ले। उसने अपने सात हजार साथियों के साथ सुदूर पश्चिम में नये प्रदेशों का अनुसन्धान प्रारम्भ किया। इस प्रकार वह खोतन में उथेन नदी के दक्षिणी तट पर जा पहुँचा।

अब ऐसा हुआ, कि कुस्तन के अनुयायियों में से दो व्यापारी घूमते-फिरते तो-ला नाम के प्रदेश में आये। यह प्रदेश उस समय बिल्कुल गैर-आबाद था। इसकी रमणीयता को देखकर उन्होंने विचार किया, कि यह प्रदेश कुमार कुस्तन द्वारा आबाद किये जाने के योग्य है। मन्त्री यश को कुस्तन के बारे में जब पता लगा, तो उसने यह सन्देश उसके पास भेजा—'तुम राजघराने के हो और मैं कुलीन घराने का हूँ। अच्छा हो कि हम परस्पर मिल जायँ और इस उथेन प्रदेश में मिलकर बस जायँ। तुम राजा बनो और मैं तुम्हारा मन्त्री।' यह विचार कुस्तन को बहुत पसन्द आया। कुस्तन ने अपने

चीनी अनुयायियों के साथ और यश ने अपने भारतीय साथियों के साथ परस्पर सहयोग से इस प्रदेश को आबाद किया। कुस्तन राजा बना, और यश उसका मन्त्री। कुस्तन के चीनी साथी उ-थेन (खोतन) नदी के निचले भाग में बसे और यश के भारतीय साथी उ-थेन के उपरले भाग में। बीच के क्षेत्र में चीनी और भारतीय साथ-साथ निवास करने लगे। तदनन्तर उन्होंने एक दुर्ग का निर्माण किया, जो इस राज्य की राजधानी बना। तिब्बती अनुश्रुति के अनुसार "खोतन देश आधा चीनी है और आधा भारतीय। लोगों की भाषा न तो पूरी तरह भारतीय ही है और न चीनी ही। वह दोनों का सम्मिश्रण है। अक्षर बहुत कुछ भारतीय लिपि से मिलते-जुलते हैं, लोगों की आदतें चीन से बहुत कुछ मिलती हैं। धर्म और भाषा भारत से मिलते हैं। खोतन में वर्तमान भाषा का प्रवेश आर्यों (बौद्ध-प्रचारकों) द्वारा हुआ है।" जिस समय कुस्तन बोधिसत्वों को छोड़कर नये राज्य के अन्वेषण के लिए चला था, उसकी आयु केवल बारह साल की थी। जब उसने खोतन में अपने राज्य की स्थापना की, तो वह १६ साल का हो गया था। बुद्ध के निर्वाण से ठीक २३४ वर्ष बाद खोतन राज्य की स्थापना हुई। अशोक अभी जीवित था। ज्योतिषियों की यह भविष्यवाणी सिद्ध हुई, कि कुमार कुस्तन अपने पिता के जीवन-काल में ही राजा बन जायेगा।

खोतन की स्थापना के सम्बन्ध में जो कथाएँ चीनी अनुश्रुति में पायी जाती हैं, वे तिब्बती कथा से भिन्न हैं। चीनी अनुश्रुति की एक कथा को ह्यु एन्-त्सांग ने अपने यात्रा-विवरण में उल्लिखित किया है। उसके अनुसार जब कुमार कुणाल तक्षशिला में शासन करने के लिये नियुक्त था, तो उसकी विमाता तिष्यरक्षिता ने ईर्ष्यावश उसे अन्धा करने की आज्ञा (अशोक की दन्तमुद्रा के साथ) तक्षशिला के अमात्यों को भिजवा दी। राजकीय आज्ञा का पालन किया ही जाना चाहिए, यह कहकर कुणाल ने स्वयं अपनी आँखों को निकलवा दिया। राजा अशोक को जब अपने प्रिय पुत्र कुणाल के अन्धा किए जाने का समाचार ज्ञात हुआ, तो वह बहुत क्रुद्ध हुआ और उसने तक्षशिला के उन सब लोगों को देश से बहिष्कृत कर दिया, जिन्होंने कुणाल को अन्धा करने में हाथ बटाया था। ये सब हिम से आच्छादित पर्वतमाला के पार की मरुभूमि में जाकर बस गए, और उन्होंने अपने एक सरदार को अपना राजा निर्वाचित कर वहां निवास प्रारम्भ कर दिया। यही समय था, जबकि पूर्वी देश के एक राजा का एक पुत्र भी अपने राज्य से बहिष्कृत किया जाकर मरुभूमि के पूर्वी प्रदेश में निवास कर रहा था। उस प्रदेश के निवासियों ने उसे अपना राजा बना लिया। इस प्रकार खोतन के प्रदेश में दो राज्य हो गए, जिनके राजा दो भिन्न व्यक्ति थे। इन राज्यों के निवासियों में प्रायः संघर्ष होता रहता था। इन संघर्षों में अन्ततोगत्वा पूर्वी राज्य की जीत हुई, और उसके राजा ने सम्पूर्ण खोतन में सुव्यवस्थित शासन का सूत्रपात किया। पर इस राजा के कोई सन्तान नहीं थी। जब वह वृद्ध हो गया, तो वैश्रवण के मन्दिर में जाकर उसने पुत्र के लिए प्रार्थना की। इस पर वैश्रवण की मूर्ति का शीर्षभाग खुल गया और उसमें से एक छोटा-सा बालक प्रकट हुआ। इसे देख कर राजा और प्रजा दोनों बहुत प्रसन्न हुए। पर यह बालक दूध नहीं

पीता था। समस्या यह उत्पन्न हुई, कि दूध के बिना बालक का पालन-पोषण कैसे किया जाए। इस पर राजा बालक को फिर वैश्रवण के मन्दिर में ले गया, और वहाँ जाकर देवता से बालक के पालन-पोषण के लिए प्रार्थना की। राजा की प्रार्थना स्वीकार कर देव-मूर्ति के सामने की जमीन फट गई, और वहाँ एक स्तन प्रकट हुआ। बालक ने इस स्तन से निकलने वाले स्तन्य का पान किया। क्योंकि यह बालक कु (पृथिवी) के स्तन से स्तन्य पान कर बड़ा हुआ था, इसी कारण यह कुस्तन कहाया। बड़ा होकर यह कुस्तन उस देश का राजा बना, और उसके तथा उसके उत्तराधिकारियों के शासनकाल में खोतन की बहुत उन्नति हुई।

ह्यु्एन्-त्सांग द्वारा उल्लिखित इस चीनी कथा में तिब्बती अनुश्रुति की कथा से अनेक भिन्नताएं हैं। इसके अनुसार कुस्तन अशोक का पुत्र न होकर खोतन के ही एक राजा का पुत्र था। भारत तथा लंका की प्राचीन अनुश्रुति में कुस्तन का कहीं उल्लेख नहीं है, अतः यह निर्णय कर सकना बहुत कठिन है कि कुस्तन का भारत या अशोक के साथ कोई सम्बन्ध था या नहीं। पर चीन और तिब्बत दोनों देशों की कथाओं से यह बात भली-भाँति स्पष्ट हो जाती है, कि राजा अशोक के समय में भारतीयों द्वारा एक उपनिवेश खोतन में बसाया गया था, जिसमें चीनी लोगों का सहयोग उन्हें प्राप्त था। कुस्तन और यश धर्म-प्रचारकों के रूप में खोतन नहीं गए थे। वे वहाँ उपनिवेश बसाने के प्रयोजन से गए थे। उस युग में भारत की राजनीतिक शक्ति बहुत अधिक थी। हिन्दूकुश पर्वतमाला के परे के भूखण्ड के साथ भारत का घनिष्ठ सम्बन्ध भी था, और भारत के व्यापारी इस क्षेत्र के देशों में व्यापार के लिए आते-जाते रहते थे। बहुत-से साहसी भारतीय अपनी मातृभूमि को सदा के लिए नमस्कार कर सुदूर प्रदेशों में नए उपनिवेश बसाने में भी तत्पर थे। खोतन का नया राज्य भारतीयों की इसी प्रवृत्ति का परिणाम था। चीनी और तिब्बती दोनों अनुश्रुतियों के आधार में यह तथ्य विद्यमान है, कि खोतन का प्रारम्भ भारत के एक उपनिवेश के रूप में हुआ था और अशोक के समय में वहाँ भारतीय धर्म तथा संस्कृति का प्रवेश शुरू हो गया था।

तिब्बती अनुश्रुति के अनुसार कुस्तन के बाद उसका पुत्र ये-उ-ल खोतन का राजा बना। चीन की कथाओं में यू-लिन नामक एक राजा का उल्लेख है, जो पहली सदी ई० पू० में खोतन में शासन कर रहा था। तिब्बती अनुश्रुति का ये-उ-ल और चीनी कथाओं का यू-लिन एक ही राजा को सूचित करते हैं, यह कह सकना कठिन है।

तिब्बती अनुश्रुति के अनुसार ये-उ-ल के बाद उसका पुत्र विजित-सम्भव खोतन के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। इसके शासन काल को सुनिश्चित रूप से निर्धारित कर सकना सम्भव नहीं है। पर उसका समय ईस्वी सन् के प्रारम्भ काल के लगभग कभी था क्योंकि उसका उत्तराधिकारी विजितकीर्ति कुशाणवंशी राजा कनिष्क का समकालीन था। विजितसम्भव के बाद जो राजा खोतन की राजगद्दी पर बैठे, उनके नाम तिब्बती अनुश्रुति में विद्यमान हैं। इन सबके नाम 'विजित' शब्द से प्रारम्भ होते हैं। पहले 'विजित' को 'विजय' पढ़ा गया था। पर अब यह स्वीकार कर लिया गया

है, कि खोतन के ये भारतीय राजा अपने नाम का प्रारम्भ 'विजित' से करते थे। इसीलिए इनके वंश को 'विजित वंश' भी कहा जा सकता है।

विजितसम्भव के एक वंशज ने समीप के विविध राज्यों को जीतकर अपनी शक्ति का बहुत विस्तार किया। तकला मकान की मरुभूमि के जो अनेक भारतीय उपनिवेश उस समय विद्यमान थे और प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार जिनकी संख्या तेरह थी, उन सबको इस राजा ने जीत लिया। जिस समय कुशाण राजा विम क्थफिस भारत में अपनी शक्ति का विस्तार कर रहा था, खोतन के इस प्रतापी राजा ने तकला-मकान की मरुभूमि के दक्षिण में स्थित सब उपनिवेशों पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था (६० ईस्वी के लगभग)। खोतन का यह प्रतापी राजा सम्भवतः विजितधर्म या विजितसिंह था। ७६ ईस्वी में जब चीन के सम्राट हो-ती ने अपने सेनापति पान-छाओ को पश्चिमी देशों को अपने शासन में ले आने के लिए भेजा, तो उसने खोतन के राजा से मैत्री स्थापित की और उसकी सहायता से मध्य एशिया के प्रायः सभी राज्यों से चीन का आधिपत्य स्वीकार करा लिया। पान-छाओ जो पश्चिम में कैस्पियन सागर तक चीन का प्रभुत्व स्थापित कर सका, उसमें खोतन के राजा का सहयोग उसे प्राप्त था।

कनिष्क ने उत्तरी भारत में अपनी शक्ति का विस्तार करते हुए खोतन के राजा विजितकीर्ति से सहायता प्राप्त की थी, तिब्बती अनुश्रुति में यह बात भी उल्लिखित है। एक कथा के अनुसार राजा कनिक (कनिष्क) और गुजान (कुशाण) राजा के साथ खोतन के राजा विजितकीर्ति ने उत्तरी भारत में साकेत (अयोध्या) तक के प्रदेश को आक्रान्त किया था। कुशाणवंशी राजा कनिष्क का शासन साकेत तथा पाटलिपुत्र तक विस्तृत था। आश्चर्य नहीं, कि कनिष्क के इस साम्राज्य विस्तार में खोतनराज विजयकीर्ति उसका सहायक रहा हो। मध्य एशिया तथा उत्तर के देशों की विजय के लिए कनिष्क ने जो प्रयत्न किए, और उनके कारण चीन के सेनापति पान छांग के साथ उसके जो युद्ध हुए, उनका उल्लेख इसी अध्याय में ऊपर किया जा चुका है। कनिष्क की इन विजयों के कारण मध्य एशिया कुशाण साम्राज्य के अन्तर्गत हो गया था, और खोतन के राजा ने भी उसकी अधीनता स्वीकार कर ली थी। पर कुशाण वासुदेव के शासनकाल (१५२-१८६ ईस्वी) में जब कुशाण साम्राज्य में शिथिलता आने लगी, तो खोतन स्वतन्त्र हो गया। ज्वान-ज्वान या जू-जून नामक हूण जाति ने मध्य एशिया से कुशाणों की शक्ति का अन्त करने में जो कर्तृत्व प्रदर्शित किया था, उसका उल्लेख भी ऊपर किया जा चुका है। पर ज्वान-ज्वान लोगों ने खोतन पर आक्रमण नहीं किया था, और वहाँ के राजा कुशाणों की निर्बलता से लाभ उठाकर पूर्णतया स्वतन्त्र होने में समर्थ हो गए थे। कनिक को कनिष्क से और गुजान को कुशाण से मिलाकर ही राजा विजितकीर्ति का समय ईस्वी सन् की पहली सदी के उत्तरार्ध में निर्धारित किया गया है। पर यह ध्यान में रखना चाहिए, कि खोतन के इन राजाओं के समय के सम्बन्ध में सब ऐतिहासिक एकमत नहीं हैं। वस्तुतः, खोतन का राजनीतिक इतिहास सर्वथा अस्पष्ट है। तिब्बती अनुश्रुति द्वारा उसके राजाओं

का पौर्वापर्य क्रम अवश्य ज्ञात होता है, और साथ ही उनके विषय में कतिपय घटनाओं के संकेत भी। वहाँ लिखा गया है, कि खोतन में बौद्ध धर्म का प्रवेश राजा विजित-सम्भव के शासन के पाँचवें वर्ष में हुआ था, और राजा विजितधर्म ने काशगर पर आक्रमण कर उसे भी अपने अधीन कर लिया था। विजितधर्म राजा विजितसम्भव के पश्चात् ग्यारहवीं पीढ़ी में हुआ था, और वह बौद्धधर्म का कट्टर अनुयायी था। चीनी साहित्य द्वारा भी इस तथ्य की पुष्टि होती है, कि यद्यपि काशगर पहले एक शक्तिशाली राज्य था, पर बाद में वह खोतन के आधीन हो गया था।

पर खोतन देर तक अपनी स्वतन्त्रता को कायम नहीं रख सका। पाँचवी सदी के प्रारम्भ काल में श्वेत हूणों ने उसे आक्रान्त किया, और छठी सदी में तुर्कों ने। श्वेत हूणों तथा तुर्कों की शक्ति के प्रसार पर इसी अध्याय में पहले प्रकाश डाला जा चुका है। सातवीं सदी के शुरू में विजितसंग्राम नामक राजा ने खोतन को तुर्कों की अधीनता से स्वतन्त्र कराया। यह विजितसंग्राम निश्चय ही खोतन के पुराने राजाओं का वंशज था। पर खोतन अपनी स्वतन्त्रता को तभी कायम रख सकता था, जबकि किसी शक्तिशाली राजा का साहाय्य एवं संरक्षण उसे प्राप्त रहे। इस युग में चीन के सम्राट् भी मध्य एशिया के क्षेत्र में अपने प्रभाव को स्थापित करने में तत्पर थे, और साथ ही हूणों तथा तुर्कों के विरुद्ध भी वे संघर्ष में लगे थे। इस दशा में खोतन के नये स्वतन्त्र हुए राजा विजित संग्राम ने एक दूतमण्डल चीन के सम्राट् की सेवा में भेजा (६३२ ईस्वी), और तीन साल बाद अपने पुत्र को भी चीन के दरबार में प्रेषित किया। ६४८ ई० में खोतन का राजा (जो सम्भवतः विजितसंग्राम का उत्तराधिकारी था) स्वयं चीन के राजदरबार के उपस्थित हुआ था। इस काल में चीन में तांगवंश के राजाओं का शासन था, जो अत्यन्त शक्तिशाली तथा महत्त्वाकांक्षी थे। इस वंश के शासन का प्रारम्भ ६१८ ई० में हुआ था और इसका प्रथम राजा काओत्सु खोतन को भी अपना वंशवर्ती बनाने में समर्थ हुआ था, जिसके कारण वहाँ के राजा चीन के साथ मैत्री-सम्बन्ध कायम रखने को उत्सुक रहते थे। वस्तुतः, खोतन के लिए इस समय चीन की मैत्री व साहाय्य का बहुत महत्त्व था। सातवीं सदी में तिब्बत में स्रोङ्-गचन-गस्म-पो नाम का शक्तिशाली राजा हुआ, जिसने पड़ौस के अनेक राज्यों की विजय कर अपनी शक्ति का विस्तार किया था। उसके उत्तराधिकारियों ने भी विजय की प्रक्रिया को जारी रखा, और तिब्बत के उत्तर-पश्चिम में स्थित खोतन सदृश मध्य एशिया के भारतीय औपनिवेशिक राज्यों पर भी आक्रमण किए। तिब्बती अनुश्रुति के अनुसार इन आक्रमणों के कारण खोतन तिब्बत की अधीनता में आ गया था, और उसके राजा स्रोङ्-गचन-गस्म-पो के उत्तराधिकारियों के प्रभुत्त्व को स्वीकृत करने लग गये थे। तिब्बती कथाओं के अनुसार खोतन के अन्तिम राजा का नाम विजितवाहम था। विजितवाहम नाम के एक राजा का उल्लेख मध्य एशिया से प्राप्त दो अभिलेखों में भी विद्यमान है, जो ईरानी भाषा में होने पर भी भारतीय लिपि में लिखे हुए हैं। इन अभिलेखों का विजितवाहम और तिब्बती अनुश्रुति का विजितवाहम सम्भवतः एक ही व्यक्ति हैं।

पर तिब्बत भी खोतन को देर तक अपनी अधीनता में नहीं रख सका। चीन के तांग वंशी राजा अपनी शक्ति को पुनःस्थापित करने के लिए निरन्तर प्रयत्न करते रहे, और आठवीं सदी का अन्त होने से पूर्व ही यह स्थिति आ गई थी, कि मध्य एशिया के विविध प्रदेशों पर तिब्बत का आधिपत्य कायम नहीं रह सका था। खोतन के राजा अब तिब्बत के प्रभुत्त्व से प्रायः मुक्त हो गए थे, और वे अपनी स्वतन्त्र सत्ता को सुरक्षित रखने के लिए फिर से चीन के सम्राटों का साहाय्य प्राप्त करने लगे थे। यही कारण है, कि चीन की प्राचीन अनुश्रुति में इस काल के अनेक ऐसे खोतनी राजाओं का उल्लेख है, जिन्होंने कि चीन के सम्राटों की सेवा में अपने दूतमण्डल भेजे थे, और जो विविध भेंट-उपहार आदि द्वारा उन्हें संतुष्ट करते रहते थे। वस्तुतः, नवीं और दसवीं सदियों में खोतन की स्थिति चीन के संरक्षित राज्य के सदृश हो गई थी। इसीलिये चीन के प्राचीन साहित्य में खोतन के राजाओं के नाम तथा उन द्वारा चीन के सम्राटों की सेवा में भेजे गये दूतमण्डलों आदि का बार-बार उल्लेख मिलता है।

मध्य एशिया में तुर्कों का उत्कर्ष किस प्रकार हुआ, इस विषय पर इसी अध्याय में ऊपर प्रकाश डाला जा चुका है। ग्यारहवीं सदी के प्रारम्भ तक काशगर के तुर्क खान इस्लाम के अनुयायी हो चुके थे। काशगर के राजा अब्दुल हसन नस्र इलिक करा खान ने अपने भाई यूसुफ कदर खान को १००७ ई० के लगभग खोतन की विजय के लिए भेजा। पर वह इस भारतीय राज्य को सुगमता से नहीं जीत सका। खोतन में जो राजा इस समय शासन कर रहा था, मुसलिम विवरणों में उसे "जगालू खल-खालू" विरुद से सूचित किया गया है। खोतन के बौद्ध राजा ने चिरकाल तक मुसलिम तुर्क आक्रान्ता का सामना किया, और उसकी गति को अवरुद्ध करने में अनुपम वीरता प्रदर्शित की। पर अन्त में वह परास्त हो गया, और खोतन ऐसे तुर्कों की अधीनता में आ गया, जो बौद्ध धर्म का परित्याग कर इस्लाम को अपना चुके थे। मुसलिम तुर्कों में इस्लाम के लिए अनुपम जोश था, और वे कुफ्र को सहन करने के लिए तैयार नहीं थे। खोतन से बौद्ध धर्म तथा भारतीय संस्कृति का अन्त करने में उन्होंने कोई कसर उठा नहीं रखी, और उन्हीं के प्रयत्न का यह परिणाम हुआ कि मध्य एशिया में भारतीय धर्म तथा सभ्यता का यह महत्त्वपूर्ण केन्द्र नष्ट हो गया।

यहाँ यह स्पष्ट रूप से जान लेना चाहिए, कि खोतन के राजनीतिक इतिहास का जो परिचय हमने दिया है, वह सर्वसम्मत नहीं है। वस्तुतः, मध्य एशिया के भारतीय उपनिवेशों के सम्बन्ध में अभी इतनी कम सामग्री उपलब्ध है, कि उसके आधार पर कोई ऐसा इतिवृत्त तैयार नहीं किया जा सकता जो प्रामाणिक व ठोस आधारों पर आधारित हो। चीनी और तिब्बती अनुश्रुतियों के अस्पष्ट होते हुए भी उनके आधार पर खोतन के प्राचीन इतिहास के सम्बन्ध में जो रूपरेखा तैयार की जा सकती है, उसे ही हमने यहाँ प्रस्तुत किया है, यद्यपि सब ऐतिहासिक उससे भी सहमत नहीं हैं।

(४) कुची का राज्य

तकला मकान मरुस्थल के दक्षिण में जो स्थिति खोतन की थी, उसके उत्तर में वही कुची की थी। थियानशान पर्वतमाला और तकला मकान मरुभूमि के बीच के तारीम नदी द्वारा सिञ्चित प्रदेश में यह राज्य स्थित था, और उस क्षेत्र के विविध राज्यों में यह सब से अधिक शक्तिशाली और समृद्ध था। वराहमिहिर ने बृहत्संहिता में शक, पह्लव, शूलिक और चीन आदि के साथ 'कुशिक' का भी उल्लेख किया है। वराहमिहिर को कुशिक से 'कुची' ही अभिप्रेत था, यह अनुमान कर सकना कठिन नहीं है। अशोकावदान के चीनी अनुवाद में कुचा या कुची को अशोक के राज्य के अन्तर्गत लिखा गया है, पर यह सम्भव प्रतीत नहीं होता। पर इसमें सन्देह नहीं कि अशोक के समय में विदेशों में बौद्ध धर्म के प्रचार की जो प्रक्रिया प्रारम्भ हुई, कुछ समय पश्चात् मध्य एशिया भी उसका क्षेत्र बना और इस प्रकार इस क्षेत्र के राज्यों के साथ भारत का सम्बन्ध स्थापित हुआ।

कुची से भारतीय धर्म और सभ्यता के जो मूर्त अवशेष प्राप्त हुए हैं, उनका उल्लेख अगले अध्याय में किया जाएगा। यहाँ हमें इस राज्य के राजनीतिक इतिहास पर प्रकाश डालना है। कुची का इतिहास अभी भली-भांति ज्ञात नहीं हो सका है। क्योंकि चीन के साथ उसका घनिष्ठ सम्बन्ध रहा था, अतः स्वाभाविक रूप से चीन के प्राचीन ऐतिहासिक ग्रन्थों में कुची के राजाओं का भी उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त कुची प्रदेश के भग्नावशेषों में कतिपय ऐसे अभिलेख भी मिले हैं, जो वहाँ के इतिहास पर प्रकाश डालते हैं। कुची के साथ चीन का प्रथम सम्पर्क प्रसिद्ध चीनी सम्राट् वू ती (१४२-८५ ई० पूर्व) के समय में हुआ था। तभी से चीन के प्राचीन ग्रन्थों में कुची (या कुचा) तथा उसके राजाओं का वर्णन शुरू होता है। चीनी इतिवृत्त के अनुसार जब चीन से कुची का प्रथम सम्पर्क हुआ, तब इस राज्य में ६९६० परिवारों का निवास था जिनके सदस्यों की संख्या ८१३०७ थीं। इनमें से २१,०७६ सैनिक थे, जो शस्त्र धारण कर सदा युद्ध के लिए उद्यत रहते थे।

कुची के निवासियों की जाति के सम्बन्ध में प्रसिद्ध फ्रेंच विद्वान् सिल्वां लेवी ने विशद रूप से विवेचन किया है। कुची के प्राचीन अभिलेखों की भाषा का अनुशीलन कर वे इस परिणाम पर पहुँचे हैं, कि प्राचीन कुचिअन भाषा आर्य जाति की उन शाखाओं की भाषाओं से मिलती-जुलती है, जिन्होंने पश्चिमी यूरोप के विविध देशों को आबाद किया था। सिल्वां लेवी के इस मन्तव्य को प्रायः सभी ऐतिहासिकों ने स्वीकार कर लिया है, और अब यह माना जाता है कि कुची के प्राचीन निवासी विशाल आर्य जाति की ही अन्यतम शाखा थे। चीन के प्राचीन ऐतिहासिक ग्रन्थों में कुची के राजाओं तथा अन्य निवासियों के जो नाम मिलते हैं, उनमें से बहुत-से ऐसे हैं जिनके साथ 'पो' प्रयुक्त किया गया है। चीनी भाषा में पो का अर्थ श्वेत होता है। इससे भी कुछ ऐतिहासिकों ने यह परिणाम निकाला है कि कुची के प्राचीन निवासी श्वेत वर्ण के थे और यूरोपीय आर्यों से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध था।

चीन के ग्रन्थों में कुची का प्राचीनतम उल्लेख-वू-ती के समय का है, जब (१२२ ई० पू०) कि हानवंश के इस सम्राट् ने ली कुआँग-ली नामक सेनापति को ता-युआन पर आक्रमण करने के लिये भेजा था। वापसी में यह सेनापति यू-मी होकर गुजरा। यू-मी का राज्य तब कुची की अधीनता स्वीकार करता था, और वहाँ का राजा अपने पुत्र युवराज लाइ-तान को कुची के राजदरबार में भेजने की तैयारी कर रहा था। यह जानकर ली-कुआंग-ली बहुत क्रुद्ध हुआ। उसने कहा, इस क्षेत्र के अन्य सब राजा तो चीन का आधिपत्य स्वीकार करते हैं, यू-मी क्यों कुची की अधीनता में है। वह लाइ-तान को अपने साथ चीन ले गया। चीन के हानवंशी सम्राट् चाओ-ती (८६-७४ ई० पू०) ने लाइ-तान को अपने दरबार में सम्मानपूर्वक स्थान-प्रदान किया, और उसे पश्चिम के उन प्रदेशों का उपराज्यपाल भी नियत कर दिया जो चीन की अधीनता स्वीकार करते थे। लाइ-तान का यह उत्कर्ष कुची को सहन नहीं हुआ। कू-यिन नाम के एक सामन्त ने अपने राजा से कहा कि यू-मी पहले तो कुची के अधीन था और लाइ-तान उसके राजदरबार में आने को उद्यत था, पर अब वह चीन का सहारा पाकर वह कुची की जरा भी परवाह नहीं करता। इस पर कुची के राजा ने लाइ-तान की हत्या करा दी। अपने उपराज्यपाल के घात को चीन सहन नहीं कर सका। सियुआन-ती (७३-४९ ई० पू०) के शासन काल में चीन की एक सेना ने कुची पर आक्रमण किया, जिसका सामना कर सकना वहाँ के राजा के लिए सम्भव नहीं हुआ। उसने यह कहकर चीनी सेनापति से क्षमायाचना की, कि कू-यिन के बहकावे में आ कर उसके पूर्ववर्ती राजा ने लाइ-तान की हत्या करा दी थी। इस पर कू-यिन को चीन ले जाया गया, और वहाँ उसे मृत्युदण्ड दिया गया।

इस समय से कुची ने भी चीन के आधिपत्य को स्वीकार कर लिया, और इन दोनों देशों में घनिष्ठ मैत्री-सम्बन्ध स्थापित हो गया। कुची और चीन की मैत्री में तब और भी अधिक वृद्धि हुई, जबकि कुची के राजा कियांग-पिन ने वू-सुन लोगों के राजा की एक कन्या के साथ विवाह कर लिया। वू-सुन लोगों का राज्य कुची के उत्तर-पूर्व में था, और चीन के साथ उसका घनिष्ठ सम्बन्ध था। वू-सुन की यह राजकुमारी अपनी माँ की ओर से चीन के राजकुल के साथ सम्बद्ध थी। ६५ ई० पू० में कियांग-पिन ने अपनी रानी के साथ चीन की यात्रा की, और हानवंशी सम्राट् के राजदरबार में जाकर अनेक भेंट उपहार अर्पित किये। हान सम्राट ने भी उसे विविध उपहार प्रदान कर सम्मानित किया। कियांग-पिन को चीन के राजप्रासाद का जीवन बहुत पसन्द आया। वहां के रहन-सहन, चाल-चलन, वस्त्र परिधान और खानपान सब उसे बहुत अच्छे लगे। इसीलिए जब वह अपने देश को वापस लौटा, तो कुची में उसने एक ऐसे राजप्रासाद का निर्माण कराया, जो ठीक हान राजप्रासाद के सदृश था। उसकी साज-सज्जा आदि भी चीनी शैली पर ही की गई थी।

कियांग-पिन के बाद उसका पुत्र तेहंग-तो कुची के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। उसके तथा उसके उत्तराधिकारी एई-तो (३२-१ ई० पू०) के समय में कुची तथा चीन के सम्बन्ध और भी अधिक सुदृढ़ एवं मैत्रीपूर्ण हो गये। कुची के ये राजा

चीन के हानवंशी सम्राटों को अपने धर्मपिता के समान मानते थे और उनके साथ मैत्री-सम्बन्ध को गौरव की बात समझते थे। इस काल में चीन बहुत शक्तिशाली था, और तुर्फान, कुची आदि मध्य एशिया के राज्य हान सम्राटों के साथ सम्बन्ध रखने में गौरव अनुभव किया करते थे। हान सम्राटों का संरक्षण भी इन्हें प्राप्त था, जिसके कारण बाह्य आक्रमणों का इन्हें कोई भय नहीं रह गया था। इस दशा में मध्य एशिया के राज्यों को समृद्धि तथा उन्नति के पथ पर अग्रसर होने की सुवर्णीय अवसर प्राप्त हुआ। कुची ने इस स्थिति से विशेष लाभ उठाया। चीन की पश्चिमी सीमा पर स्थित तुङ्-ह्वांग् से पश्चिमी देशों को जाने वाला जो मार्ग तकला मकान की मरुभूमि के उत्तर से होकर काशगर जाता था, कुची उसके ठीक बीच में पड़ता था। चीन के रेशम की पश्चिमी देशों में बहुत मांग थी, जिसके कारण व्यापार के इस मार्ग का बहुत महत्त्व था, और इसे रेशम-पथ भी कहा जाता था। इस मार्ग के मध्य में स्थित होने के कारण कुची व्यापार का महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन गया, और उसकी बहुत समृद्धि हुई।

पहली सदी ईस्वी में प्रथम हान वंश की शक्ति क्षीण होने लगी, जिसके कारण मध्य एशिया के तुर्फान, कुची आदि राज्य चीन के आधिपत्य से मुक्त हो गए, और चीन के साथ उनके सम्बन्ध की समाप्ति हो गई। हूण लोगों की अन्यतम शाखा हिंगनू के आक्रमण इस समय मध्य एशिया तथा पश्चिमी चीन पर प्रारम्भ हो गए थे, जिसके परिणामस्वरूप चीन की राजशक्ति क्षीण होने लग गई थी। इस दशा में चोक्कु (यारकन्द) के राजा हिअन ने कुची पर आक्रमण कर दिया और वहाँ के राजा की हत्या कर अपने पुत्र त्सो-लो को वहाँ का शासक नियत किया (४६ ई०)। पर त्सो-लो देर तक कुची का शासन नहीं कर सका। वहाँ के पुराने राजकुल के लोगों ने त्सो-लो का घात कर दिया और चेन-तू नामक व्यक्ति को कुची के राजसिंहासन पर आरूढ़ कराया। त्सो-लो की हत्या तथा चेन-तू को राजा बनाने में हिंगनू लोगों का हाथ था, और उन्हीं की सहायता से कुची यारकन्द की अधीनता से मुक्त हुआ था। इस स्थिति में यह स्वाभाविक था कि चेन-तू हिंगनू राजा के आधिपत्य को स्वीकार करे, यद्यपि अपने राज्य में वह स्वतन्त्र शासक था।

७८ ईस्वी में कुची के राजा कि-अन ने अपनी शक्ति का विस्तार करते हुए काशगर पर आक्रमण किया, और वहाँ के राजा का घात कर तू-ती नामक व्यक्ति को वहाँ का शासक नियुक्त किया। यह तू-ती कुची का ही निवासी था। पर काशगर देर तक कुची के अधीन नहीं रह सका। पान-छाओ इसी समय मध्य एशिया में चीन के आधिपत्य की पुनःस्थापना का प्रयत्न कर रहा था। तकला मकान मरुभूमि के दक्षिणी राज्यों को वह पहले ही चीन की अधीनता में ला चुका था। अब उसने काशगर की ओर रुख किया और उसे कुची की अधीनता से मुक्त किया। पान-छाओ ने अब तकलामकान मरुभूमि के उत्तर में स्थित विविध राज्यों पर आक्रमण किया, और वहाँ के अक्सू, उच तुर्फान आदि राज्यों को जीत लिया। अब उत्तरी मध्य एशिया में केवल कुची ही ऐसा राज्य रह गया, जो चीन की प्रभुता को स्वीकृत करने के लिए उद्यत नहीं था। उसे परास्त करने के लिए पान-छाओ ने बहुत तैयारी की। कुची की सैन्य-

शक्ति बहुत अधिक थी, और सम्मुख युद्ध में उसे परास्त कर सकना सुगम नहीं था। अतः पान-छाओ ने कूटनीति का भी प्रयोग किया, और अन्त में वह कुची को अपना वशवर्ती बनाने में सफल हो गया (८८ ईस्वी)। वहाँ के राजा को सिंहासनच्युत कर चीन के सम्राट् द्वारा पो-पा को कुची का राजा बनाया गया। पो-पा भी कुची के राजकुल का था और चीन के आधिपत्य को स्वीकार करने को उद्यत था। पर पो-पा का मार्ग निष्कण्टक नहीं था। पान-छाओ के चीन वापस जाते ही उत्तरी मध्य एशिया के राज्यों ने विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया, और अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी। चिरकाल तक संघर्ष के अनन्तर चीन इन राज्यों को पुनः अपने अधीन करने में समर्थ हुआ (१०६ ईस्वी)।

यद्यपि चीन ने तकला मकान के उत्तर में स्थित कुची आदि राज्यों को अपना वशवर्ती बना लिया था, पर हिंगनू लोगों का दमन करना अभी शेष था। थियान-शान पर्वतमाला के उत्तर में हिंगनू लोगों का राज्य था, और वे चीन पर भी आक्रमण करते रहते थे। १२४ ईस्वी में चीन की एक शक्तिशाली सेना ने हिंगनू राज्य पर आक्रमण किया, और कुची, अक्सू तथा डच तुर्फान के राजाओं ने इस युद्ध में चीन की सहायता की। इस दशा में हिंगनू लोग चीन के सम्मुख नहीं टिक सके और वे परास्त हो गए।

१८४ से २२४ ईस्वी तक का कुची का इतिहास अज्ञात है। इस काल के मध्य एशिया के राज्यों के इतिवृत्त के सम्बन्ध में चीनी ग्रन्थों से कोई प्रकाश नहीं पड़ता। पर यह भरोसे के साथ कहा जा सकता है, कि इस एक सदी में कुची अत्यन्त शक्तिशाली व समृद्ध राज्य था, और उत्तरी मध्य एशिया के अन्य राज्य उसके आधिपत्य को स्वीकार करते थे। तीसरी सदी में चीन के साथ कुची का सम्बन्ध पुनःस्थापित हुआ, और कुची के राजाओं ने चीन के राजदरबार में अपने दूतमण्डल भेजने प्रारम्भ किए। यही कारण है, कि इस काल (२२४ ईस्वी) से चीन के ग्रन्थों में कुची का उल्लेख फिर से शुरू हो जाता है। तीसरी सदी में कुची की क्या दशा थी, इसका परिचय चीन के एक ग्रन्थ के इस कथन से प्राप्त होता है, कि "कुची का राज्य लो-यांग से १६५६ मील दूर है। वहाँ के लोग नगरों में निवास करते हैं। राजधानी के चारों ओर तीन प्राचीरें हैं। वहाँ बहुत-से बौद्ध स्तूप तथा संघाराम हैं, जिनकी संख्या १००० के लगभग है।" २८५ ईस्वी में कुची के राजा ने अपने पुत्र को चीन के राजदरबार में भेजा था, और चौथी सदी के पूर्वार्ध में भी कुची के राजदूत निरन्तर चीन जाते रहे।

पर कुची तथा चीन के सम्बन्ध देर तक मधुर नहीं रहे। ३८२ ई० में चीनी सम्राट् ने लू-कोआंग नामक सेनापति को ७०,००० सैनिकों के साथ कुची पर आक्रमण करने के लिए भेजा। कुची के राजा पो-शुन ने चीन की सैन्यशक्ति का मुकाबला करने के लिए भारी तैयारी की। दुर्ग के सब द्वार बन्द कर दिये गए, और सब नागरिकों को शस्त्र ग्रहण करने का आदेश दे दिया गया। पर लू-कोआंग की शक्तिशाली सेना के सम्मुख पो-शुन देर तक नहीं टिक सका। वह परास्त हो गया, और कुची से जो

बहुत-से व्यक्ति बन्दी बना कर चीन ले जाये गए, आचार्य कुमारजीव भी उनमें थे। उन्होंने चीन जाकर बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए जो महत्त्वपूर्ण कार्य किया, उसका उल्लेख अन्यत्र यथास्थान किया जाएगा। युद्ध में परास्त होकर कुची ने चीन के आधिपत्य को स्वीकार कर लिया, और चीन के सम्राट् ने पो-शुन के स्थान पर उसके भतीजे पो-चेन को कुची की राजगद्दी पर बिठाया।

५२० ईस्वी में संकलित बौद्ध ग्रन्थों से ज्ञात होता है, कि आचार्य कुमारजीव के समय में कुची बौद्ध धर्म का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। वहाँ बहुत-से संघाराम तथा चैत्य विद्यमान थे, जिन्हें कलात्मक ढंग से विभूषित किया गया था। राजप्रासाद के सम्मुख बुद्ध तथा बोधिसत्त्वों की मूर्तियाँ उसी ढंग से प्रतिष्ठापित थीं, जैसे कि संघारामों के बाहर होती हैं। कुची के संघारामों में निवास करने वाले भिक्षुओं की संख्या १०,००० के लगभग थी। कुची के समान काशगर, अक्सु, उच-तुर्फान आदि मध्य एशिया के अन्य राज्यों में भी इस काल में बौद्ध धर्म भली-भाँति जड़ पकड़ चुका था।

लू-कोआंग द्वारा परास्त होकर कुची के राजाओं ने चीन के साथ मैत्री-सम्बन्ध रखने तथा उसके आधिपत्य को स्वीकार करते रहने में ही अपना हित समझा। इसीलिए छठी सदी के प्रथम चरण तक कुची के राजदूत निरन्तर चीन के राजदरबार में जाते रहे, और वहाँ के सम्राट् को नानाविध भेंट-उपहारों द्वारा सन्तुष्ट करने के लिए प्रयत्नशील रहे। इस काल में उत्तरी चीन पर वेई वंश का शासन था, और उसके राजा मध्य एशिया के कुची आदि राज्यों को अपना वशवर्ती बनाकर रखने में समर्थ थे।

सातवीं सदी में तांग वंशी सम्राट् चीन में अपना विशाल एवं शक्तिशाली साम्राज्य स्थापित करने में सफल हुए थे। कुची इनके आधिपत्य में था, और वहाँ के राजा चीन के राजदरबारों में अनेकविध भेंट-उपहारों के साथ अपने दूत भेजते रहते थे। ६१८ ईस्वी में कुची के राजा सू-फा-पोउ-किउ ने तांग वंशी सम्राट् काओत्सु की सेवा में एक दूतमण्डल भेजा था। सू-फा-पोउ-किउ के उत्तराधिकारी सू-फा-ती द्वारा भी एक दूतमण्डल चीन भेजा गया था (६३० ई०)। कुची के इसी राजा के शासन काल में ह्यएन्-त्सांग ने कुची में निवास किया था। सू-फा-ती के समय में कुची में बौद्ध धर्म की जो दशा थी, ह्यएन्-त्सांग के यात्राविवरण द्वारा वह भली-भाँति स्पष्ट हो जाती है। उस समय कुची में बहुत-से संघाराम विद्यमान थे, जिनमें हजारों भिक्षु निवास करते थे। सू-फा-ती के पश्चात् उसका अनुज हो-ली-पु-शे-पी कुची का राजा बना। ६४७ में उसने भी अपना दूतमण्डल चीन के राजदरबार में भेजा था। पर इसी समय काराशहर (अग्निदेश) में चीन के विरुद्ध विद्रोह हो गया, जिसमें कुची ने भी उसकी सहायता की। इस पर चीन द्वारा कुची पर भी आक्रमण किया गया, और उसके नगरों का बुरी तरह से ध्वंस किया गया। वहाँ के राजा हो-ली-पु-शे-पी को अनेक मन्त्रियों तथा उच्च राजकर्मचारियों के साथ कैद कर लिया गया, और उन सबको बन्दी बनाकर चीन भेज दिया गया। पर चीन कुची के साथ मैत्री-सम्बन्ध कायम रखने को इच्छुक था। अतः कुछ साल पश्चात् हो-ली-पु-शे-पो को न केवल कैद से मुक्त ही कर दिया गया, अपितु कुची की राजगद्दी भी उसी को सौंप दी गई।

हो-ली-पु-शे-पो के बाद उसका पुत्र सू-फी कुची का राजा बना, और वह तथा उसके उत्तराधिकारी चीन के प्रति अपना सम्मान प्रगट करने के लिए अपने राजदूत वहाँ के सम्राट् की सेवा में भेजते रहे। ६९२ में कुची का राजा येन-तिऊन-तो स्वयं चीन गया, और उसने वहाँ के राजा को भेंट-उपहार अर्पित किए।

सातवीं सदी के अन्त में तिब्बत की शक्ति बहुत बढ़ गई थी, और वहाँ के स्रोङ-वचन्-गस्प-पो, ख्रि-स्रोङ्-ल्दे-वचन् सदृश शक्तिशाली राजाओं ने पड़ौस के अन्य राज्यों को जीत कर अपनी शक्ति का विस्तार प्रारम्भ कर दिया था। आठवीं सदी के प्रारम्भ तक तकला मकान के दक्षिण में स्थित खोतन आदि विविध राज्य तिब्बत के आधिपत्य को स्वीकार करने लगे थे, और तिब्बती सेनाओं ने काराशहर (अग्निदेश) को भी आक्रान्त कर लिया था। पर कुची तिब्बत के अधीन नहीं हुआ, और वहाँ के राजाओं ने चीन के साथ अपने मैत्री-सम्बन्ध को पूर्ववत् कायम रखा। ७७० ईस्वी में तो-त्सा कुची के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ था। उसने अपने भाई को ७४७ और ७४८ में दो बार चीन के राजदरबार में भेजा था। ७४८ के बाद दसवीं सदी के अन्त तक चीन के ग्रन्थों से कुची और चीन के राजनीतिक सम्बन्धों के विषय में कोई सूचना प्राप्त नहीं होती। पर उनसे यह अवश्य ज्ञात हो जाता है, कि ७४८ के बाद भी कुची बौद्ध धर्म का महत्त्वपूर्ण केन्द्र रहा। ७५१ में चीन के सम्राट् द्वारा एक मण्डली भारत भेजी गई थी, जिसका नेता वू कोंग था। उसे बौद्ध धर्म के प्रामाणिक ग्रन्थों को प्राप्त करने और भारत के सम्बन्ध में आवश्यक जानकारी प्राप्त करने का कार्य सुपुर्द किया गया था। भारत से वापसी यात्रा में यह मण्डली काशगर होती हुई ७८८ ईस्वी में कुची पहुँची। उन दिनों कुची के पश्चिमी द्वार के बाहर एक विशाल संघाराम था, जिसे 'उत्पल-विहार' कहते थे। इस विहार में ऊ-ति-ति-सि-यू (उत्पल-शक्ति) नाम के एक महान् बौद्ध विद्वान् निवास करते थे। उन्हें चीनी तथा भारतीय भाषाओं का समुचित ज्ञान था। वू कोंग ने आचार्य उत्पलशक्ति से दशबल सूत्र का चीनी भाषा में अनुवाद करने की प्रार्थना की। वू कोंग की प्रार्थना को स्वीकार कर आचार्य उत्पलशक्ति ने दशबल सूत्र का जो अनुवाद किया, वह कोरिया के बौद्ध त्रिपिटक का अंग है, और उसके कुछ अंश तुङ्ह्वांग् के गुहाविहारों से मिले हैं, जिनमें से कुछ को फ्रेंच विद्वान् पेलिओ ने प्राप्त किया था और कुछ को सर स्टाइन ने।

ग्यारहवीं सदी में चीन और कुची का सम्बन्ध पुनः स्थापित हुआ, और चीनी ग्रन्थों में इस बात का उल्लेख है कि कुची के राजा किस प्रकार अपने दूत चीन के राजदरबार में भेजते रहे। पर ग्यारहवीं सदी में कुची के जिन राजाओं का चीन के साथ सम्बन्ध था, वे वहाँ के पुराने राजवंश के न होकर जाति से उइगूर तुर्क थे। थियानशान पर्वतमाला के उत्तरी प्रदेशों में निवासी करने वाली तुर्क जातियों (जो हूणों की ही अन्यतम शाखाएँ थीं) ने आठवीं व नवीं सदियों में तारीम नदी की घाटी के राज्यों को आक्रान्त करना प्रारम्भ कर दिया था, और उन्हें जीत कर अपने शासन में ले लिया था। अक्सू, डच-तूर्फान और कुची आदि विविध राज्य इस काल में उइगूर तुर्कों की अधीनता में आ गए थे। राजनीतिक दृष्टि से विजेता होते हुए भी धर्म और

संस्कृति के क्षेत्र में तुर्क लोग इन राज्यों द्वारा परास्त हो गए थे, और उन्होंने बौद्ध धर्म को अपना लिया था। इस कारण कुची आदि राज्य तुर्कों के अधीन हो जाने पर भी बौद्ध धर्म तथा भारतीय संस्कृति के वैसे ही केन्द्र बने रहे, जैसे कि वे पहले थे। १०९६ में कुची के तुर्क राजा ने चीन के सम्राट् के राजदरबार में जो दूतमण्डल भेजा था, उसके हाथ भेजे गए अन्य उपहारों में भगवान् बुद्ध की एक मूर्ति भी थी जो जेड द्वारा निर्मित थी।

मध्य एशिया में इस्लाम का प्रवेश किस प्रकार हुआ और वहाँ के तुर्क शासकों ने कैसे मुस्लिम धर्म को अपनाना प्रारम्भ किया, इस पर इसी अध्याय में ऊपर प्रकाश डाला जा चुका है। बारहवीं सदी में कुची में भी इस्लाम के प्रचार का सूत्रपात हुआ, और शीघ्र ही वहाँ के बहुसंख्यक निवासी मुसलमान बन गए। जनता को मुसलमान बनाने के लिए शस्त्रशक्ति का भी प्रयोग किया गया, और बहुत-से बौद्ध भिक्षुओं, स्थविरों आचार्यों तथा विद्वानों को तलवार के घाट उतार दिया गया। 'चीनी तुर्किस्तान की भूमिगर्भगत निधियाँ' (Buried Treasures of Chinese Turkistan) नामक पुस्तक में जर्मन विद्वान् ल कॉक ने लिखा है—"हमने एक रोमांचकारी आविष्कार किया। इस घर के प्रवेश द्वार को दीवार बनाकर बन्द कर दिया गया था। घर की छत कितने ही स्थानों से गिर गई थी।...सब चीजें देख चुकने के अनन्तर हमने फर्श की ओर ध्यान दिया, जिस पर पुरानी मेहराबी छत के अवशेष पड़े हुए थे। वहाँ हमें बहुत-से निहत पुरुषों के शवों का अस्त-व्यस्त ढेर दिखायी दिया। इन शवों की संख्या कुछ सौ थी। कपड़ों को देखने से ये शव बौद्ध भिक्षुओं के प्रतीत होते थे। उनकी ऊपर की तह सुरक्षित दशा में थी। उनकी चमड़ी, केश, सूखी आँखें, भयंकर घाव जिनके कारण उनकी मृत्यु हुई थी, सब मौजूद थे और उन्हें पहचाना जा सकता था। हमने एक खोपड़ी को विशेष रूप से देखा, जिसे सिर से दाँतों तक भयंकर रूप से तलवार द्वारा काट दिया गया था।" इसमें सन्देह नहीं, कि मध्य एशिया के विविध प्रदेशों से बौद्ध धर्म तथा भारतीय संस्कृति का अन्त करने के लिए मुसलमानों ने शस्त्र-शक्ति का भी प्रयोग किया था। बारहवीं सदी में कुची से भी बौद्ध धर्म का अन्त हो गया, और मध्य एशिया के अन्य राज्यों के समान वहाँ भी इस्लाम का उत्कर्ष होने लग गया।

चीन के प्राचीन ग्रन्थों द्वारा कुची के राजनीतिक इतिहास के सम्बन्ध में जो बातें ज्ञात होती हैं, उन्हीं का हमने यहाँ उल्लेख किया है। चीनी ग्रन्थों में कुची के राजाओं के जो नाम दिये गए हैं, वे उनके वास्तविक नामों के चीनी रूप हैं। कुची से जो अनेक अभिलेख संस्कृत तथा वहाँ की अपनी भाषा में मिले हैं, उनमें इन राजाओं के असली नाम भी दिये गए हैं। संस्कृत लेखों में कुची के राजाओं के साथ कुचीश्वर, कुचिमहाराजा, कौचेय और कौचेयनरेन्द्र सदृश विशेषणों का प्रयोग किया गया है। कुची की अपनी भाषा में वहाँ के एक राजा का नाम 'स्वर्णते' एक अभिलेख में उल्लिखित है। स्वर्णते स्पष्टतः संस्कृत का शब्द है, जिसका मूल संस्कृत रूप सम्भवतः स्वर्णदत्त था। इसी राजा को चीनी ग्रन्थों में सू-फा-ती कहा गया है, कुची में जिसका शासन सातवीं

सदी के प्रथम चरण में था, और जिसके शासनकाल में ह्य एन्-त्सांग ने कुची की यात्रा की थी। सू-फा-ती के बाद उसका जो अनुज कुची के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ था, चीनी ग्रन्थों में उसका नाम हो-ली-पु-शे-पो दिया गया है। यह नाम संस्कृत के हरिपुण्य का चीनी रूपान्तर है। हिंगनू लोगों की सहायता से कुची के राजकुल ने जिस वेन-तू को अपने देश का राजा बनाया था, उसका संस्कृत नाम सिन्धुक था। केवल राजाओं के ही नाम नहीं, अपितु कुची के सर्वसाधारण नागरिकों के नाम भी संस्कृत मूलक थे। वहाँ के अभिलेखों में वीर्यमित्र, वीर्यसेन, ज्ञानसेन, मोक्षचन्द्र आदि अनेक नाम पाये जाते हैं, जिनसे कुची के निवासियों में भारतीय भाषा तथा संस्कृति की सत्ता के सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं रह जाता। पहली सदी ईस्वी पूर्व से ग्यारहवीं सदी तक कोई १२०० साल कुची का राज्य भारत के सांस्कृतिक साम्राज्य के अन्तर्गत रहा, यद्यपि उसमें अनेक राजनीतिक उथल-पुथल होती रहीं।

(५) काराशहर (अग्निदेश) और काओशांग (तुर्फान)

तकलामकान की मरुभूमि के उत्तर में जो अनेक राज्य प्राचीन समय में विद्यमान थे, उनमें चार अधिक महत्त्व के थे—पोलकिआ (भरुक), कि-ऊचे (कुची), अ-कि-नि (अग्नि) और काओशांग (तुर्फान)। इन सब में भारतीय धर्म तथा संस्कृति का प्रचार था। कुची इनमें सबसे अधिक शक्तिशाली था। इसीलिये चीन के प्राचीन ग्रन्थों में उसके सम्बन्ध में बहुत-सा इतिवृत्त विद्यमान है, जिसका उल्लेख पिछले प्रकरण में किया जा चुका है। भरुक के विषय में अधिक सूचनाएँ चीनी ग्रन्थों में नहीं पायी जातीं। इस राज्य की स्थिति कुची के पश्चिम में थी, और इसके राजा प्रायः कुची की अधीनता स्वीकार करते थे। कुची के पूर्व में स्थित अग्निदेश और तुर्फान के राज्य चीन के अधिक समीप थे, और चीन के शक्तिशाली सम्राटों ने उन्हें भी अपना आधिपत्य स्वीकृत करने के लिए विवश किया था। अतः स्वाभाविक रूप से इन राज्यों के राजनीतिक इतिहास के सम्बन्ध में कतिपय सूचनाएँ प्राचीन चीनी ग्रन्थों में विद्यमान हैं।

हानवंश के सम्राट् वू-ती (१४०-८७ ई० पू०) के समय में अग्निदेश चीन के प्रभुत्त्व को स्वीकार करता था, और वहाँ के राजा ने अपना दूतमण्डल हान सम्राट् की सेवा में प्रेषित किया था। पर बाद में अग्निदेश स्वतन्त्र हो गया, क्योंकि पहली सदी ईस्वी में हानवंश की शक्ति क्षीण होने लग गई थी। ७५ ईस्वी में अग्निदेश ने चीन के आधिपत्य के विरुद्ध स्पष्ट रूप से विद्रोह कर दिया, और वहाँ चीन की ओर से जो शासक नियुक्त था उसकी हत्या कर दी। इस समय पान छाओ नामक चीनी सेनापति तकलामकान मरुभूमि के उत्तर में विद्यमान विविध राज्यों को चीन का वशवर्ती बनाने के लिए प्रयत्नशील था। अपने देश के शासक की हत्या को वह सहन नहीं कर सका। एक बड़ी सेना को साथ लेकर उसने अग्निदेश पर आक्रमण किया, उसके नगरों को उसने बुरी तरह से ध्वंस किया और जनता पर घोर अत्याचार किए। अग्निदेश का राजा कुआंग भी चीनी सेनाओं से युद्ध करते हुए मारा गया। रणक्षेत्र में परास्त होकर अग्निदेश ने चीन की अधीनता पुनः स्वीकार कर ली। ६४ ईस्वी में युआन सी ने

नामक एक व्यक्ति को चीन द्वारा अग्निदेश के राजा पद पर अभिषिक्त किया गया। युआंग मोंग का सम्बन्ध अग्निदेश के पुराने राजकुल के साथ था, अतः जनता को भी उसे राजा मानने में कोई आपत्ति नहीं हुई। कुछ समय तक चीन की अधीनता में अग्निदेश का शासन करने के अनन्तर युआंग मोंग ने भी अपनी प्रभुसत्ता की घोषणा कर दी (१२१ ईस्वी), पर चीन की शक्ति के सम्मुख टिक सकना उसके लिए सम्भव नहीं हुआ। १२७ में एक चीनी सेना ने अग्निदेश पर आक्रमण किया, और युआंग मोंग को चीनी सम्राट् के आधिपत्य को स्वीकृत करने के लिए विवश किया। उसने अपने पुत्र को बहुत-से बहुमूल्य भेंट-उपहारों के साथ चीन के राजदरबार में प्रेषित किया, और इस समय से अग्निवेश पूर्णतया चीन का वशवर्ती हो गया।

अग्निदेश के राजनीतिक इतिहास की जो घटनाएँ चीनी ग्रन्थों द्वारा ज्ञात होती हैं, उन्हें यहाँ उल्लिखित करने का विशेष लाभ नहीं है। कुची के समान अग्निदेश में भी समय-समय पर चीन के विरुद्ध विद्रोह होते रहे, पर प्रायः वह चीन के प्रभुत्त्व को स्वीकार करता रहा। सातवीं सदी के अन्तिम भाग में उइगूर तुर्कों ने अग्निदेश पर आक्रमण प्रारम्भ किए। चीनी सेनाएँ उनका मुकावला नहीं कर सकीं। इस दशा में अग्निदेश के राजाओं ने यह उपयोगी समझा, कि उइगूर तुर्कों के साथ सन्धि व मैत्री-सम्बन्ध स्थापित कर लें। इसका परिणाम यह हुआ कि चीन के साथ अग्निदेश के सम्बन्ध की समाप्ति हो गई। तांग वंश के शक्तिशाली सम्राटों ने अग्निदेश को पुनः चीन का वशवर्ती बनाने में सफलता प्राप्त की, और ७५५ ईस्वी तक उसके दूतमण्डल चीन के राजदरबार में जाते रहे। ७५५ में तिब्बत ने अग्निदेश पर आक्रमण किया और उसे परास्त कर अपनी प्रभुता को स्वीकार करने के लिए विवश किया। इस समय से चीन के साथ अग्निदेश के सम्बन्ध की समाप्ति हो गई। चीनी ग्रन्थों में इसके बाद अग्निदेश के इतिहास के विषय में कोई सूचनाएँ उपलब्ध नहीं हैं।

प्राचीन काल में जहाँ अग्निदेश (अ-कि-नि) की स्थिति थी, वहीं आजकल काराशहर विद्यमान है। इसीलिए हम पहले अनेक स्थानों पर अग्निदेश का उल्लेख काराशहर के नाम से भी करते रहे हैं।

काराशहर या अग्निदेश के पूर्व-उत्तर में काओशांग राज्य की स्थिति थी, जिसके दो भाग थे। थियानशान पर्वतमाला के दक्षिण में इस देश का जो भाग था उसे तुर्फान कहते थे, और उत्तर में विद्यमान भाग का नाम गुचेन था। तुर्फान और गुचेन पहले एक ही राज्य के अन्तर्गत थे, जिसे चीनी ग्रन्थों में किउ-शे नाम से लिखा गया है। पर बाद में यह राज्य दो भागों में विभक्त हो गया। उत्तरी भाग (गुचेन) पर हूणों की अन्यतम शाखा हिंगनू लोगों ने अपना प्रभुत्त्व स्थापित कर लिया, और दक्षिणी भाग (तुर्फान) को चीन ने अपना वशवर्ती बना लिया। हूण (हिंगनू) लोगों की चीन से पुरानी शत्रुता थी। उन्हीं से अपने देश की रक्षा करने के लिए चीन की प्रसिद्ध दीवार का निर्माण किया गया था। अब यह काओशांग प्रदेश हूणों और चीन के संघर्ष का क्षेत्र बन गया। ८९ ईस्वी में हिंगनू (हूण) लोग चीनियों द्वारा परास्त हो गये, और कुछ समय के लिए गुचेन भी चीन के अधीन हो गया। पर यह स्थिति देर

तक कायम नहीं रही। शीघ्र ही, गुचेन के हिंगनू शासकों ने चीन के जुए को उतार फेंका, और तुर्फान पर आक्रमण कर दिया। चीन की सहायता से ही तुर्फान अपनी रक्षा कर सकने में समर्थ हुआ। ९३ ईस्वी में गुचेन द्वारा प्रचण्ड रूप से तुर्फान पर आक्रमण किया गया, जिससे अपने देश की रक्षा के लिए वहाँ के राजा वेई-पेई-ता ने चीन की शरण ली। चीन की प्रभुता को स्वीकार करके ही वह गुचेन से अपनी रक्षा करने में समर्थ हुआ। इस समय से तुर्फान के राजा अपने दूतमण्डल निरन्तर चीन के राजदरबार में भेजते रहे, और नानाविध भेंट-उपहार अर्पण कर वहाँ के सम्राट् को सन्तुष्ट करते रहे। २८० ई० में तुर्फान के राजा ने अपने पुत्र को चीन के दरबार में भेजा, और ३८६ ई० में तुर्फान का राजा मी-ती स्वयं भी चीन गया। वह अपने गुरु कुमारबुद्धि को भी अपने साथ चीन ले गया था, जिसकी विद्वत्ता तथा सदाचारमय जीवन की सर्वत्र ख्याति थी। उन दिनों तुर्फान बौद्ध धर्म का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। तुर्फान चीन के अधिक समीप था, अतः स्वाभाविक रूप से इन दोनों देशों में घनिष्ठ सम्बन्ध विकसित हो गया था, और तुर्फान को चीन का संरक्षण पूर्ण रूप से प्राप्त था।

नवीं सदी में उइगूर तुर्कों ने तुर्फान को भी अपने अधीन कर लिया। इससे कुछ समय पूर्व तुर्क लोग कुची को अपनी अधीनता में ला चुके थे। उइगूर तुर्कों ने करखेजा नामक स्थान पर अपनी नई राजधानी स्थापित की, जिसके खन्डहर इस समय भी विद्यमान हैं। तुर्कों के कारण अब तुर्फान का चीन से सम्बन्ध समाप्त हो गया था।

अग्निदेश और काइशांग के राजाओं के जो नाम चीनी ग्रन्थों में मिलते हैं, वे उनके वास्तविक नामों के चीनी रूपान्तर हैं। पर उनके मूल संस्कृत नाम इन्द्रार्जुन और चन्द्रार्जुन सदृश थे, और वहाँ की भाषा तथा लिपि भी संस्कृत एवं भारतीय लिपियों पर आधारित थीं।

मध्य एशिया के इन राज्यों पर उत्तर, पूर्व, पश्चिम तथा दक्षिण सब ओर से निरन्तर आक्रमण होते रहे। वू-सुन, ज्वान-ज्वान, युइशि, हिंगनू, श्वेत हूण, उइगूर तुर्क आदि कितनी ही जातियाँ इन्हें आक्रान्त करती रहीं, और चीन तथा तिब्बत के शक्तिशाली सम्राट् भी इन्हें अपनी अधीनता में ले आने के लिए प्रयत्नशील रहे। पर इससे इनकी संस्कृति, भाषा, धर्म व जीवन में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया। इनके सम्पर्क से आक्रान्ता जातियों ने भी बौद्ध धर्म को अपनाया और भारत के सांस्कृतिक जीवन को उन्होंने आत्मसात् किया। इसी कारण १२०० के लगभग वर्षों तक ये सब राज्य भारतीय संस्कृति तथा धर्म के केन्द्र बने रहे। इनके इस स्वरूप में तब परिवर्तन आया, जबकि इस्लाम का वहाँ प्रवेश हुआ।

(६) कुची में बौद्ध धर्म का उत्कर्ष

तकलामकान की मरुभूमि के उत्तर में स्थित सभी राज्यों में बौद्ध धर्म का प्रचार था। पर इन राज्यों में जैसे राजनीतिक दृष्टि से कुची सर्वप्रधान था, वैसे ही धर्म के क्षेत्र में भी उसकी स्थिति सर्वोपरि थी। वहाँ बहुत-से ऐसे संघराम विद्यमान थे, जिनमें हजारों भिक्षु निवास करते थे और जिनके स्थविर, आचार्य, भिक्षु और अर्हंत अपने

ज्ञान, अध्ययन तथा सदाचारमय जीवन के लिए दूर-दूर तक प्रसिद्ध थे। चीन में बौद्ध धर्म का प्रचार करने में कुची के बौद्ध प्रचारकों का प्रमुख स्थान था। यही कारण है, कि प्राचीन चीनी ग्रन्थों द्वारा कुची के बौद्ध विद्वानों के सम्बन्ध में बहुत-सी महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात होती हैं।

कुची में बौद्ध धर्म का प्रचार सम्भवतः पहली या दूसरी सदी ईस्वी पूर्व में प्रारम्भ हुआ था। पर इसमें सन्देह नहीं, कि तीसरी सदी ईस्वी पश्चात् तक वहाँ यह धर्म सुचारु रूप से प्रचारित व स्थापित हो चुका था। चीन के चिन वंश (२६५-३१६ ई० प०) के जो इतिहासविषयक ग्रन्थ उपलब्ध हैं, उनसे सूचित होता है, कि इस काल में कुची में १००० के लगभग विहार व चैत्य विद्यमान थे। यही वह समय था, जबकि कुची के बौद्ध प्रचारकों ने चीन जाना प्रारम्भ किया था। इनमें प्रथम स्थान पो-येन का है, जो कुची के राजकुल में उत्पन्न हुआ था। सांसारिक सुख-वैभव का परित्याग कर उसने भिक्षुव्रत ग्रहण कर लिया था, और २५३ ई० में वह बौद्ध धर्म का प्रचार करने के प्रयोजन से चीन गया था। चीन की तत्कालीन राजधानी लो-यान के श्वेताश्व विहार में रहकर पो-येन ने छः बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया था। ३०७ ईस्वी में पो श्रीमित्र नाम का कुची का एक विद्वान् चीन गया और दक्षिणी चीन में रह कर उसने तीन बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। चौथी सदी में कुची में बौद्ध धर्म किस दशा में था, इसका अनुमान इस काल के एक चीनी ग्रन्थ के इस कथन से किया जा सकता है, कि कुची में बहुत-से चैत्य तथा विहार विद्यमान थे, जिनमें चार विहार प्रधान थे। ता-मू विहार में १७० भिक्षुओं का निवास था, और पो-शान पर्वत पर निर्मित चे-ह-ली विहारों में ५० और ६० भिक्षु निवास करते थे। इनके अतिरिक्त एक अन्य नया विहार वहाँ था, जिसका निर्माण कुची के राजा ने करवाया था। इन चारों विहारों की व्यवस्था व प्रबन्ध बुद्धस्वामी नामक बौद्ध विद्वान् के अधीन थे। इन विहारों में विनय पिटक द्वारा प्रतिपादित अनुशासन सम्बन्धी नियमों का सूक्ष्मता के साथ पालन किया जाता था, और कोई भिक्षु एक स्थान पर तीन मास से अधिक समय तक नहीं रह सकता था। चीनी ग्रन्थों के अनुसार बुद्धस्वामी के अधीन तीन ऐसे विहार भी थे, जो भिक्षुणिओं के निवास के लिए थे। इनमें आरण्यक विहार में १८० भिक्षुणियों, लिउन-जो-कान विहार में ५० भिक्षुणियाँ और अ-ली-पो विहार में ३० भिक्षुणियाँ निवास करती थीं। इन सब भिक्षुणियों का सम्बन्ध कुची के राजकुल व अन्य सम्भ्रान्त परिवारों के साथ था, और बुद्ध में अगाध श्रद्धा के कारण ही इन्होंने भिक्षुणी व्रत ग्रहण किया था। आचार्य बुद्धस्वामी द्वारा ५०० ऐसे नियमों का निर्धारण किया गया था, जिनका अविकल रूप से पालन करना इन भिक्षुणियों के लिए अनिवार्य था।

बुद्धस्वामी हीनयान सम्प्रदाय के अनुयायी थे। पर उनका अन्यतम शिष्य कुमार नाम का था, जो महान् विद्वान् था। यही वह प्रसिद्ध कुमारजीव था, जिसने चीन में बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए अनुपम कार्य किया और बहुत-से बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। कुमारजीव ने हीनयान सम्प्रदाय का त्याग कर

महायान सम्प्रदाय के अनुयायी हो गए थे, और महायान के आचार्यों में उनका स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। कुमारजीव के पिता का नाम कुमारायन था। वे भारत के एक राजकुल में उत्पन्न हुए थे, और बौद्ध धर्म की उच्च शिक्षा ग्रहण कर कुची में बस गए थे। कुची के राजा ने उन्हें राजगुरु के पद पर नियुक्त किया, पर वे देर तक भिक्षु नहीं रह सके। राजकुमारी जीवा से उनका प्रेम हो गया और उन्होंने भिक्षु जीवन का त्याग कर जीवा से विवाह कर लिया। कुमारजीव की माता कुची की थी और पिता भारतीय थे। इस प्रसिद्ध बौद्ध आचार्य का प्रधान कार्यक्षेत्र चीन में रहा था, अतः इनकी जीवनी का अधिक विशद रूप से परिचय "चीन के साथ भारत का साँस्कृतिक सम्बन्ध" अध्याय में दिया जायेगा। यहाँ इतना लिख देना ही पर्याप्त है, कि कुमारजीव ने काश्मीर में निवास कर बन्धुदत्त नामक विद्वान् से बौद्ध धर्म के मध्यम आगम और दीर्घ आगम (मज्झिम निकाय और दीर्घनिकाय) की शिक्षा ग्रहण की थी, और काशगर में रहकर वेद-वेदांग, दर्शन, ज्योतिष और अभिधम्म पिटक की। काशगर में उनके गुरु बुद्धयश नामक विद्वान् थे। कुमारजीव अभी काशगर में ही रह रहे थे, कि उनकी विद्वत्ता तथा ज्ञान की कीर्ति दूर-दूर तक फैल गई, और चोक्कुक (यारकन्द) के राजा त्सान-क्युन ने अपने दो पुत्रों को उनके पास विद्याध्ययन के लिए भेजा। इन कुमारों के नाम सूर्यभद्र और सूर्यसोम थे। काशगर के बाद कुमारजीव उच-तुर्फान गए, जहाँ ताओ सम्प्रदाय के एक विद्वान् को उन्होंने शास्त्रार्थ में परास्त किया। उच-तुर्फान की स्थिति कुची राज्य की पश्चिमी सीमा पर थी। कुची के राजा पो-शुनको जब कुमारजीव के उच-तुर्फान पधारने का समाचार ज्ञात हुआ, तो वह उन्हें अपनी नगरी में निमन्त्रित करने के लिए स्वयं वहाँ गया और बड़े सम्मान के साथ उन्हें कुची ले आया। कुमीरजीव की विद्वत्ता तथा सदाचारमय जीवन से पो-शन की पुत्री अक्षयमति बहुत प्रभावित हुई। उसे कुमारजीव ने महासन्निपात सूत्र तथा महावैपुल्य सूत्र का उपदेश दिया और उसने सांसारिक सुखवैभव को त्याग कर भिक्षुणीव्रत ग्रहण कर लिया। अब कुमारजीव पो-शुन द्वारा कुची में निर्मित नए राजकीय विहार में निवास करने लगे। इसी समय विमलाक्ष नामक विद्वान् काश्मीर से कुची पधारे। कुमारजीव ने उनसे सर्वास्तिवाद सम्प्रदाय के विनय पिटक का अध्ययन किया, और उनकी विद्वत्ता से लाभ उठाया।

पर कुमारजीव देर तक कुची में नहीं रह सके। ३८२ ईस्वी में चीनी सेनापति लू-कोआँन ने कुची पर आक्रमण किया, और वहाँ से बहुत-से लोगों को बन्दी बनाकर वह चीन ले गया। कुमारजीव भी उनमें एक थे। पर वे देर तक बन्दी नहीं रहे। उनकी विद्वत्ता की कीर्ति सुनकर चीन के सम्राट् ने उन्हें अपने राजदरबार में निमन्त्रित किया। अब वे चांग-गान में रहकर बौद्ध धर्म के प्रामाणिक ग्रन्थों का अनुवाद करने में तत्पर हुए, और अपना शेष जीवन उन्होंने चांग-गान में ही व्यतीत किया। विमलाक्ष, बुद्धयश आदि अनेक विद्वान्, जिनसे कभी कुमारजीव ने शिक्षा ग्रहण की थी, अब चांग-गान आ गए और अनुवाद कार्य में उनकी सहायता करने लगे। कुमारजीव महायान सम्प्रदाय के महान् आचार्य थे। तारीम नदी के क्षेत्र में इस सम्प्रदाय का

प्रवेश उन्हीं द्वारा हुआ था, और उन्होंने ही चीन में भी इस सम्प्रदाय का सूत्रपात किया था।

छठी सदी के अन्त में धर्मगुप्त नामका भारतीय आचार्य कुची गया, और वह वहाँ के राजकीय नवविहार में दो वर्ष तक रहा। फिर वह भी चीन चला गया। ६३० ई० में ह्य एन्-त्साँग कुची गया था। वहाँ उसने बौद्ध धर्म को अत्यन्त समृद्ध दशा में पाया। उस समय वहाँ १०० संघाराम थे, जिनमें ५००० के लगभग भिक्षुओं का निवास था। आठवीं सदी में भी कुची में बौद्ध धर्म बहुत फल-फूल रहा था। ७५१ ई० में वू कोंग नामक चीनी विद्वान् भारत से लौटता हुआ कुची गया था, और वह वहाँ के उत्पल विहार में ठहरा था। उस समय वहाँ एक उद्भट विद्वान् निवास करते थे, जिनका नाम ऊ-ति-ति-सि-यू (उत्पल शक्ति) था। वू कोंग की प्रेरणा से उन्होंने दशबल सूत्र का चीनी भाषा में अनुवाद किया। जब उइगूर तुर्कों ने कुची में अपना आधिपत्य स्थापित कर वहाँ की शासन-शक्ति भी अपने हाथों में ले ली, तब भी वहाँ बौद्ध धर्म की स्थिति में कोई अन्तर नहीं आया। भगवान् तथागत का धर्म वहाँ पूर्ववत् फलता-फूलता रहा, और तुर्कों ने भी इस धर्म को अपना लिया।

कुची के समान काराशहर (तुर्फान) और अक्सू भी बौद्ध धर्म के महत्त्वपूर्ण केन्द्र थे। ह्यु एन्-त्साँग ने लिखा है, कि काराशहर में १० संघाराम विद्यमान थे, जिनमें २००० भिक्षु निवास करते थे। अक्सू में भी संघारामों की संख्या १० थी, यद्यपि वहाँ केवल १००० भिक्षुओं का निवास था। इन सब संघारामों के स्थविर और भिक्षु सर्वास्तिवाद सम्प्रदाय के अनुयायी थे, और संस्कृत ग्रन्थों के पठन-पाठन में तत्पर रहते थे। भिक्षु जीवन के नियमों का ये अविकल रूप से पालन करते थे, और इनका जीवन अत्यन्त सदाचारमय था।

(७) तुखारिस्तान (तुखार देश), सुग्ध और खोतन

कुची के समान तुखारिस्तान और सुग्ध भी बौद्ध धर्म के महत्त्वपूर्ण केन्द्र थे। तुखार देश की स्थिति भारत और ईरान के बीच में थी, और बदख्शाँ तथा बल्ख के प्रदेश उसके अन्तर्गत थे। तीसरी सदी ईस्वी पूर्व तक इस देश में तुखार जाति का प्रवेश नहीं हुआ था। तब वहाँ आर्य जाति की कतिपय शाखाएँ बसी हुई थीं, और उनकी भाषा तथा धर्म आदि का भारत तथा ईरान के आर्यों से सादृश्य था। ईरान के हखामनी सम्राट् बदख्शाँ तथा बल्ख के प्रदेशों को अपने साम्राज्य में सम्मिलित करने में समर्थ हुए थे, और सिकन्दर की विजयों के पश्चात् बल्ख के क्षेत्र में एक यवन (ग्रीक) राज्य स्थापित हो गया था, जिसे बैक्ट्रिया (बाख्त्री) कहते थे। दूसरी सदी ई० पू० में मध्य एशिया के क्षेत्र में जातियों की जो हलचल प्रारम्भ हुई, उसका उल्लेख इसी अध्याय में ऊपर किया जा चुका है। हूणों द्वारा धकेले जाकर युइशि जाति ने पश्चिम की ओर प्रस्थान किया, और फरगाना, काशगर तथा ताशकन्द को आक्रान्त किया। वहाँ उस समय शक लोगों का निवास था। युइशियों के आक्रमण से विवश होकर शकों ने अपने अभिजन का परित्याग कर दक्षिण दिशा में अग्रसर होना प्रारम्भ

किया और बैक्ट्रिया के यवन (ग्रीक) राज्य को जीत लिया। पर युइशियों ने वहाँ भी शकों का पीछा नहीं छोड़ा, और दूसरी सदी ई० पू० का अन्त होने से पहले ही बैक्ट्रिया (बल्ख) को शकों से छीन लिया। अब यह प्रदेश युइशि लोगों के हाथों में आ गया, और इन्हीं लोगों ने आगे चलकर उस विशाल कुशाण साम्राज्य की स्थापना की, जिसमें बल्ख, सुग्ध, गान्धार और उत्तरी भारत के अतिरिक्त मध्य एशिया के भी अनेक प्रदेश सम्मिलित थे। युइशि लोग भी विशाल शक जाति की ही अन्यतम शाखा थे, यह ऊपर लिखा जा चुका है। हूणों द्वारा धकेले जाकर युइशियों ने जब पश्चिम की ओर आगे बढ़ना प्रारम्भ किया था, तो सबसे पहले वे तारीम नदी के उत्तर तथा श्वेत पर्वत के दक्षिण के उस प्रदेश में प्रविष्ट हुए थे, जहाँ तुखार जाति का निवास था। युइशियों के समान तुखार भी शक जाति के थे, और युइशियों से वे बहुत भिन्न नहीं थे। तुखारों को जीत कर युइशि लोग उनके प्रदेश में बस गये, और शीघ्र ही उनमें मिल-जुल गये। पर हूणों ने तारीम नदी के प्रदेश में भी उन्हें चैन से नहीं रहने दिया। उन्हीं से आक्रान्त होकर युइशि और तुखार लोग पश्चिम के उन प्रदेशों की ओर प्रस्थान करने के लिए विवश हुए थे, जहाँ शक जाति की मुख्य शाखा का निवास था। इन शकों को दक्षिण की ओर धकेल कर युइशि-तुखार उनके प्रदेश में आबाद हो-गये, और फिर बल्ख (बैक्ट्रिया) के यवन-राज्य को भी उन्होंने अपने अधीन कर लिया। युइशि-तुखारों के आबाद हो जाने के कारण ही यह प्रदेश तुखार देश या तुखारिस्तान कहाने लगा। इस तुखार देश में बदख्शाँ और बल्ख के प्रदेश तो अन्तर्गत थे ही, पर वंक्षु और सीर नदियों के मध्यवर्ती प्रदेश का बड़ा भाग भी इसमें सम्मिलित था। ह्यु एन्-त्साँग ने इस देश का वर्णन करते हुए लिखा है, कि इसके उत्तर में दरबन्त (बदख्शाँ के समीप), दक्षिण में हिन्दूकश पर्वत, पश्चिम में पर्शिया और पूर्व में पामीर की पर्वत-माला थी। चीन के प्राचीन ग्रन्थों में इस देश को ता-हिआ कहा गया है। प्राचीन भारतीय साहित्य (रामायण, महाभारत, सद्धर्म-स्मृत्युपस्थान आदि) में भी तुखार जाति का उल्लेख मिलता है, जिसका परिगणन शक, ऋषिक आदि के साथ किया गया है। क्योंकि युइशि-तुखार लोग शकों को परास्त तथा बहिष्कृत कर इस प्रदेश में बस गये थे, अतः यह तुखारदेश कहाने लगा, और अरब लोग जब इसके सम्पर्क में आये, तो वे इसे तुखारिस्तान कहने लगे। वहाँ युइशि-तुखारों ने अपने अनेक राज्य कायम किए, आगे चलकर कुशाणवंश राजाओं ने जिन्हें जीतकर अपने अधीन कर लिया, और एक शक्तिशाली व सुविस्तृत साम्राज्य की स्थापना की। पाँचवीं सदी तक तुखारिस्तान कुशाणों के शासन में रहा।

तुखार देश भी बौद्ध धर्म का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। दूसरी सदी ईस्वी पूर्व तक वहाँ बौद्ध धर्म का प्रचार हो चुका था, और वहाँ के युइशि-तुखारों ने भी इस धर्म को अपना लिया था। इस देश में बौद्ध धर्म के प्रचार का वर्णन करते हुए ह्यु एन्-त्सांग ने एक प्राचीन अनुश्रुति का उल्लेख किया है, जिसके अनुसार त्रपुस और भल्लिक द्वारा इस देश में बौद्ध धर्म का सूत्रपात किया गया था। ये दोनों वाह्लीक (बल्ख) के निवासी थे, और व्यापार इनका पेशा था। व्यापार के लिए यात्रा करते

हुए ये जब गया (मगध में) पहुँचे, तो गौतम बुद्ध वहाँ विराजमान थे, और उन्हें बोध (ज्ञान प्राप्ति) हुए अभी अधिक समय नहीं हुआ था। त्रपुस और भल्लिक बुद्ध के दर्शन के लिए गए, और मधु तथा कतिपय अन्य खाद्य पदार्थ उन्हें भेंट किए। साथ ही, उन्होंने बुद्ध का शिष्य बन जाने का भी निश्चय किया। उन्होंने भिक्षुव्रत तो ग्रहण नहीं किया, पर उपासक की स्थिति में वे बुद्ध के शिष्य बन गए। जब वे विदा होने लगे, तो बुद्ध ने उन्हें अपने नख और केश प्रदान किये, त्रपुस और भल्लिक जिन्हें अपने साथ बल्ख ले गए, और उन पर उन्होंने स्तूपों का निर्माण कराया। ह्यु एन्-त्सांग ने अपने यात्रा-विवरण में इन स्तूपों का भी वर्णन किया है, जो कि बल्ख (बाल्हीक नगरी) के समीप विद्यमान थे। अशोक द्वारा उत्कीर्ण कराए गए शिलालेखों में उन देशों का परिगणन किया गया है, जहाँ धर्म-महामात्रों की नियुक्ति की गई थी और धर्म द्वारा जिनकी विजय के लिए अशोक ने प्रयत्न किया था। कम्बोज और योन (यवन) देश भी इनमें हैं। बौद्धों की तीसरी महासभा की समाप्ति पर विभिन्न देशों में बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिए जो आयोजन आचार्य मोग्गलिपुत्त तिस्स के नेतृत्त्व में किया गया था, महावंसो के अनुसार उसमें गान्धार तथा यवन देशों में भी प्रचारक भेजे गए थे। इससे यह सहज में अनुमान किया जा सकता है, कि तीसरी सदी ईस्वी पूर्व में अशोक के समय में भी कतिपय बौद्ध स्थविर एवं भिक्षु धर्म-प्रचार के लिए बल्ख में गए होंगे, जो उस समय यवनों (ग्रीक लोगों) के शासन में था। दूसरी सदी ईस्वी पूर्व में जब युइशि-तुखार इस देश में प्रविष्ट हुए, तो यह बौद्ध धर्म का केन्द्र बन चुका था, और वहाँ के अनेक बौद्ध आचार्य व भिक्षु समीप के अन्य देशों में भी धर्म प्रचार के लिए जाने लग गए थे। बल्ख के बौद्धों के सम्पर्क में आकर युइशि-तुखारों ने भी बौद्ध धर्म को स्वीकार कर लिया, और कनिष्क जैसे कुशाण सम्राट् ने तो इस धर्म के प्रचार के लिए सक्रिय रूप से भाग लिया। मध्य एशिया के खोतन, कुची आदि राज्यों और फिर चीन में बौद्ध धर्म का जो प्रचार हुआ, उसमें बल्ख के निवासियों का कर्तृत्व अत्यन्त महत्व का था। बल्ख और उसके समीपवर्ती प्रदेशों के ये निवासी प्रायः युइशि-तुखार थे, और बौद्ध धर्म में इनकी अगाध श्रद्धा थी।

कुशाणों के काल में तुखार देश के दो बौद्ध विद्वान् बहुत प्रसिद्ध हुए हैं, घोषक और धर्ममित्र। कुशाण राजा कनिष्क ने आचार्य पार्श्व की अध्यक्षता में बौद्धों की जिस चतुर्थ महासभा का पुष्पपुर (पेशावर) में आयोजन किया था, घोषक भी उसमें सम्मिलित हुआ था। इस महासभा में सर्वास्तिवाद सम्प्रदाय के अभिधर्म पिटक पर जो विभाषा टीका तैयार की गई थी, उसकी संरचना में घोषक का भी महत्त्वपूर्ण कर्तृत्व था। घोषक ने अभिधर्मामृत नाम का एक ग्रन्थ भी लिखा था, जिसका चीनी अनुवाद इस समय उपलब्ध है। इसमें सन्देह नहीं, कि घोषक अभिधर्म (अध्यात्म) विषय का गम्भीर विद्वान् था, और बौद्धों के अन्यतम सम्प्रदाय 'वैभाषिक' के सिद्धान्तों को उन द्वारा युक्तिसंगत रूप से प्रतिपादित किया गया। घोषक को स्पष्ट रूप से तुखार कहा गया है, और उसका प्रधान कार्यक्षेत्र तुखार देश में ही था। धर्ममित्र भी तुखार देश का निवासी था। उसने विनयसूत्र टीका नाम का एक ग्रन्थ लिखा था, जिसका तिब्बती

अनुवाद तिब्वत के तंजूर के अन्तर्गत है। इस ग्रन्थ के अन्त में दी गई पुष्पिका में कहा गया है, कि पख्यू (वंक्षु या आमू) नदी के तटवर्ती तरमित (तेरमिज) के निवासी धर्ममित्र द्वारा यह ग्रन्थ विरचित है।

चीन में बौद्ध धर्म का प्रचार करने में तुखार देश के बौद्ध भिक्षुओं का कर्तृत्व अत्यन्त महत्त्व का था। १४७ ईस्वी में लोकक्षेम नाम का भिक्षु तुखार देश से चीन गया था, और लो-यान में रहकर उसने १८८ बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया था। लोकक्षेम द्वारा अनूदित कुछ ग्रन्थ इस समय भी उपलब्ध हैं। लोकक्षम का एक शिष्य चेकियन था, जो युइशि-तुखार जाति का था। १९० ईस्वी में वह भी चीन गया था, और नानकिंग में रह कर उसने १०० से अधिक बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया था। इनमें से ४९ ग्रन्थ अब भी प्राप्य हैं। तुङ्ह्वाग् में बसे हुए एक तुखार परिवार में उत्पन्न धर्मरक्ष ने भिक्षुव्रत धारण कर मध्य एशिया में दूर-दूर तक यात्राएँ की थीं, और इस प्रकार ३६ भाषाओं का ज्ञान प्राप्त कर लिया था। २८४ ईस्वी में वह चीन गया और वहाँ रहकर उसने २०० के लगभग बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। इनमें से ९० ग्रन्थ इस समय भी उपलब्ध हैं। ३८३ में ले-शुन नामक तुखार भिक्षु चीन गया था, और ३८४ में धर्मनन्दी ने तुखार-देश से चीन की यात्रा की थी। बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद करने में इन भिक्षुओं ने भी हाथ बटाया था। धर्मनन्दी द्वारा अनूदित एकोत्तरागम ग्रन्थ इस समय भी प्राप्य है।

कुशाणों की शक्ति के क्षीण होने पर मध्य एशिया के विविध प्रदेशों पर जिन विविध जातियों के आक्रमण प्रारम्भ हो गए थे, उनका उल्लेख इसी अध्याय के प्रथम प्रकरण में किया जा चुका है। युद्ध के क्षेत्र में युइशि-तुखारों को इन जातियों ने परास्त कर दिया था, पर धर्म और संस्कृति में वे तुखारों द्वारा पराजित हो गई थीं। तुखार देश पर आक्रमण करने वाले जू-जुन, श्वेत हूण तथा तुर्क लोगों ने तुखारों के सम्पर्क में आकर बौद्ध धर्म को स्वीकृत कर लिया था, और वे भारतीय संस्कृति के रंग में रंग गए थे। सातवीं सदी के पूर्वार्ध में चीनी यात्री ह्यु एन्-त्सांग तुखार देश गया था। उस समय वहाँ बौद्ध धर्म भली-भाँति फलफूल रहा था, और वहाँ बहुत-से संघाराम विद्यमान थे, जिनमें हजारों भिक्षु निवास करते थे। यह देश तुर्कों के अधीन था, और वहाँ का तुर्क कगान (खान) बौद्ध धर्म के प्रति श्रद्धा रखता था। तुखार देश के उत्तर में विद्यमान तुर्क राज्यों में यद्यपि इस समय तक बौद्ध धर्म का भलीभाँति प्रचार नहीं हुआ था, पर वंक्षु नदी से दक्षिण के सब प्रदेश बौद्ध धर्म के महत्वपूर्ण केन्द्र थे। ह्यु एन्-त्सांग के समय में भी बाह्लीक नगरी (बल्ख) का नव-विहार बौद्ध धर्म तथा दर्शन के पठन पाठन के लिए दूर-दूर तक प्रसिद्ध था, और वहाँ के स्थविरों तथा आचार्यों को हिन्दूकुश पर्वतमाला के उत्तर के प्रदेशों में प्रमाण रूप से स्वीकृत किया जाता था। नालन्दा का प्रसिद्ध आचार्य प्रभाकर मित्र जब अपने दस शिष्यों के साथ मध्य एशिया होकर चीन गया था, तो मार्ग में उसने पश्चिमी तुर्कों के कगान (खान) से भी भेंट की थी, और उसे बौद्ध धर्म का उपदेश भी दिया था। ह्यु एन्-त्सांग के

यात्रा-विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है, कि सातवीं सदी के पूर्वार्ध में तुखार देश में बौद्ध धर्म भली-भाँति प्रचलित था। उसके अनुसार तुखार देश की तत्कालीन राजधानी तेरमिज (ता-मी) में दो विहार थे, जिनमें हजार से अधिक भिक्षु निवास करते थे। वहाँ के स्तूपों तथा मूर्तियों को ह्यु एन्-त्साँग ने बहुत सुन्दर बताया है। तेरमिज के पूर्व में शुगनान (शी-गा-येन्-ना) था, जहाँ पाँच विहार तो थे, पर उनमें भिक्षु बहुत कम थे। शुगनान के पूर्व में हू-लू-मो की स्थिति थी, जहाँ दो विहार थे, जिनमें सौ से ऊपर भिक्षुओं का निवास था। कू-येत्-ना का प्रदेश वंक्षु नदी के दक्षिण-पश्चिम में था। वहाँ तीन विहार थे, जिनमें सौ से अधिक भिक्षु रहते थे। तुखार देश में बौद्ध धर्म का प्रधान केन्द्र बल्ख (बाह्लीक) था। ह्यु एन्-त्सांग के अनुसार वहाँ १०० विहार थे, जिनमें ३००० भिक्षु निवास करते थे। नगर के बाहर दक्षिण-पश्चिम में नव संघाराम था, जिसे इस देश के एक पुराने राजा ने बनवाया था। हिन्दूकुश पर्वतमाला के उत्तर में यही एक ऐसा बौद्ध विहार था, जहाँ ऐसे आचार्यों की अविच्छिन्न परम्परा चली आती थी, जो कि त्रिपिटक के व्याख्याकार होते थे। नवसंघाराम में एक बड़ी कलापूर्ण रत्नजटित बुद्धमूर्ति थी। संघाराम के भवन अत्यन्त मूल्यवान् वस्तुओं से सजाये हुए थे। बाह्लीक नगरी के समीप ही ती-वेई और पो-ली की स्थिति थी, जिनमें त्रपुस और भल्लिक ने भगवान् बुद्ध के नख तथा केश के सम्मान में स्तूपों का निर्माण कराया था। बल्ख से २० मील दक्षिण में का-शी था, जहाँ दस ऐसे विहार थे जिनमें सर्वास्तिवाद सम्प्रदाय के ३०० भिक्षु निवास करते थे। ह्यु एन्-त्सांग के विवरण से इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता, कि श्वेत हूण, तुर्क आदि विविध जातियों द्वारा आक्रान्त तथा शासित हो जाने पर भी तुखार देश बौद्ध धर्म का महत्त्वपूर्ण केन्द्र रहा।

पर तुखारिस्तान देर तक बौद्ध धर्म का केन्द्र नहीं रह सका। सातवीं सदी का अन्त होने से पूर्व ही अरबों ने इस देश पर आक्रमण प्रारम्भ कर दिए, और इसे जीत कर न केवल अपने अधीन ही कर लिया, अपितु वहाँ से बौद्ध धर्म का अन्त कर वहाँ के निवासियों को इस्लाम का अनुयायी भी बना लिया। बाह्लीक (बल्ख) नगरी के नवसंघाराम का उल्लेख अभी ऊपर किया गया है। बौद्ध धर्म तथा अध्ययन का तो वह केन्द्र था ही, साथ ही उसका वैभव तथा प्रभाव भी अतुल था। पहले उसके प्रधान आचार्य तथा स्थविर गृहस्थ न होकर भिक्षु जीवन बिताया करते थे। पर बाद में कभी (सम्भवतः, अरब आक्रमणों के प्रारम्भ होने के समय) वहाँ के किसी प्रधान स्थविर ने विवाह कर लिया था, और नवसंघाराम की व्यवस्था गृहस्थ महन्तों के हाथों में आ गई थी। इन्हें अरब लेखकों ने 'बरमक' कहा है, जो शायद परमक (सर्वोच्च) का अपभ्रंश है। अरबों ने जब बल्ख को जीत लिया, तो नवसंघाराम का उन्होंने बुरी तरह से ध्वंस किया, और वहाँ से स्थविरों तथा भिक्षुओं को मुसलमान बना लिया। बरमकों ने भी अब इस्लाम को अपना लिया, और उन्हें बल्ख से बगदाद ले जाया गया। बरमक नवसंघाराम की पुरानी परम्परा के अनुसार गम्भीर पाण्डित्य के धनी थे, और आयुर्वेद, गणित, ज्योतिष आदि का भी उन्हें ज्ञान था। बगदाद के खलीफाओं ने उन्हें अपने दरबार में सम्मानास्पद स्थान प्रदान किया, और उनकी योग्यता से लाभ उठाने

के लिए उन्हें मन्त्री के पद पर भी नियुक्त किया। आधी सदी के लगभग (८०२ ईस्वी) तक बगदाद के अब्बासी खलीफाओं के शासन के कर्णधार बरमक कुल के व्यक्ति ही रहे। उन्हीं की प्रेरणा से खलीफा हारुन्-अल-रशीद (७८६-८०६ ई०) ने अनेक अरब विद्वानों को दूत बनाकर इस प्रयोजन से भारत भेजा था, ताकि वे वहाँ से गणित, ज्योतिष और आयुर्वेद के ग्रन्थों को प्राप्त करें और अरबी भाषा में उनका अनुवाद करें। अरब में विज्ञान, दर्शन तथा संस्कृति के विकास के लिए बरमक या परमक मन्त्रियों ने जो कार्य किया, वह अत्यन्त महत्त्व का था। अरब आक्रमणों से बल्ख नगरी का विनाश हो गया था, बरमकों की प्रेरणा से उसका भी पुनः निर्माण कराया गया था, और उसके पुनःनिर्माण का कार्य भी बरमक परिवार के व्यक्तियों के ही सुपुर्द किया गया था। तुखार देश की इस प्रसिद्ध नगरी का अन्तिम रूप से विनाश चौदहवीं सदी में चंगेज खाँ की मंगोल सेनाओं ने किया था। पर जहाँ तक बौद्ध धर्म तथा भारतीय संस्कृति का सम्बन्ध है, उसका अन्त इस देश से सातवीं सदी के अन्त या आठवीं सदी के प्रारम्भ तक ही हो गया था।

तुखार देश के उत्तर में तथा वंक्षु (आमू) और सीर नदियों के मध्यवर्ती प्रदेश में सुग्ध देश की स्थिति थी। समरकन्द इसी का प्रधान नगर था। सुग्ध देश के प्राचीन निवासी भी शक जाति के थे और उनकी भाषा ईरानी भाषा से मिलती-जुलती थी। सुग्ध के निवासी व्यापार में बहुत प्रवीण थे, और अपने पण्य को लेकर वे दूर-दूर की यात्राएँ किया करते थे। व्यापार के प्रयोजन से ही उन्होंने मध्य एशिया के विविध प्रदेशों में अपनी अनेक बस्तियाँ भी बसायी हुई थीं। व्यापार-यात्राओं में सुग्ध के व्यापारियों का बौद्ध धर्म के उन केन्द्रों के साथ सम्पर्क हुआ, जो ईस्वी सन् की दूसरी सदी तक मध्य एशिया के विविध प्रदेशों में स्थापित हो चुके थे। धीरे-धीरे सुग्ध देश में भी बौद्ध धर्म का प्रचार हो गया, और उसके भी अनेक भिक्षु धर्म-प्रचार के लिए चीन आदि विदेशों में जाने लगे। सुग्ध के इन बौद्ध भिक्षुओं का परिचय हमें चीनी साहित्य से ही प्राप्त होता है। चीन में बौद्ध धर्म का प्रचार करने वाले सुग्ध देश के भिक्षुओं में प्रधान स्थान सेंग-हुएइ का है, जिसने कि तीसरी सदी में चीन जाकर उसके दक्षिणी प्रदेशों को अपना कार्यक्षेत्र बनाया था। सेंग-हुएई (संघभद्र) के अतिरिक्त कोहे-किआन नाम के एक अन्य सुग्धी भिक्षु ने भी नानकिंग में रहकर अनेक बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया था।

सुग्ध देश में बौद्ध धर्म का किस प्रकार विकास हुआ, और इस धर्म के वहाँ कौन-कौन से प्रधान केन्द्र थे, इस सम्बन्ध में अभी बहुत कम जानकारी उपलब्ध है। ह्यु एन्-त्सांग के समय में सुग्ध देश के प्रधान नगर समरकन्द में केवल दो बौद्ध विहार थे, जिनके प्रति वहाँ के लोगों का रुख अच्छा नहीं था। ह्यु एन्-त्सांग के साथी भिक्षु जब वहाँ पूजा के लिए गए, तो लोगों ने उन्हें मार भगाया और विहार में आग लगा दी। इस पर समरकन्द के राजा ने उन लोगों को सजा दी, और ह्यु एन्-त्साँग को बुलाकर उससे धर्मोपदेश सुना। ऐसा प्रतीत होता है, कि सुग्ध देश के तुर्क आक्रान्ताओं ने भी बाद में बौद्ध धर्म को स्वीकार कर लिया था, क्योंकि उन्हीं से शासनकाल में

बौद्ध धर्म के प्रति उनकी आस्था के प्रतीक के रूप में सुग्ध या जरफ्शाँ नदी के तट पर एक विशाल विहार का निर्माण कराया गया था। तुर्की और मंगोल भाषाओं में विहार को बुखार कहते हैं। इसी विशाल विहार के कारण वहाँ जो नगर विकसित हुआ, वह बुखारा या बोखारा कहाने लगा। यही आगे चलकर सुग्ध देश का प्रधान नगर बन गया। तुर्क लोगों में बौद्ध धर्म का प्रचार इतना अधिक हो गया था, कि आठवीं सदी के प्रारम्भ भाग में एक तुर्क राजा ने अपनी रानी तथा पुत्र के साथ भारत की यात्रा की थी, और उसने काश्मीर में दो संघारामों का निर्माण करवाया था। समरकन्द के निवासी भिक्षु संघवर्मा ने गया के महाबोधि की यात्रा की थी, और अपने समय के बौद्ध विद्वानों में उसने प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त किया था। तुखारिस्तान के समान सुग्ध देश से भी बौद्ध धर्म का अन्त अरबों द्वारा ही किया गया। आठवीं सदी में इस क्षेत्र में कोई एक शक्तिशाली तुर्क राजा नहीं था, और वहाँ अनेक छोटे-छोटे राज्य स्थापित हो गए थे। अरबों के विरुद्ध वे मिलकर संघर्ष नहीं कर सके। इसीलिए अरबों ने एक-एक करके उन्हें जीत लिया, और वहाँ उन्होंने बौद्ध धर्म का अन्त कर इस्लाम को स्थापित किया।

तक्ला मकान मरुस्थल के दक्षिण में विद्यमान राज्यों में खोतन सर्वप्रधान था। कुची और बल्ख के समान वह भी बौद्ध धर्म और भारतीय संस्कृति का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। पाँचवीं सदी के प्रारम्भ में जब फाइयान भारत जाते हुए मार्ग में खोतन गया था, तो उसने वहाँ बौद्ध धर्म को फलती-फूलती दशा में पाया था। वहाँ के गोमती विहार में ३००० श्रमण व भिक्षु निवास करते थे। फाइयान इसी विहार में रहा था। ह्यु एन्-त्सांग ने भी खोतन के विविध विहारों, चैत्यों तथा स्तूपों का वर्णन किया है। गत शताब्दि में मध्य एशिया के विविध प्रदेशों का पुरातत्त्व-सम्बन्धी खोज के लिए जो अवगाहन किया गया है, उस द्वारा भी खोतन में पुराने विहारों तथा स्तूपों के अनेक अवशेष प्राप्त हुए हैं। अगले अध्याय में हम इन पर प्रकाश डालेंगे। यहाँ केवल यह निर्देश कर देना पर्याप्त है, कि बौद्ध धर्म तथा भारतीय संस्कृति की दृष्टि से उत्तरी मध्य एशिया में जो स्थिति कुची की थी, वही दक्षिणी क्षेत्र में खोतन की थी। इसी कारण अनेक बौद्ध प्रचारक खोतन से भी धर्म प्रचार के प्रयोजन से चीन गए, और चीन के बौद्ध विद्वान् भी धर्म तथा दर्शन का उच्च ज्ञान प्राप्त करने के लिए खोतन आते रहे।

बौद्ध धर्म की दृष्टि से मध्य एशिया के विविध राज्यों का महत्त्व कितना अधिक था, इसका एक संकेत सूर्यगर्भसूत्र नामक बौद्ध ग्रन्थ से मिलता है, जिसमें लिखा है कि बुद्ध के मुख-मण्डल से अनेक किरणें निकलीं, जिनसे भूमण्डल के सब प्रदेश आलोकित हुए और सर्वत्र बहुत-से बुद्धों का आविर्भाव हुआ। वाराणसी से चीन तक के देशों में बुद्ध के अवतारों का वर्णन करते हुए इस ग्रन्थ में सिन्धु, पामीर, गान्धार, उद्यान, उरसा, दरद, ईरान, काशगर, बाल्हीक, खश, खोतन, कुची और मरुक का उल्लेख किया गया है। साथ ही, यह भी कहा गया है कि बुद्धों का जो भिन्न-भिन्न स्थानों में अवतरण हुआ, उनमें ९९ बुद्ध कुची में हुए, २५ अक्सू में, ६० वाराणसी में, २०

कपिलवस्तु में, २२५ चीन में, २६ उद्यानदेश में, १०० पुरुषपुर में, १० गान्धार में, १८० खोतन में, ६८ काशगर में और १८० भोट (तिब्बत) में। बौद्ध लेखकों ने जो वाराणसी और कपिलवस्तु की तुलना में खोतन, काशगर और कुची सदृश मध्य एशिया के प्रदेशों में बुद्ध के अधिक बार अवतरित होने का उल्लेख किया है, उससे इस तथ्य का संकेत मिल जाता है कि इन लेखकों की दृष्टि में बौद्ध धर्म के केन्द्र के रूप में मध्य एशिया और चीन का महत्त्व भारत की तुलना में अधिक हो गया था।

पाँचवाँ अध्याय

मध्य एशिया में भारतीय धर्म तथा संस्कृति के अवशेष

(१) मध्य एशिया में पुरातत्त्व-सम्बन्धी खोज

मध्य एशिया के विविध प्रदेशों में भारतीय सभ्यता और संस्कृति के जो महत्त्वपूर्ण केन्द्र थे, मुसलिम आक्रमणों के परिणामस्वरूप उनका ह्रास हो गया था। पर उनके भग्नावशेष अब तक भी विद्यमान हैं। आधुनिक विद्वानों का उनके प्रति ध्यान उन्नीसवीं सदी के अन्तिम भाग में आकृष्ट होना प्रारम्भ हुआ। सन् १८७९ में डा० ए० रीगल नाम का जर्मन वैज्ञानिक तुर्फान गया था, और वहाँ उसने बौद्ध स्तूपों तथा चैत्यों के खण्डहरों का अवलोकन किया था। बाद में रूस और फिनलैण्ड के अनेक विद्वान् मध्य एशिया गये, और वहाँ के प्राचीन भग्नावशेषों के जो विवरण उन्होंने लिखे, उन्हें पढ़कर यूरोप के ऐतिहासिकों ने यह आवश्यक समझा, कि इस क्षेत्र की पुरातत्त्व-सम्बन्धी सामग्री का नियमित रूप से अनुशीलन किया जाना चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय ओरियन्टल कांग्रेस का जो अधिवेशन १८९९ में रोम में हुआ, उसमें रूस के मि० रडलाफ्फ ने यह विचार पेश किया, कि मध्य एशिया और पूर्वी एशिया के पुरातत्त्व-सम्बन्धी अवशेषों की खोज के प्रयोजन से एक अन्तर्राष्ट्रीय मण्डली का संगठन करना उपयोगी होगा। रोम में एकत्र विद्वानों ने रडलाफ्फ के इस विचार का स्वागत किया। इस समय तक मध्य एशिया के एक प्रदेश से भोजपत्र पर लिखा हुआ वह ग्रन्थ उपलब्ध हो चुका था, जो बावर मैनुस्क्रिप्ट के नाम से प्रसिद्ध है। कूची के समीप कुम-तुरा के एक प्राचीन स्तूप से यह हस्तलिखित ग्रन्थ दो तुर्कों को मिला था, और उन्होंने उसे कर्नल बावर को बेच दिया था (१८९०)। कर्नल बावर उन दिनों कूचा में निवास कर रहे थे। बावर ने इसे एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल को भेज दिया। संस्कृत और पुरातत्त्व के प्रसिद्ध विद्वान् डा० हार्नले ने भोजपत्र पर लिखे इस ग्रन्थ को पढ़कर यह रिपोर्ट दी, कि इसकी भाषा संस्कृत है, और लिपि गुप्त युग की ब्राह्मी। इसका काल उन्होंने चौथी सदी ईस्वी का पूर्वार्ध बताया। तकलामकान मरुस्थल के उत्तर में स्थित कूची के समीप उपलब्ध हुए इस प्राचीन संस्कृत ग्रन्थ के वर्णन को पढ़कर पाश्चात्य विद्वान् आश्चर्यचकित रह गये थे। इतना पुराना हस्तलिखित भारतीय ग्रन्थ इससे पहले अन्यत्र भी कोई नहीं मिला था। परिणाम यह हुआ, कि रोम की ओरियन्टल कांग्रेस में एकत्र विद्वानों ने रडलाफ्फ के विचार का हार्दिक स्वागत किया, और बहुत-से विद्वान् पुरातत्त्व-सम्बन्धी अवशेषों की खोज के प्रयोजन से मध्य एशिया के अवगाहन के लिए तत्पर हो गये। यूरोप के अनेक राज्यों की सरकारों ने भी मध्य एशिया के विविध प्रदेशों में स्थित अपने प्रतिनिधियों को यह आदेश दिया, कि वे अपने क्षेत्रों में प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों को

प्राप्त करने का प्रयत्न करें। साथ ही, अनेक विद्वानों ने व्यक्तिगत रूप से भी इन ग्रन्थों की खोज प्रारम्भ कर दी। इस खोज का यह परिणाम हुआ, कि मध्य एशिया के अनेक प्राचीन विहारों, स्तूपों और चैत्यों के खण्डहरों से बहुत-से हस्तलिखित ग्रन्थ उपलब्ध होने लगे। इन्हें पेट्रोग्राड तथा कलकत्ता आदि भेज दिया गया, और वहाँ विद्वानों ने इनका अनुशीलन प्रारम्भ किया। बंगाल की एशियाटिक सोसायटी के जर्नल में इनके विवरण प्रकाशित हुए (१८८९ और १९०१), और १९१६ में 'पूर्वी तुर्किस्तान में उपलब्ध बौद्धसाहित्य के हस्तलिखित ग्रन्थों के अवशेष' (Manuscript Remains of Buddhist Literature found in Eastern Turkistan) नाम से एक ग्रन्थ प्रकाशित किया गया, जिसमें इन हस्तलिखित ग्रन्थों के विवरण के साथ इनके बहुत-से पृष्ठों की फोटो भी दी गई थीं।

पाश्चात्य विद्वानों के प्रयत्न से जो बहुत-से हस्तलिखित ग्रन्थ इस काल में मध्य एशिया से प्राप्त हुए, उनमें एक धम्मपद था, जिसे १८९२ में फ्रेंच विद्वान् दुत्रइल द र्हाँ ने खोज निकाला था। यह ग्रन्थ खोतन के समीप के एक विहार के खण्डहरों से प्राप्त हुआ था। ह्यु एन्-त्सांग ने खोतन के समीपवर्ती प्रदेश में स्थित गोश्रृंग विहार का विशद रूप से वर्णन किया है। दुत्रइल द र्हाँ को धम्मपद की जो हस्तलिखित प्रति प्राप्त हुई थी, वह इसी गोश्रृंग विहार के खण्डहर से मिली थी। यह ग्रन्थ भोजपत्रों पर लिखा हुआ है। इसकी लिपि खरोष्ठी है, और यह एक ऐसी प्राकृत भाषा में है, जो अब तक प्राप्त हुए अन्य बौद्ध ग्रन्थों में प्रयुक्त नहीं हुई है। खरोष्ठी लिपि में लिखा हुआ यह पहला बौद्ध ग्रन्थ था, और इसका काल दूसरी सदी ईस्वी में निर्धारित किया गया था। संस्कृत के प्रसिद्ध फ्रेंच विद्वान् सेनार (Senart) ने धम्मपद की इस हस्त-लिखित प्रति का अध्ययन किया और इसके सम्बन्ध में जो रिपोर्ट ओरियन्टलिस्ट्स कांग्रेस के पेरिस के अधिवेशन (१८९७) के समक्ष प्रस्तुत की, उसे पढ़कर उसमें एकत्र विद्वान् आश्चर्यचकित रह गये। इसी समय के लगभग काशगर में स्थित रूसी कान्सल-जनरल पेत्रोवस्की द्वारा म० सेनार को ज्ञात हुआ, कि खरोष्ठी लिपि में लिखे हुए धम्मपद के कुछ पृष्ठ एक रूसी यात्री को भी उपलब्ध हुए हैं, और उन्हें रूस भेज दिया गया है। मध्य एशिया के विविध प्रदेशों से प्राप्त हुए इन बौद्ध हस्तलिखित ग्रन्थों का विवरण पढ़कर पेरिस की ओरियन्टलिस्ट्स कांग्रेस (१८९७) और फिर रोम की कांग्रेस (१८९९) में एकत्र विद्वानों को इस बात में कोई सन्देह नहीं रह गया, कि मध्य एशिया के विविध प्रदेश प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों की उपलब्धि के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं, और उनकी खोज करना प्राचीन इतिहास की शोध के लिए बहुत उपयोगी होगा। अब तक इन ग्रन्थों की खोज के लिए कोई सुनियोजित प्रयत्न नहीं किया गया था। कर्नल बावर को ब्राह्मी लिपि में लिखा हुआ और दुत्रइल द र्हाँ को खरोष्ठी लिपि में लिखा हुआ जो हस्तलिखित ग्रन्थ हाथ लग गया था, वह किसी सुनियोजित प्रयत्न का परिणाम नहीं था। अब यह उपयोगी समझा गया, कि प्राचीन ग्रन्थों की खोज के लिए मध्य एशिया में विद्वानों की मण्डलियाँ भेजी जाएँ, और वे वहाँ की प्राचीन ऐतिहासिक निधियों को ढूँढ निकालने का प्रयत्न करें।

इस प्रयोजन से एक मण्डली की नियुक्ति १९००-१९०१ में भारत सरकार द्वारा की गई। सर मार्क ग्रारेल स्टाइन को इस मण्डली का ग्रध्यक्ष नियुक्त किया गया, ग्रौर इसे खोतन के प्रदेश में खोज करने का कार्य सुपुर्द किया गया। सर स्टाइन की मण्डली को ग्रपने उद्देश्य में ग्रनुपम सफलता प्राप्त हुई, ग्रौर पुरातत्त्व की दृष्टि से खोतन का उसने जो ग्रवगाहन किया, उसके परिणाम प्राचीन खोतन (Ancient Khotan) नामक ग्रन्थ में उल्लिखित हैं। इस ग्रन्थ से यह भलीभाँति जाना जा सकता है, कि प्राचीन समय में खोतन बौद्ध धर्म तथा भारतीय संस्कृति का कितना महत्त्वपूर्ण केन्द्र था, ग्रौर यवनों तथा चीनियों की संस्कृति ने भी वहाँ के निवासियों को किस प्रकार प्रभावित किया था।

खोतन में सर स्टाइन को जो सफलता प्राप्त हुई, जर्मनी के विद्वान् उससे बहुत उत्साहित हुए। वहाँ के राजकीय कलाभवन की ग्रोर से जर्मन विद्वानों की भी एक मण्डली मध्य एशिया भेजी गई, जिसने तुर्फान में खोज का कार्य प्रारम्भ किया। प्रो० ग्रुएनवेडल, डा० रूथ ग्रौर श्री बार्टस जैसे विद्वान् इस मण्डली के सदस्य थे। तुर्फान ग्रौर उससे भी परे के कुची प्रदेश में जर्मन विद्वानों की इस मण्डली ने प्राचीन भग्नावशेषों की जाँच की ग्रौर वहाँ से बहुत-सी बहुमूल्य वस्तुएँ प्राप्त कीं (१९०२-१९०३)। इस मण्डली की सफलता से प्रोत्साहित होकर १९०४ में एक ग्रन्य जर्मन मण्डली तुर्फान गई, जिसके नेता डा० फान ल कॉक थे। प्रशिया की सरकार का संरक्षण तथा ग्रार्थिक सहयोग इसे प्राप्त था। इस मण्डली ने ग्रपना कार्य प्रारम्भ ही किया था, कि प्रो० ग्रुएनवेडल के नेतृत्व में जर्मन विद्वानों की एक ग्रन्य मण्डली को मध्य एशिया भेजा गया। जर्मन विद्वानों की खोज के प्रधान क्षेत्र कुची, तुर्फान ग्रौर काराशहर के प्रदेश में थे, जिनकी स्थिति तकला मकान के मरुस्थल के उत्तर में है। १९०७ तक ये मण्डलियाँ ग्रपने कार्य में व्यापृत रहीं, ग्रौर ये न केवल बहुत-सी ऐसी मूर्तियाँ प्राप्त करने में सफल हुईं, जो बौद्ध कला की उत्कृष्ट उदाहरण हैं, ग्रपितु बहुत-से हस्तलिखित ग्रन्थ भी इन्होंने प्राप्त किये। ये ग्रन्थ संस्कृत, चीनी, सोग्दियन (सुग्ध देश की), सीरियन (सीरिया की) ग्रौर तुर्की ग्रादि भाषाग्रों में हैं। संस्कृत के जो ग्रन्थ जर्मन विद्वानों ने इस क्षेत्र में प्राप्त किये, वे ब्राह्मी तथा खरोष्ठी दोनों लिपियों में लिखे हुए हैं। ऐसे ग्रन्थ भी इस क्षेत्र से मिले, जो कुची ग्रौर खोतन की प्राचीन भाषाग्रों में हैं।

सन् १९०६ में सर स्टाइन के नेतृत्व में एक ग्रन्य मण्डली भारत सरकार द्वारा मध्य एशिया भेजी गई। इसने न केवल खोतन के प्रदेश का पुनः ग्रवगाहन किया, ग्रपितु तकला मकान के दक्षिण में जो ग्रनेक प्रदेश खोतन के पूर्व में स्थित हैं, उनमें भी खोज प्रारम्भ की। दोमोको तथा नीया का ग्रवगाहन करती हुई यह मण्डली पूर्व में तुँङ्-ह्वांग् तक पहुँच गई। यह स्थान लोपनौर झील से भी परे ठेठ चीन की पश्चिमी सीमा के समीप है। हूणों के ग्राक्रमण से ग्रपने देश की रक्षा करने के लिए चीन के सम्राटों ने जिस विशाल दीवार का निर्माण कराया था, उसका पश्चिमी सिरा तुङ्-ह्वांग तक ग्राया हुग्रा है। सर स्टाइन की मण्डली ने तुङ्-ह्वांग के समीप इस दीवार के ग्रवशेषों का पता किया। पर इसका सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य गुहा-मन्दिरों की उस

शृंखला को ढूँढ़ निकालना था, जो 'सहस्र-बुद्ध-गुहा-विहार' के नाम से प्रसिद्ध हैं। ये गुहाएँ तुङ्-ह्वांग् से नौ मील की दूरी पर हैं, और इनकी शृंखला की लम्बाई एक हजार गज से भी अधिक है। इन गुहाओं की भित्तियों पर बहुत-से चित्र हैं, और उनमें बहुत-सी सुन्दर मूर्तियाँ भी विद्यमान हैं। सहस्र-बुद्ध-गुहा विहार की गुहाओं की छानबीन करते हुए अकस्मात् एक छोटी-सी गुहा निकल आयी, जो हस्तलिखित पुस्तकों और रेशम पर बने चित्रों से परिपूर्ण थी। ग्यारहवीं सदी में इस गुहा को बन्द कर दिया गया था, और उसमें संचित ग्रन्थों, चित्रों तथा अन्य कृतियों का किसी को भी पता नहीं रहा था। सर स्टाइन तुङ्-ह्वांग की गुहा से प्राप्त बहुत-से ग्रन्थों व चित्रों को अपने साथ ले आये। बाद में इन्हीं गुफाओं से बहुत-से हस्तलिखित ग्रन्थ व चित्र आदि फ्रेंच लोगों ने प्राप्त किये, और जो बाकी बचे, उन्हें चीन की सरकार की आज्ञा से पेकिंग भेज दिया गया। प्रो० पेलिओ ने १९०६-१९०८ में चीनी तुर्किस्तान की यात्रा की थी। १९०६ के अभियान में सर स्टाइन ने जो बहुमूल्य सामग्री मध्य एशिया से प्राप्त की थी, उसका विशद विवरण उन द्वारा लिखित सेर-इण्डिया (Serindia) पुस्तक में विद्यमान है। यह पुस्तक पाँच खण्डों में है, और इसके अध्ययन से तुर्फान, नीया, तुङ्-ह्वांग् आदि के प्राचीन भग्नावशेषों के सम्बन्ध में समुचित जानकारी प्राप्त की जा सकती है। सर स्टाइन को केवल तुङ्-ह्वांग् से ही हस्तलिखित ग्रन्थ प्राप्त नहीं हुए, अपितु दोमोकों, नीया और लौ-लान से भी उन्होंने बहुत-से ग्रन्थ खोज निकाले थे, जो संस्कृत, प्राकृत और चीनी भाषाओं में हैं। इन सब स्थानों से सर स्टाइन ने बहुत-सी कला-कृतियाँ भी प्राप्त कीं, जो प्राचीन काल में इन प्रदेशों की सभ्यता तथा संस्कृति पर अनुपम प्रकाश डालती हैं। कतिपय तिब्बती लेख भी इस अभियान में प्राप्त किये गये, जो कागज के अतिरिक्त लकड़ी की तख्तियों पर भी लिखे हुए हैं।

सर स्टाइन ने १९१३ में एक बार फिर मध्य एशिया की यात्रा की। खोतन, नीया और तुङ्-ह्वांग का पुनः अवगाहन करने के पश्चात् उन्होंने दक्षिण-पूर्व से उत्तर-पश्चिम की दिशा में प्रस्थान किया, और मरुस्थल को पार कर वे काशगर तक पहुँच गये। तकला मकान के मरुस्थल के उत्तर में विद्यमान जिन स्थानों का अवगाहन पहले जर्मन विद्वानों द्वारा किया जा चुका था, सर स्टाइन ने उनकी फिर से छानबीन की। तुर्फान, यीपान, कुचि, अक्सू आदि के प्राचीन भग्नावशेषों का उन्होंने भलीभाँति अनुशीलन किया, और काशगर पहुँचने के बाद भी अनुसन्धान के कार्य को जारी रखा। काशगर से भारत वापस आते हुए उन्होंने समरकन्द, खुरासान और सीस्तान (शकस्थान) की भी यात्रा की। इन स्थानों पर भी उन्हें बहुत-से प्राचीन अवशेष उपलब्ध हुए। सीस्तान की स्थिति ईरान के उत्तर-पूर्वी प्रदेश में है, और वह मध्य एशिया के उस क्षेत्र के साथ लगा हुआ है, जो प्राचीन काल में बौद्ध धर्म और भारतीय संस्कृति का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। यह पहला अवसर था, जबकि प्राचीन अवशेषों की खोज में एक विद्वान् ने ईरान के अन्यतम प्रदेश की भी यात्रा की थी। वहाँ कोह-ख्वाजा पहाड़ी के शिखर पर एक बौद्ध धर्मस्थान के भग्नावशेष उपलब्ध हुए। ईरान की भूमि पर विद्यमान ये पहले बौद्ध अवशेष थे, जो आधुनिक विद्वानों की

दृष्टि में आये थे। इस धर्मस्थान के समीप एक इमारत पर अनेक भित्तिचित्रों का भी सर स्टाइन ने अवलोकन किया, जो ग्रीक शैली में निर्मित हैं। सर स्टाइन की मण्डली ने अपनी इस यात्रा में जो नई खोज की, 'इनरमोस्ट इण्डिया' (Innermost India) नामक ग्रन्थ में उसका सचित्र विवरण दिया गया है।

जर्मन, ब्रिटिश और फ्रेंच विद्वानों के अतिरिक्त रूस के विद्वान् भी इस काल में मध्य एशिया के अवगाहन में तत्पर रहे। १९०६ और १९०९ में रूस की दो अन्य मण्डलियाँ इस क्षेत्र में गईं, जिनके नेता क्रमशः श्री वेरीवोस्की और श्री कैजालॉफ थे। कैजालॉफ की मण्डली ने खारा-खोतो के प्राचीन नगर का पता लगाया, और वहाँ से बहुत-से पुराने लेख व ग्रन्थ प्राप्त किये। ये चीनी और तंगुत भाषाओं में हैं। तंगुत तुर्क-मंगोल परिवार की एक प्राचीन भाषा थी। १९१४ में एक रूसी मण्डली ने तुङ्-ह्वांग की यात्रा की, और वहाँ से भी बहुत-से पुराने लेख, चित्र व ग्रन्थ प्राप्त किये।

पाश्चात्य विद्वानों को मध्य एशिया के प्राचीन भग्नावशेषों की खोज में जो अनुपम सफलता प्राप्त हो रही थी, जापान के विद्वान् भी उससे आकृष्ट हुए। काउन्ट ओतनी के नेतृत्व में एक जापानी मण्डली ने १९०४ में तुर्फान, कुची, काशगर और रूसी तुर्किस्तान की यात्रा की, और वहाँ से बहुत-से प्राचीन अवशेष प्राप्त किये। इसके बाद भी जापानी विद्वान् इस क्षेत्र में आते रहे, और यूरोप के विद्वानों के समान वे भी अनेक पुराने ग्रन्थ, कलात्मक कृतियाँ व मूर्तियाँ आदि एकत्र करने में सफल हुए।

इसी प्रकरण में हम ऊपर लिख चुके है, कि फ्रांस के विद्वानों ने भी तुङ्-ह्वांग की गुहाओं से बहुत-से हस्तलिखित ग्रन्थ व चित्र आदि प्राप्त किये थे। फ्रेंच विद्वानों की इस खोज के सम्बन्ध में विशद रूप से प्रकाश डालना उपयोगी है। १९०६ में 'मध्य एशिया में अनुसन्धान के प्रयोजन से संगठित फ्रेंच कमेटी' की ओर से एक मण्डली का संगठन किया गया, जिसके नेता श्री पॉल पेलिओ थे। फ्रांस की अन्य अनेक संस्थाओं ने भी इस मण्डली के संगठन में सहयोग प्रदान किया। जनवरी, १९०७ में यह मण्डली मास्को, ताशकन्द और काशगर होती हुई कुची पहुँच गई। कुची के क्षेत्र से फ्रेंच विद्वानों ने कुछ प्राचीन अवशेष प्राप्त किये, पर उनका लक्ष्य तुङ्-ह्वांग की गुहाओं का अवगाहन करना था, जिनकी चर्चा वे पेरिस में ही सुन चुके थे। सर स्टाइन इन गुहाओं से बहुत-से हस्तलिखित ग्रन्थ और चित्र आदि पहले ही प्राप्त कर चुके थे। पर पेलिओ और उनके साथियों को यह आशा थी, कि तुङ्-ह्वांग को गुहाओं से अभी अन्य भी बहुत-सी बहुमूल्य सामग्री प्राप्त की जा सकती है। सर स्टाइन ने जिस गुहा से हस्तलिखित ग्रन्थ प्राप्त किये थे, उसका संकेत उन्हें वांग-ताओ नामक एक भिक्षु से मिला था। पेलिओ ने सोचा, कि इस भिक्षु की सहायता से वे भी नई सामग्री प्राप्त कर सकते हैं। वांग-ताओ से सम्पर्क स्थापित करने में पेलिओ को विशेष कठिनाई नहीं हुई। उसकी सहायता से उन्होंने भी एक गुहा ढूँढ निकाली, जो हस्तलिखित ग्रन्थों तथा चित्रों आदि से परिपूर्ण थी। इनमें से कुछ पुस्तकों में उसी ढंग से पृष्ठ थे, जैसे कि वर्तमान समय की पुस्तकों में होते हैं। पर बहुसंख्यक ग्रन्थ बड़े-बड़े थानों या कुण्डलियों (rolls) के रूप में थे, जिन्हें लपेट कर रखा जाता है। प्राचीन ग्रन्थों का जो विशाल
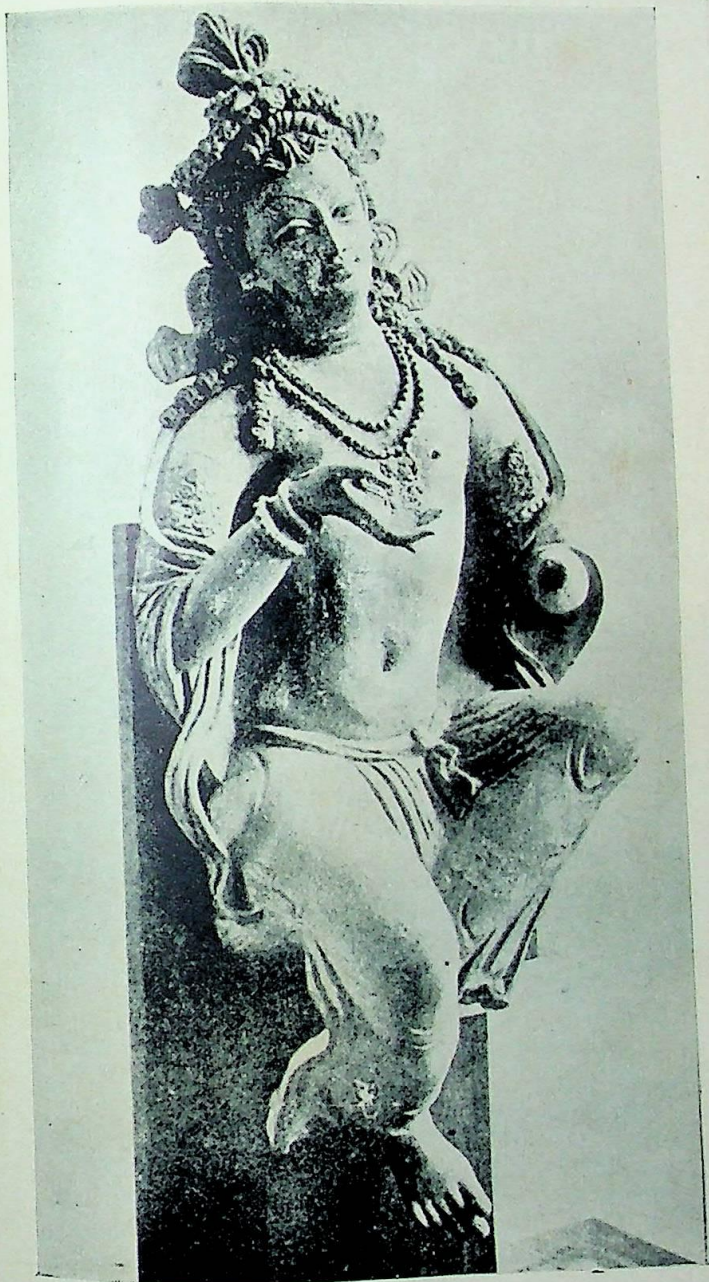
फोंदुकिस्तान (अफगानिस्तान) से प्राप्त बोधिसत्त्व की मूर्ति
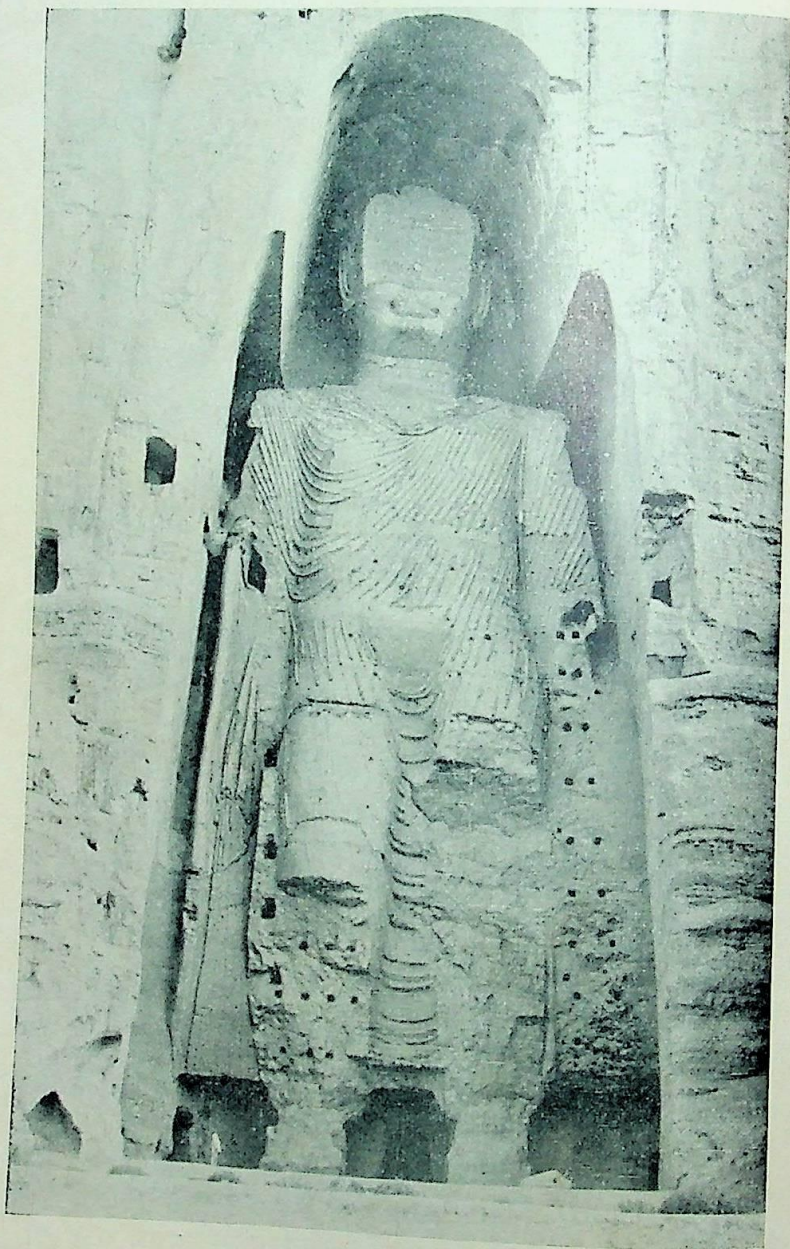
बामियान (अफगानिस्तान) की १७५ फीट ऊंची विशाल बुद्धमूर्ति
(भारतीय पुरातत्त्व विभाग के सौजन्य से साभार)
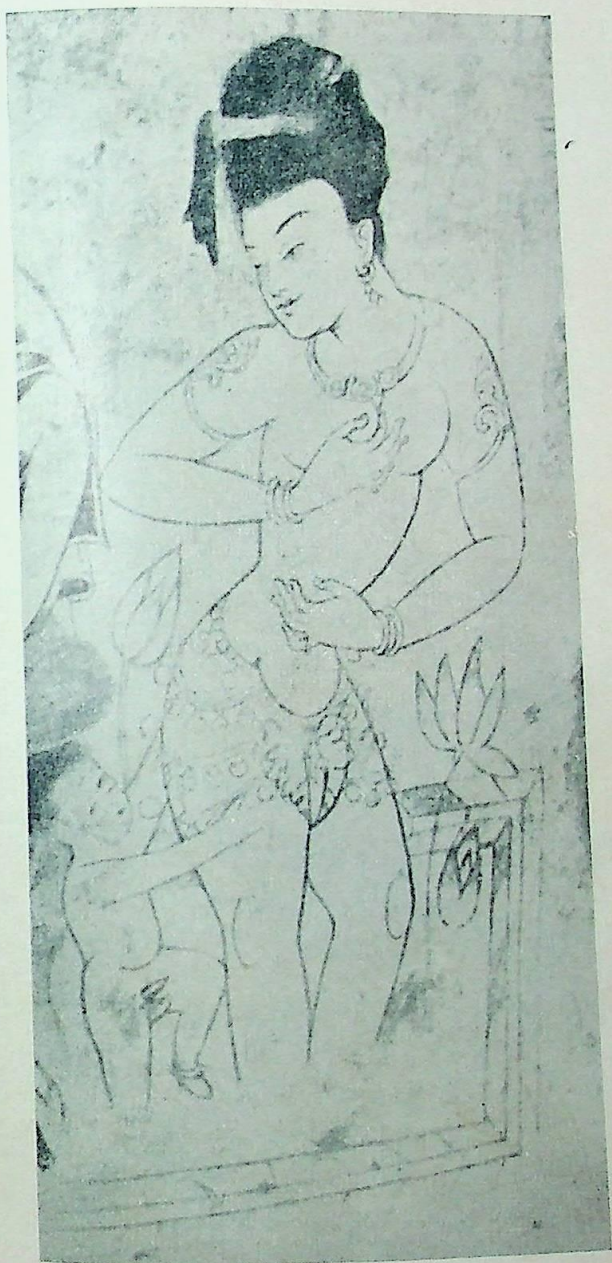
दन्दान उइलिक (मध्य एशिया) का एक सुन्दर भित्तिचित्र

किजिल (मध्य एशिया) के गुहामन्दिर का भित्तिचित्र
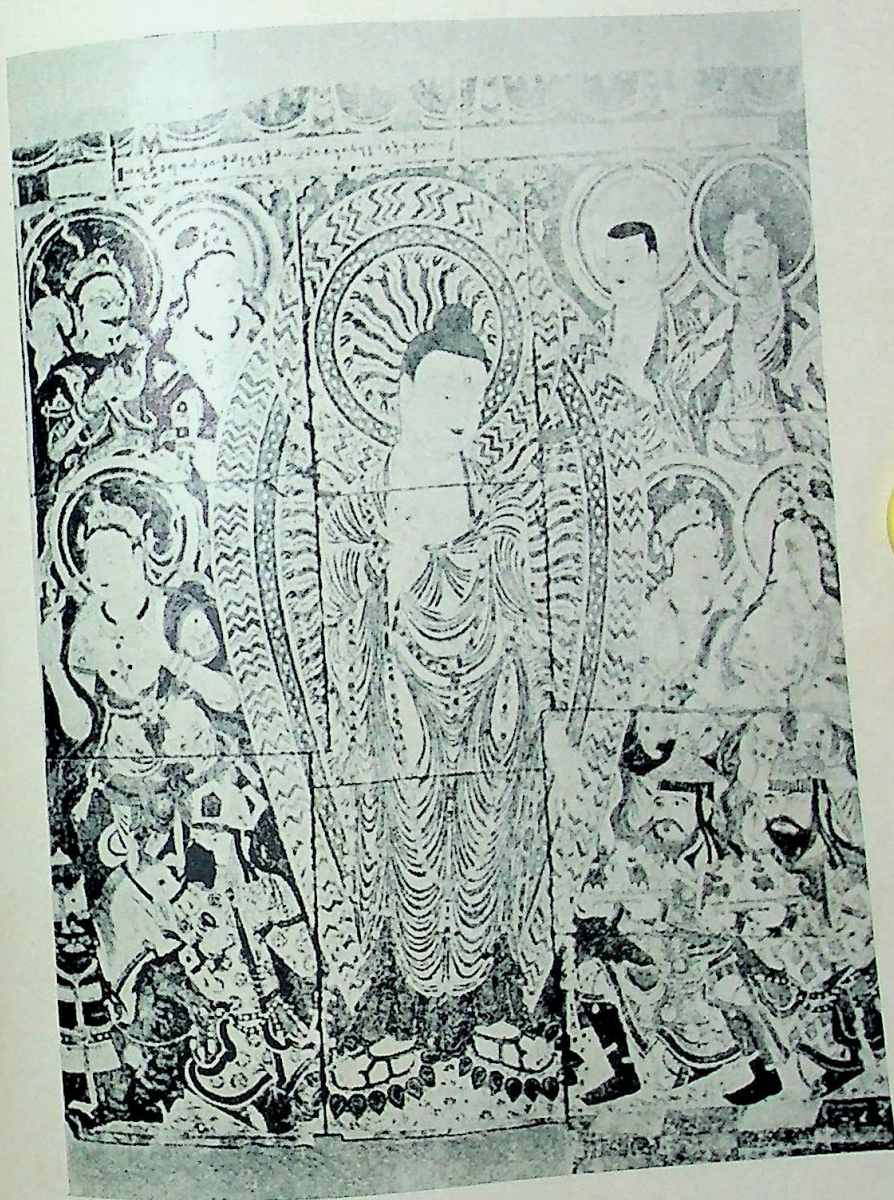
बेजक्लिक (मध्य एशिया) के एक गुहामन्दिर का भित्तिचित्र

मध्य एशिया से प्राप्त एक बुद्धमूर्ति

मध्य एशिया से प्राप्त एक बोधिसत्त्वमूर्ति

(राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली के सौजन्य से साभार)

किजिल (मध्य एशिया) के एक गुहामन्दिर का भित्तिचित्र
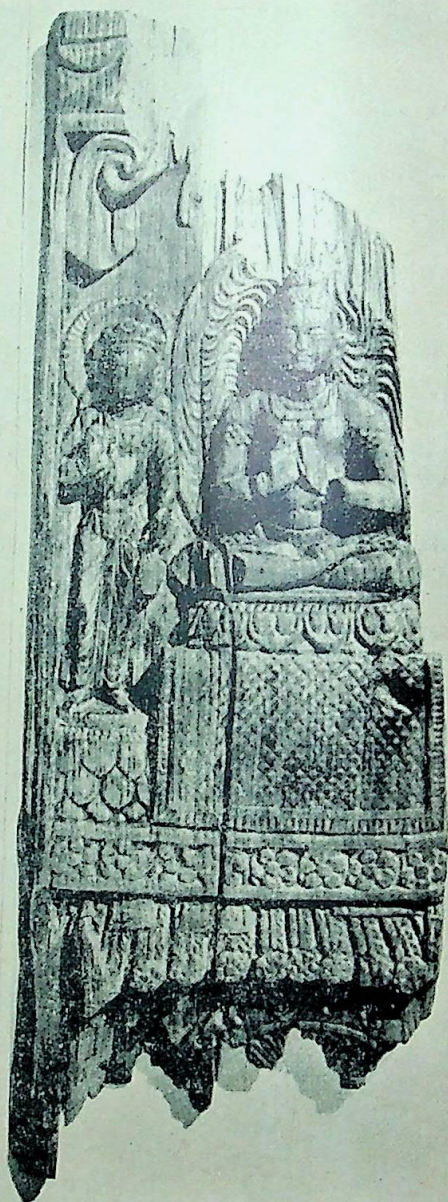
तुङ्ह्वांग से प्राप्त एक चित्रपट

मध्य एशिया से प्राप्त एक काष्ठमूर्ति

(राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली के सौजन्य से साभार)

भण्डार श्री पेलिओ को प्राप्त हो गया था, उसमें इन थानों की संख्या ही १५,००० के लगभग थी। ये मुख्यतया चीनी, संस्कृत, तिब्बती और उइगूर भाषाओं में थे। वांग ताओ को इन ग्रन्थों के महत्त्व का कुछ भी ज्ञान नहीं था। वह कुछ धन के बदले में इन्हें पेलिओ को देने के लिए तैयार हो गया। तीन सप्ताह लगाकर पेलिओ तथा उनके साथियों ने इन ग्रन्थों की छानबीन की, और उनमें से जिन्हें अधिक महत्त्वपूर्ण पाया, उन्हें छाँट लिया। ब्राह्मी लिपि में लिखे हुए और उइगूर भाषा के सब ग्रन्थ उन्होंने अपने साथ ले जाने के लिए पृथक् कर लिए, और तिब्बती तथा चीनी भाषा के भी कुछ ग्रन्थ छाँट लिए गये। इस प्रकार चुने हुए ग्रन्थों की संख्या भी ५,००० के लगभग थी। यद्यपि बहुसंख्यक ग्रन्थों का सम्बन्ध बौद्ध धर्म से था, पर इतिहास, भूगोल, दर्शन, साहित्य आदि विषयों पर भी ग्रन्थ वहाँ उपलब्ध हुए थे। पेलिओ इन्हें अपने साथ पेरिस ले गये, और ये अब वहाँ के पुस्तकालयों में संगृहीत हैं। इन हस्तलिखित ग्रन्थों का काल ग्यारहवीं सदी से पहले का है। उस समय तक पश्चिमी चीन का यह प्रदेश बौद्ध धर्म का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। तुङ्-ह्वांग् के सहस्र-बुद्ध-गुहा-विहार में हजारों बौद्ध भिक्षु निवास करते थे। ये भिक्षु चीनी, तिब्बती, तुर्क, युइशि आदि अनेक जातियों के थे। १०३५ ईस्वी में इस प्रदेश पर बाह्य आक्रमण प्रारम्भ हो गये, और बौद्ध भिक्षुओं के लिए अपने महा विहार में शान्तिपूर्वक रह सकना सम्भव नहीं रहा। उन्होंने अपने ग्रन्थों को जल्दी-जल्दी कुछ गुहाओं में भर दिया, और उनके प्रवेश-द्वारों को प्रस्तर खण्डों से बन्द कर ऊपर से लेप दिया। बाहर से देखने पर यह समझा ही नहीं जा सकता था, कि प्रस्तर-खण्डों से बनी इन दीवारों के पीछे कोई गुहा भी हैं, और उनमें प्राचीन साहित्य की अनुपम निधि छिपी पड़ी हैं। नौ सदियों के पश्चात् ये ग्रन्थ फिर प्रकाश में आये, और इनके अनुशीलन से मध्य एशिया की लुप्त सभ्यताओं का परिचय प्राप्त करने का अवसर मिला। फ्रेंच विद्वानों ने इनका अध्ययन कर जो परिणाम निकाले हैं, वे अत्यन्त महत्त्व के हैं। १०३५ से पूर्व तुङ्-ह्वांग् और उसके समीपवर्ती सब प्रदेशों के निवासी बौद्ध धर्म के अनुयायी थे, पर चीनी, तिब्बती, तुर्की, उइगूर, भारतीय आदि कितने ही प्रकार के लोग वहाँ निवास करते थे। इस क्षेत्र की संस्कृति पर भारत और बौद्ध धर्म का अतुल प्रभाव था, पर चीन, सुग्ध, तिब्बत आदि देशों की संस्कृति ने भी वहाँ के लोगों को प्रभावित किया था। वस्तुतः, इस क्षेत्र में एक मिश्रित व समन्वयात्मक संस्कृति की सत्ता थी, जिसका निर्माण अनेक देशों की भाषा, लिपि, कला, धार्मिक परम्परा आदि के सम्मिश्रण से हुआ था। भारत के लिए इस क्षेत्र से उपलब्ध हुए हस्तलिखित ग्रन्थों का विशेष रूप से महत्त्व है। बौद्ध धर्म के जो प्राचीन ग्रन्थ इस समय भारत में उपलब्ध नहीं हैं, उनमें से बहुत-से मध्य एशिया के विविध प्रदेशों से अपने मूल संस्कृत तथा प्राकृत रूप में उपलब्ध हुए हैं, और बहुत-से उनके चीनी, तिब्बती आदि भाषाओं में अनुवादों के रूप में। इस क्षेत्र से बहुत-से ग्रन्थ और लेख ऐसी भाषाओं और लिपियों में भी मिले हैं, जो वर्तमान समय में लुप्त हो चुकी हैं। इन्हें भी पढ़ने का प्रयत्न किया जा रहा है।

इतना समय बीत जाने पर भी जो ये ग्रन्थ और चित्र आदि सुरक्षित रूप में

प्राप्त हो सके, उसका प्रधान कारण यह है कि मध्य एशिया में वर्षा बहुत कम होती है, और वहाँ की जलवायु बहुत खुश्क है। ऋतु के विपरीत प्रभाव से ये ग्रन्थ बचे रह सके हैं, और नमी के कारण इन पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ा।

(२) मध्य एशिया से प्राप्त कतिपय महत्त्वपूर्ण भारतीय ग्रन्थ

मध्य एशिया के विविध प्रदेशों से जो बहुत-से भारतीय ग्रन्थ प्राप्त हुए हैं, उनमें से कुछ का परिचय देना उपयोगी होगा, क्योंकि प्राचीन भारत के विशाल साँस्कृतिक साम्राज्य और बौद्ध धर्म के इतिहास की दृष्टि से ये अत्यन्त महत्त्व के हैं।

बावर मैन्युस्क्रिप्ट—यह ग्रन्थ भोजपत्रों पर लिखा हुआ है, और यह कुची के समीप एक पुराने स्तूप से दो तुर्कों को मिला था, और उन्होंने इसे कर्नल बावर को बेच दिया था (१८९०)। इसके सात भाग हैं, या यूँ कहा जा सकता है कि यह सात छोटी-छोटी पुस्तिकाओं का संग्रह है। पहली तीन पुस्तिकाओं का सम्बन्ध चिकित्सा-शास्त्र के साथ है जिनमें से एक का नाम 'नावनीतक' है। प्राचीन भारत में चिकित्सा शास्त्र अच्छी उन्नत दशा में था, और अनेक विद्वानों ने इस विषय पर ग्रन्थों की रचना की थी। नावनीतक चिकित्साशास्त्र-विषयक पुराने ग्रन्थों के नवनीत (मक्खन) या सार के रूप में है, और उसमें अग्निवेश, भेद, हारीत, जातुकर्ण, क्षारपाणि, पराशर और सुश्रुत जैसे पुराने आचार्यों के ग्रन्थों से उद्धरण दिए गये हैं। चिकित्सा के लिए विविध प्रकार के चूर्णों, तैलों, भस्मों आदि का किस प्रकार निर्माण किया जाए, यह नावनीतक में प्रतिपादित है। दवाइयों के बहुत-से नुस्खे भी इसमें दिये गये हैं। चिकित्सा-विषयक एक पुस्तिका में लहसुन के गुणों तथा विविध रोगों की चिकित्सा के लिये उसके उपयोग का वर्णन है। इसमें यह भी लिखा गया है, कि लहसुन के समुचित ढंग से प्रयोग द्वारा मनुष्य सौ वर्ष तक जीवित रह सकता है। पाचन शक्ति को किस प्रकार ठीक रखा जाए, इस विषय को भी एक पुस्तिका में प्रतिपादित किया गया है, और उसमें ऐसे प्रयोग भी दिए गए हैं जिनसे मनुष्य अपनी आयु को एक हजार साल तक बढ़ा सकता है। बावर मैन्युस्क्रिप्ट की दो पुस्तिकाओं में सर्पदंश की चिकित्सा दी गई है। इसके लिये इसमें उस तन्त्र-मन्त्र का वर्णन है, जिससे सांप के काटे का इलाज किया जा सकता है। इस तन्त्र-मन्त्र का ज्ञान किस प्रकार हुआ, इस सम्बन्ध में इन पुस्तिकाओं में यह कथा लिखी गई है, कि एक बार जब भगवान् बुद्ध श्रावस्ती नगरी के समीप श्रेष्ठी अनाथपिण्डक के जेतवन में निवास कर रहे थे, स्वाति नामक भिक्षु को नाग ने काट लिया। बुद्ध के प्रधान शिष्य आनन्द ने अपने गुरु को यह सूचना दी, कि सर्पदंश के कारण भिक्षु स्वाति बेहोश हो गया है। तब बुद्ध ने 'महामायूरी मन्त्र' का उपदेश दिया, जिसके प्रयोग से स्वाति को होश आ गया। इस महामायूरी मन्त्र का विवरण चुल्लवग्ग और अंगुत्तर निकाय में भी मिलता है। बावर मैन्युस्क्रिप्ट की चिकित्सा-सम्बन्धी ये पुस्तिकाएँ इस विज्ञान के संस्कृत ग्रन्थों में सबसे पुरानी हैं, जो हस्तलिखित रूप में प्राप्त हुई हैं। इनकी भाषा संस्कृत और लिपि ब्राह्मी है। ये पुस्तिकाएं पद्य में हैं, और इनका काल ईसा की चौथी सदी में माना जाता है।

धम्मपद—खोतन के समीप गोशृंग विहार के भग्नावशेषों से धम्मपद की जो हस्तलिखित प्रति सन् १८९२ में फ्रेन्च विद्वान् दुत्रइल द र्हां को प्राप्त हुई थी, उसका उल्लेख पिछले प्रकरण में किया जा चुका है। यह ग्रन्थ खरोष्ठी लिपि में है, और इसकी भाषा प्राकृत है। यह भी भोजपत्रों पर लिखा हुआ है, और विद्वानों ने इसे पहली या दूसरी सदी में लिखा हुआ माना है। खरोष्ठी लिपि का इससे पुराना ग्रन्थ अब तक कोई नहीं मिला है। पर इसकी सबसे मुख्य विशेषता इसकी भाषा है। भारत में प्राचीन काल में अनेक प्राकृत भाषाएं प्रचलित थीं, पर इसकी प्राकृत उन सबसे भिन्न है। उत्तर-पश्चिमी सीमा-प्रान्त की बोलियों की अनेक बातें इसमें विद्यमान हैं। पर इस ग्रन्थ की प्राकृत में कतिपय ऐसी विशेषताएं भी हैं, जो भारत की किसी भी पुरानी या आधुनिक भाषा या बोली में नहीं पायी जातीं। प्रोफेसर कोनो ने प्रतिपादित किया है, कि ये विशेषताएं उस भाषा के प्रभाव की परिणाम हैं, जो प्राचीन काल में दक्षिण-पूर्वी तुर्किस्तान में बोली जाती थीं। ईस्वी सन् के प्रारम्भिक काल में भारत में जैसे संस्कृत और पालि भाषाओं की सत्ता थी, वैसे ही एक प्राकृत भाषा की भी थी। अतः स्वाभाविक रूप से धम्मपद जैसे महत्त्वपूर्ण बौद्ध ग्रन्थ का प्राकृत संस्करण भी उस समय अवश्य प्रचलित रहा होगा। दक्षिण-पूर्वी तुर्किस्तान की तत्कालीन स्थानीय भाषा से प्रभावित होकर प्राकृत धम्मपद ने वह रूप प्राप्त किया, जो दुत्रइल द र्हां को गोशृंग विहार से उपलब्ध हुआ था।

अश्वघोष के नाटक—बौद्ध धर्म के इतिहास में अश्वघोष का स्थान अत्यन्त महत्त्व का है। वे एक अत्यधिक प्रतिभासम्पन्न विद्वान् थे। उनका जन्म एक सुशिक्षित ब्राह्मण कुल में हुआ था, और उन्होंने सनातन हिन्दू धर्म के शास्त्रों तथा साहित्य का गम्भीर रूप से अध्ययन किया था। पर बाद में वे बौद्ध धर्म के हीनयान सम्प्रदाय के अनुयायी हो गये, और कुछ समय पश्चात् महायान सम्प्रदाय के। उनकी गिनती महायान के प्रसिद्ध विद्वानों में की जाती है, और उन्होंने उसके दार्शनिक सिद्धान्तों का निरूपण करने के लिए अनेक ग्रन्थों की रचना की थी। अश्वघोष न केवल दार्शनिक ही थे, अपितु कवि भी थे। उनके द्वारा रचित काव्यों को संस्कृत साहित्य में आदर की दृष्टि से देखा जाता है। पर वे नाटककार भी थे, इसका परिज्ञान उन नाटकों द्वारा ही हुआ, जो मध्य एशिया से प्राप्त किये गए थे। जर्मन विद्वानों की मण्डली ने तुर्फान के क्षेत्र से जो अनेक हस्तलिखित ग्रन्थ प्राप्त किए थे, उनमें अश्वघोष द्वारा लिखित एक नाटक का अन्तिम अंक भी था। इसका नाम शारिपुत्रप्रकरण या शारद्वतीपुत्र प्रकरण है, और नाटक के अन्त में इसे सुवर्णाक्षी के पुत्र अश्वघोष द्वारा रचित बताया गया है। अश्वघोष के प्रसिद्ध काव्य 'सौन्दरानन्द काव्य' में भी उसके लेखक का नाम सुवर्णाक्षी-पुत्र अश्वघोष कहा गया है। इससे यह असन्दिग्ध रूप से माना जा सकता है, कि शारिपुत्र प्रकरण नाटक का रचयिता भी वही अश्वघोष था, जो महायान सम्प्रदाय का प्रसिद्ध आचार्य था। तुर्फान से उपलब्ध शारिपुत्रप्रकरण नाटक ताडपत्रों पर लिखा हुआ है, उसकी भाषा संस्कृत और लिपि ब्राह्मी है। ब्राह्मी लिपि के जिस रूप में यह नाटक लिखा गया है, वह भारत में कुशाण युग में प्रचलित थी। गुप्त युग की ब्राह्मी

से यह अधिक पुरानी है। इसी कारण इस नाटक की तुर्फान में उपलब्ध प्रति को पहली सदी ईस्वी का माना जाता है। जर्मन विद्वानों की मण्डली ने जो हस्तलिखित ग्रन्थ तुर्फान से प्राप्त किये थे, उनमें कतिपय अन्य नाटकों के पृष्ठ भी थे। ये इतने अपूर्ण हैं, कि इनसे न यह जाना जा सकता है कि इन नाटकों के क्या नाम थे और न यह कि इनका रचियता कौन था। पर इनकी भाषा, शैली और विषय का अध्ययन कर डा० ल्यूडर्स ने यह प्रतिपादित किया है, कि ये नाटक भी अश्वघोष द्वारा विरचित थे। इनमें से एक नाटक के मुख्य पात्र बुद्ध, शारिपुत्र, मौद्गलायन और एक विदूषक हैं। यह नाटक संस्कृत में है, पर प्राचीन संस्कृत नाटकों की शैली का अनुसरण करते हुए इसमें हीन स्थिति के पात्रों द्वारा प्राकृत भाषा का भी प्रयोग कराया गया है।

उदान वर्ग—बौद्ध धर्म के सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय का एक प्रसिद्ध ग्रन्थ उदान-वर्ग है, जिसका इस सम्प्रदाय के धार्मिक साहित्य में वही स्थान है, जो कि थेरवाद के साहित्य में धम्मपद का है। पहले यह ग्रन्थ केवल चीनी और तिब्बती भाषाओं में ही उपलब्ध था। पर मध्य एशिया के भग्नावशेषों में इसका मूल संस्कृत रूप भी प्राप्त हुआ है। जर्मन विद्वानों की मण्डली द्वारा जो बहुत-से हस्तलिखित ग्रन्थ मध्य एशिया से प्राप्त किये गए थे, उनमें एक उदान वर्ग भी था। इसकी भाषा संस्कृत है, और लिपि ब्राह्मी। यह जिस ढंग की ब्राह्मी लिपि में लिखा गया है, वह सातवीं सदी ईस्वी में कुची के प्रदेश में प्रचलित थी। पेलिओ के नेतृत्व में फ्राँस के विद्वानों की जो मण्डली मध्य एशिया में अनुसन्धान के लिए गई थी, उस द्वारा भी उदान वर्ग की हस्तलिखित प्रतियों के अनेक अंश प्राप्त किये गए थे। इनमें से एक प्रति तुङ्-ह्वांग् से प्राप्त हुई थी, जिसकी लिपि अश्वघोष के नाटकों की लिपि से मिलती-जुलती है। इससे यह अनुमान किया गया है, कि यह प्रति ईस्वी सन् की दूसरी सदी के बाद की नहीं हो सकती। यह प्रति भोजपत्रों पर लिखी हुई है। उदान वर्ग का लेखक धर्मत्रात नाम का विद्वान् था, जिसकी गणना सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय के प्रधान आचार्यों में की जाती है। धर्मत्रात का भागिनेय वसुमित्र था, जिसने राजा कनिष्क द्वारा आयोजित बौद्धों की चौथी धर्मसंगीति (महासभा) की अध्यक्षता की थी। धर्मत्रात और वसुमित्र पुष्कलावती या पुष्करावती के निवासी थे। यह नगरी पश्चिमी गान्धार की राजधानी थी। बौद्धों के धार्मिक साहित्य में उदान वर्ग का इतना अधिक महत्त्व है, कि उसे तिब्बती और चीनी भाषाओं में अनूदित किया गया था, और संस्कृत के मूल ग्रन्थ की उपलब्धि से पूर्व यह पुस्तक केवल इसके तिब्बती और चीनी अनुवादों के रूप में ही ज्ञात थी। उदान वर्ग का तिब्बती भाषा में अनुवाद विद्याप्रभाकर नामक भारतीय विद्वान् द्वारा किया गया था।

मध्य एशिया के क्षेत्र में उदान वर्ग को इतना महत्त्वपूर्ण माना जाता था, कि वहाँ की भी अनेक भाषाओं में इसका अनुवाद किया गया था। कुची तथा सुग्ध की प्राचीन भाषाओं में भी इस ग्रन्थ के अनुवाद मिले हैं, जिन्हें जर्मन तथा फ्रेन्च विद्वानों की मण्डलियों ने मध्य एशिया के विविध प्रदेशों से प्राप्त किया था।

कल्पना मण्डितिका—जर्मन विद्वानों की जिस मण्डली ने तुर्फान के प्रदेश से

अश्वघोष के नाटकों के कतिपय अंश प्राप्त किए थे, उसी द्वारा कल्पनामण्डितिका नाम के एक अन्य ग्रन्थ की भी हस्तलिखित प्रति उपलब्ध की गई थी। इस का लेखक कुमारलात नामक विद्वान् था, जिसका उल्लेख ह्यु एन-त्सांग के यात्रा विवरण में भी विद्यमान है। प्रसिद्ध बौद्ध विद्वानों का उल्लेख करते हुए ह्यूएन-त्सांग ने लिखा है, कि विश्व को आलोकित करने वाले चार महान् आचार्य हुए, पूर्व में अश्वघोष, पश्चिम में नागार्जुन, दक्षिण में देव और उत्तर में कुमारलात। कुमारलात तक्षशिला के निवासी थे, और उन द्वारा बौद्ध धर्म के सौत्रान्तिक सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया गया था। उनका प्रधान कार्यक्षेत्र मध्य एशिया में था, और चीन की बौद्ध अनुश्रुति में उनकी गणना बौद्ध धर्म के महान् गुरुओं में की गई है। उनके काल के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है, पर यह सब स्वीकार करते हैं, कि वे कनिष्क तथा अश्वघोष के यदि समकालीन नहीं थे, तो उनका समय इन के काल के समीप ही था। प्रायः विद्वानों ने दूसरी सदी में इनके समय को स्वीकार किया है। कुमारलात द्वारा विरचित कल्पनामण्डितिका की जो प्रति मध्य एशिया से उपलब्ध हुई है, वह ताड-पत्रों पर लिखी हुई है। उसकी भाषा संस्कृत और लिपि ब्राह्मी है।

ब्राह्मी लिपि में लिखित अन्य ग्रन्थ—मध्य एशिया के विविध प्रदेशों से ब्राह्मी लिपि में लिखे हुए जो अन्य संस्कृत ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं, उनमें भिक्षुणी-प्रतिमोक्ष सूत्र, भिक्षुणी-विभंग और भिक्षुप्रतिमोक्ष विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनकी हस्तलिखित प्रतियों के अनेक अंश जर्मन, फ्रेन्च और इंगलिश विद्वानों की मण्डलियों को प्राप्त हुए थे। इनकी भाषा यद्यपि संस्कृत है, पर उसे व्याकरण की दृष्टि से पूर्णतया शुद्ध नहीं कहा जा सकता। पाणिनि के व्याकरण में संस्कृत भाषा के लिए जिन नियमों का प्रयोग किया जाता है, इनमें उनका स्थान-स्थान पर अतिक्रमण हुआ है। इनकी लिपि ब्राह्मी है, पर उसकी शैली ऐसी है, जो तकला मकान के उत्तरी प्रदेश में प्राचीन काल में प्रचलित थी।

ब्राह्मी लिपि की विविध शैलियाँ—मध्य एशिया में उपलब्ध जिन संस्कृत ग्रन्थों की लिपि ब्राह्मी है, उन पर इस प्रकरण में प्रकाश डाला गया है। जो ब्राह्मी लिपि भारत में कुशाण तथा गुप्त कालों में प्रचलित थी, बावरमैन्युस्क्रिप्ट तथा अश्वघोष के नाटक आदि उसी में लिखे गए थे। पर मध्य एशिया में इस लिपि के दो मुख्य भेद व शैलियाँ भी पृथक् रूप से विकसित हो गई थीं, और उन्हें भी संस्कृत के ग्रन्थों को लिखने के लिए प्रयुक्त किया जाता था। तकाला मकान मरुस्थल के उत्तरी प्रदेशों में प्राचीन काल में एक भाषा का विकास हुआ था, जिसे जर्मन विद्वानों ने तुखारी और फ्रेन्च विद्वानों ने कुचियन नाम दिया है। इस भाषा की भी अनेक शाखाएँ थीं, जो तुर्फान आदि विविध प्रदेशों में बोली जाती थीं। इसी प्रकार तकाला मकान मरुस्थल के दक्षिणी प्रदेशों में एक अन्य भाषा प्रचलित थी, जिसे विविध विद्वानों ने शक, पूर्वी ईरानी और खोतनी आदि नामों से लिखा है। ये पुरानी भाषाएँ अब लुप्त हो चुकी हैं, यद्यपि अनेक विद्वान् इनका परिचय प्राप्त करने में तत्पर हैं। इन कुचियन और खोतनी भाषाओं की अपनी-अपनी पृथक् लिपियाँ भी विद्यमान थीं, जो गुप्त युग की ब्राह्मी

लिपि से ही विकसित हुई थीं। यह स्वाभाविक था कि इन प्रदेशों के निवासी संस्कृत ग्रन्थों को लिखते हुए इन लिपियों का प्रयोग करें। यही कारण है, कि अनेक प्राचीन संस्कृत ग्रन्थ इन लिपियों में लिखे हुए भी मिले हैं।

(३) खरोष्ठी लिपि के लेख

मध्य एशिया से ब्राह्मी और खरोष्ठी लिपियों में लिखे हुए केवल बौद्ध ग्रन्थ ही नहीं मिले हैं, अपितु अन्य भी अनेक प्रकार के ऐसे लेख प्राप्त हुए हैं, जिनका किसी धर्म के साथ सम्बन्ध नहीं है। इन्हें प्रायः दक्षिण-पूर्वी तुर्किस्तान से प्राप्त किया गया है। इन विविध लेखों को पाँच भागों में विभक्त किया जा सकता है—(१) लकड़ी की तख्तियों पर लिखे हुए लेख, (२) चमड़े पर लिखे हुए लेख, (३) कागज पर लिखे हुए लेख, (४) रेशमी वस्त्र पर लिखे हुए लेख, और (५) धर्मस्थानों की भित्तियों पर उत्कीर्ण लेख। ये लेख खरोष्ठी लिपि के हैं, और इनकी भाषा प्राकृत है।

लकड़ी की तख्तियों और चमड़े पर लिखे हुए लेख सब से पूर्व सर स्टाइन ने नीया के भग्नावशेषों से प्राप्त किए थे। नीया के समीप प्राचीन काल के अनेक खण्डहर विद्यमान हैं, जिनके विषय में वहाँ के निवासियों का यह विचार था कि उनसे कोई गड़े हुए खजाने प्राप्त किए जा सकते है। इनकी छानबीन करते हुए एक मुसलमान देहाती को लकड़ी की कुछ तख्तियाँ मिल गईं, जिन्हें बेकार समझकर उसने बच्चों को खेलने के लिए दे दिया। इनमें से दो तख्तियाँ सर स्टाइन के हाथ लग गईं। उन्हें देखते ही सर स्टाइन ने यह जान लिया, कि इन पर कुशाण युग की खरोष्ठी लिपि के लेख विद्यमान हैं, और ऐतिहासिक दृष्टि से इनका बहुत महत्त्व है। अब सर स्टाइन ने ऐसी तख्तियों की बाकायदा खोज प्रारम्भ कर दी, और वे बहुत-सी तख्तियों को एकत्र करने में सफल हो गए। ये तख्तियाँ लम्बाई में प्रायः ७ से १५ इन्च तक की हैं, और इनका उपयोग सरकारी आदेशों को जारी करने या लेखबद्ध करने के लिए किया गया था। स्थानीय राजकर्मचारियों को जो आदेश व निर्देश 'महानुवव महाराय' (महानुभाव महाराज) की ओर से दिए जाते थे, उन्हें लकड़ी की तख्तियों पर लिख कर भेजा जाता था। इन आदेशों व निर्देशों के लिए दो-दो तख्तियों का प्रयोग किया जाता था, जिसके एक सिरे को रस्सी से बाँधकर उस पर मिट्टी की मुहर लगा दी जाती थी। नीचे की तख्ती पर राजकीय आदेश लिखा हुआ रहता था, और यदि उस पर सारा आदेश न आ सके, तो उसके शेष भाग को ऊपर की तख्ती के उल्टी ओर लिख दिया जाता था। ऊपर की तख्ती पर उस सरकारी कर्मचारी का नाम भी लिखा रहता था, जिसे सरकारी आदेश दिया गया हो। नीचे की तख्ती के उल्टी ओर राजकीय आदेश व निर्देश के स्वरूप को भी उल्लिखित कर दिया जाता था। ऐसी कुछ तख्तियों पर तिथि भी अंकित है। कतिपय तख्तियाँ ऐसी भी प्राप्त हुई हैं। जिनकी लम्बाई ३० इन्च के लगभग है। एक तख्ती की लम्बाई तो ७ फुट ६ इन्च है। इन बड़ी तख्तियों का उपयोग राजकीय आज्ञाओं को जारी करने, इकरार की शर्तों को लेखबद्ध करने और इसी प्रकार के विविध कानूनी प्रयोजनों के लिए किया गया

था। ये तख्तियाँ भी प्रायः दो-दो के जोड़ों में मिली हैं, जिन्हें रस्सी से बाँधकर मिट्टी की मुहर से मुद्रित कर दिया गया है। इनकी लिपि खरोष्ठी और भाषा प्राकृत है। और इनके लिए इन तख्तियों में कीलमुद्रा संज्ञा का प्रयोग किया गया है। लकड़ी की तख्तियों (कीलमुद्राओं) पर जो सरकारी आदेश उल्लिखित हैं, उन्हें किस राजा के शासन काल में जारी किया गया था, यह इनके द्वारा ज्ञात नहीं होता। इन्हें कतिपय उच्च सरकारी अफसरों (जिन्हें महानुभाव महाराजा कहा जाता था) द्वारा अपने अधीनस्थ कर्मचारियों के नाम जारी किया गया था। अतः यदि इनमें देश के राजा का नाम उल्लिखित नहीं किया गया, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है।

लकड़ी की तख्तियों के समान चमड़े को भी इस युग में राजकीय आदेशों को जारी करने के लिए प्रयुक्त किया जाता था। चमड़े पर लिखे हुए भी बहुत-से लेख नीया तथा उसके समीपवर्ती स्थानों के भग्नावशेषों में मिले हैं। संख्या में वे कीलमुद्राओं की तुलना में बहुत कम हैं। इन्हें भी कतिपय महानुभाव महाराजाओं द्वारा अपने अधीनस्थ कर्मचारियों के नाम आदेश के रूप में लिखाया गया था, और इन सब को प्रायः इस ढंग से प्रारम्भ किया गया है—राज्य के प्रति कर्तव्य को दृष्टि में रख कर जो आज्ञा मैं जारी कर रहा हूँ, उसे आप भली-भाँति जान लें। अपने जीवन को खतरे में डालकर भी आप इसका पालन करें, ताकि खोतन में सुख समृद्धि कायम रहे।

मध्य एशिया के क्षेत्र से कागज पर लिखे हुए जो भी पुराने लेख मिले हैं, वे सब लोबनौर झील के उत्तर में स्थित लौलान के भग्नावशेषों से ही प्राप्त हुए हैं। खोतन, नीया, कुची, तुर्फान आदि से कागज पर लिखे कोई प्राचीन लेख अभी तक नहीं मिल सके हैं। ये लेख प्रधानतया चीनी भाषा में हैं, यद्यपि इनमें से कुछ खरोष्ठी लिपि तथा प्राकृत भाषा में भी हैं। इनके विषय भी प्रायः वैसे ही है, वैसे कि लकड़ी की तख्तियों तथा चमड़े पर लिखे लेखों के हैं। कागज का आविष्कार दूसरी सदी के प्रारम्भ तक हो चुका था। इस दशा में खोतन तथा नीया आदि से कागज पर लिखे लेखों का न मिलना सम्भवतः यह संकेत करता है, कि इस क्षेत्र में सभ्यताओं का ह्रास ईस्वी सन् की कुछ सदियों के पश्चात् प्रारम्भ हो गया था।

रेशम पर लिखे जो लेख मध्य एशिया के विविध प्रदेशों से प्राप्त हुए हैं, उन में से कुछ ऐसे भी हैं जिनका सम्बन्ध बौद्ध धर्म के साथ है। इनमें से कतिपय लेखों में किसी व्यक्ति तथा उसके परिवार के आरोग्य के लिए प्रार्थना की गई है। कुशाण युग के अनेक शिलालेखों में आरोग्य की प्रार्थना करते हुए "आरोग्य दक्षिणायै भवतु" शब्द प्रयुक्त हुए हैं। उन्हीं से मिलते-जुलते "अरुगदचिने भवदु"—प्राकृत भाषा के इन शब्दों द्वारा की गई प्रार्थना मध्य एशिया में उपलब्ध रेशम पर लिखे गए लेखों में विद्यमान हैं। ये लेख रेशम के ऐसे टुकड़ों पर हैं, जो सम्भवतः किन्हीं पताकाओं के अंश हैं। रेशम पर लिखे कुछ लेखों का सम्बन्ध राजकीय आदेशों तथा कानूनी मामलों से भी है। इन लेखों की भाषा प्राकृत तथा लिपि खरोष्ठी है।

खोतन के उत्तर में स्थित एक चैत्य की भग्न भित्ति के रंगीन प्लास्टर के

कुछ टुकड़े सर स्टाइन ने प्राप्त किये थे, जिन पर खरोष्ठी लिपि के तीन अक्षर अंकित हैं। विहार, मन्दिर, चैत्य आदि की भित्तियों पर भी खरोष्ठी लिपि के लेखों की सत्ता का इस से संकेत मिलता है।

इस प्रसंग में यह ध्यान में रखना चाहिये, कि मध्य एशिया के क्षेत्र से जो विविध ग्रन्थ व लेख आदि उपलब्ध हुए हैं, वे केवल संस्कृत और प्राकृत भाषाओं में ही नहीं हैं, चीनी, तिब्वती, कुचिअन, खोतनी आदि भाषाओं के भी बहुत-से हस्तलिखित ग्रन्थ और लेख इस क्षेत्र से मिले हैं। मध्य एशिया के निवासी प्राचीन समय में बौद्ध धर्म के अनुयायी थे, अतः वहाँ से संस्कृत और प्राकृत भाषाओं के बौद्ध-ग्रन्थों का प्राप्त होना तो स्वाभाविक ही था। पर राजकीय तथा कानूनी कार्यों और जनता के सामान्य व्यवहार के साथ सम्बन्ध रखने वाले लेखों का भी भारतीय भाषा तथा लिपि में प्राप्त होना इस बात का प्रमाण है, कि प्राचीन समय में मध्य एशिया के विविध प्रदेशों पर भारतीय सभ्यता और संस्कृति का अतुल प्रभाव था।

इस क्षेत्र में केवल बौद्ध धर्म का ही प्रचार नहीं था, वहाँ के कुछ निवासी सनातन हिन्दू धर्म के भी अनुयायी थे, यह बात उन मुहरों से सूचित होती है जिन पर कुबेर और त्रिमुख की प्रतिमाएँ अंकित हैं। ऐसी मुहरें नीया के भग्नावशेषों से उपलब्ध हुई हैं। आन्देरे नामक स्थान पर चित्रित हुई गणेश की एक प्रतिमा भी मिली है।

मध्य एशिया के भग्नावशेषों से उदानवर्ग सदृश संस्कृत ग्रन्थों की जो प्राप्ति हुई है, उसका एक अन्य दृष्टि से भी महत्त्व है। बौद्ध धर्म का जो त्रिपिटक श्रीलंका, बरमा आदि देशों में प्रयुक्त होता है, वह पालि भाषा में है। पर त्रिपिटक का एक संस्करण संस्कृत भाषा में भी विद्यमान था, यह बात अब तक केवल उन चीनी तथा तिब्वती ग्रन्थों द्वारा ही ज्ञात होती थी, जिनको मूल संस्कृत त्रिपिटक से अनूदित किया गया था। पर मध्य एशिया के विविध स्थानों से उदानवर्ग सदृश जो संस्कृत ग्रन्थ या उनके अंश उपलब्ध हुए, उनसे इस बात में कोई सन्देह नहीं रह गया, कि भारत के उत्तर-पश्चिमी प्रदेशों में बौद्ध धर्म के जो ग्रन्थ प्रयुक्त होते थे, वे संस्कृत भाषा में थे। बौद्ध विद्वान् संस्कृत के त्रिपिटक के अन्तर्गत इन ग्रन्थों को अपने साथ मध्य एशिया के विविध प्रदेशों में ले गए और वहाँ उनका पठन-पाठन चिरकाल तक जारी रहा। चीन तथा तिब्बत में जब बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ, तो इन ग्रन्थों का अनुवाद उन देशों की भाषाओं में किया गया, और अनुवादों के रूप में ये सब ग्रन्थ वहाँ विद्यमान हैं।

(४) चीनी विवरणों के अनुसार मध्य एशिया में बौद्ध धर्म तथा भारतीय संस्कृति की सत्ता

चीन में बौद्ध धर्म के प्रचार का सूत्रपात हो जाने पर उस देश के अनेक विद्वान् और श्रमण इस उद्देश्य से भारत आते रहे, ताकि यहाँ वे बौद्ध धर्म के मूल ग्रन्थों का अध्ययन कर सकें, और साथ ही अपने धार्मिक तीर्थों की यात्रा का पुण्यलाभ भी प्राप्त कर सकें। ये यात्री प्रायः मध्य एशिया तथा अफगानिस्तान के स्थल मार्ग से ही भारत आया करते थे। अपनी दीर्घ यात्रा में ये बहुधा बौद्ध संघारामों व चैत्यों में ठहरा करते

थे, जिससे इन्हें उनके सम्पर्क में आने का सुवर्णीय अवसर प्राप्त हो जाता था। इन चीनी यात्रियों के जो यात्राविवरण इस समय उपलब्ध हैं, उनसे पाँचवी से आठवीं सदी तक मध्य एशिया में बौद्ध धर्म तथा भारतीय संस्कृति की सत्ता के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ प्राप्त होती हैं।

फाइयान—इस चीनी यात्री ने पाँचवीं सदी के प्रारम्भ में मध्य एशिया के मार्ग से भारत की यात्रा की थी। फाइयान चांग-गान का निवासी था। वहाँ से वह तुङ्-ह्वांग् गया, जिसके शासक ने लोपनौर झील के पूर्व में विद्यमान मरुभूमि को पार करने के सम्बन्ध में सब समुचित व्यवस्था कर दी। लोप की मरुभूमि को पार कर फाइयान लौ-लान पहुँच गया, जो लोपनौर झील के उत्तरी प्रदेश में है। अब वह मध्य एशिया के क्षेत्र में आ गया था। लौ-लान में हीनयान सम्प्रदाय का प्रचार था, और वहाँ ४,००० श्रमण और भिक्षु निवास करते थे। यहाँ से वह तारीम नदी के साथ के प्रदेश से होता हुआ १५ दिन की यात्रा के पश्चात् वू-ई पहुँचा, जहाँ के निवासी भी बौद्ध धर्म के अनुयायी थे। यहाँ भी हीनयान सम्प्रदाय का प्रचार था, और ४,००० श्रमण व भिक्षु यहाँ निवास करते थे। ये भारतीय ग्रन्थों का अध्ययन करते थे, और भारतीय भाषा का ही प्रयोग करते थे। फाइयान ने वू-ई से दक्षिण-पश्चिम की दिशा में प्रस्थान किया, और ३५ दिन की यात्रा के पश्चात् वह खोतन पहुँच गया। खोतन के विषय में फाइयान ने लिखा है, कि "यह देश अत्यन्त समृद्ध है। यहाँ के लोग बहुत धनी हैं, और सब बौद्ध धर्म के अनुयायी हैं। श्रमण और भिक्षु बहुत बड़ी संख्या में हैं, और सब महायान सम्प्रदाय को मानने वाले हैं। सबके भोजन की व्यवस्था जनता द्वारा की जाती है। विदेशों से आने वाले श्रमणों तथा भिक्षुओं के आतिथ्य का समुचित प्रबन्ध है। उनकी सब आवश्यकताएँ यहाँ भलीभाँति पूरी की जाती हैं। फाइयान के निवास की व्यवस्था गोमती विहार में की गई थी। यह महायान सम्प्रदाय का संघाराम था, जिसमें तीन हजार श्रमण तथा भिक्षु निवास करते थे। घण्टा बजने पर ये सब भोजनशाला में एकत्र हो जाते, और बड़े संयत रूप से भोजन किया करते। भोजनालय में पूर्ण शान्ति विराजती, भोजनपात्रों तक से कोई आवाज न होती। यदि किसी को भोजन परोसने वालों से कुछ माँगना होता, तो वह इशारा कर देता, मुख से कोई कुछ न बोलता। खोतन में चौदह बड़े संघाराम थे। छोटे-छोटे संघाराम तो और बहुत-से थे। गोमती विहार के श्रमण और भिक्षु एक रथयात्रा निकाला करते थे। रथ ३० फीट ऊँचा होता था, और एक चलते-फिरते प्रासाद के सदृश दिखाई देता था। तोरणों आदि से इसे भलीभाँति सजाया जाता था। रथ के ठीक बीच में भगवान् बुद्ध की मूर्ति स्थापित की जाती थी। केन्द्र की बुद्ध की मूर्ति के पीछे और अगल-बगल में बोधिसत्वों और देवों की मूर्तियाँ रखी जाती थीं। ये सब मूर्तियाँ सोने और चाँदी की होती थीं। जब रथयात्रा का जुलूस नगर के मुख्य द्वार से सौ गज की दूरी पर होता था, तो राजा उसकी अभ्यर्थना करता था। इस अवसर पर वह राजकीय वेश उतार कर उपासकों के वस्त्र धारण करता था, और नंगे पैर चलकर अपने पार्श्वचरों के साथ रथ के स्वागत के लिए आगे बढ़ता था। मूर्ति के सम्मुख आने पर राजा फूलों और सुगन्धि से

उसकी अर्चना करता था। रथयात्रा के जुलूस में गोमती विहार के ३००० भिक्षु सबसे आगे रहते थे। इस अवसर पर सारे नगर की सफाई की जाती थी, और मकान सजाए जाते थे। खोतन में चौदह बड़े संघाराम थे, और प्रत्येक संघाराम से इसी प्रकार से रथ-यात्रा निकाली जाती थी। रथयात्राओं का यह उत्सव चौथे महीने के पहले दिन शुरू होता था, और चौदह दिन तक चलता था। उत्सव की समाप्ति पर राजा और रानी अपने राजप्रासाद को वापस लौट जाते थे। फाइयान ने खोतन के एक नए राजकीय विहार का भी वर्णन किया है, जिसे बनकर तैयार होने में अस्सी साल लगे थे। यह २६० फीट ऊँचा था, और सोने-चाँदी से इसे भलीभाँति विभूषित किया गया था। श्रमणों और भिक्षुओं के निवास के लिए इसमें सुन्दर भवन बनवाये गए थे, और दूर-दूर के राजा इसके सम्मान में बहुमूल्य भेंट और उपहार भेजा करते थे।

खोतन के रथयात्रा-उत्सव में सम्मिलित होने के अनन्तर फाइयान ने पश्चिम की ओर प्रस्थान किया, और २५ दिन की यात्रा के पश्चात् वह च्स्यू-हो (सम्भवतः, यारकन्द) पहुँच गया। इस देश में भी राजा और प्रजा—सब बौद्ध धर्म के अनुयायी थे और वहाँ एक हजार से भी अधिक श्रमणों तथा भिक्षुओं का निवास था, जो महायान सम्प्रदाय को मानने वाले थे। पन्द्रह दिन इस देश में विश्राम कर फाइयान ने दक्षिण की ओर प्रस्थान किया, और क्युन-लुन पर्वतमाला को पार कर वह पहले यू-ह्वुई और फिर की-शा पहुँच गया। "की-शा का राजा पंचवार्षिक परिषद् का आयोजन करता है, जिसमें चारों दिशाओं के श्रमण तथा भिक्षु आमन्त्रित किए जाते हैं। इन्हें भरपूर दान-दक्षिणा दी जाती है। की-शा में एक स्तूप है, जो बुद्ध के एक दाँत के सम्मान में निर्मित है। यहाँ हीनयान सम्प्रदाय के अनुयायी एक हजार से भी अधिक भिक्षु निवास करते हैं।" की-शा के बाद क्युन-लुन पर्वतमाला के दक्षिण के जिन प्रदेशों में फाइयान ने प्रवेश किया, उन्हें उसने भारत के उत्तरापथ के अन्तर्गत रूप से लिखा है। इन प्रदेशों में भी बौद्ध धर्म का प्रचार था, और बहुत-से संघाराम तथा चैत्य वहाँ विद्यमान थे। यहाँ से अग्रसर होता हुआ फाइयान उद्यान (सुवास्तु या स्वात नदी से सिंचित प्रदेश) देश पहुँच गया। उसके सम्बन्ध में इस चीनी यात्री ने लिखा है, कि इस देश में वही भाषा बोली जाती है, जो भारत के मध्यदेश की है और यहाँ के लोगों का रहन-सहन, भोजन, वस्त्र आदि भी मध्यदेश के निवासियों के ही सदृश है। यहाँ बौद्ध धर्म का प्रचार है, और हीनयान सम्प्रदाय के ५०० संघाराम यहाँ विद्यमान हैं।

फाइयान के इस यात्राविवरण से यही भलीभाँति सूचित हो जाता है, कि पाँचवीं सदी में मध्य एशिया की धार्मिक तथा सांस्कृतिक दशा पर भारत का कितना अधिक प्रभाव था।

सुंगयुन—चीन की महारानी ताई-हाउ ने सुंगयुन को बौद्ध धर्म के प्रामाणिक ग्रन्थों को प्राप्त करने के प्रयोजन से पश्चिम के उन देशों में भेजा था, जो छठी सदी में बौद्ध धर्म के महत्वपूर्ण केन्द्र थे। ५१७ ईस्वी में सुंगयुन ने ह्वेई सांग नामक चीनी भिक्षु के साथ भारत के लिए प्रस्थान किया, और भारत जाते हुए उसने मध्य

एशिया के भी अनेक राज्यों की यात्रा की। सुंगयुन की यात्रा का विवरण भी उपलब्ध है, और उससे मध्य एशिया की धार्मिक तथा सामाजिक दशा के सम्बन्ध में भी अनेक उपयोगी बातें जानी जा सकती हैं। सुंगयुन ने तुङ् ह्वांग् से अपनी यात्रा प्रारम्भ की, और लौ-लान होता हुआ वह चो-मोह् (यू लो) पहुँच गया। यहाँ उसने बुद्ध और बोधिसत्व की मूर्तियाँ देखीं, और उनके सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त की। चो-मोह् से वह हन मो गया, जहाँ एक संघाराम था जिसमें ३०० भिक्षु निवास करते थे। १८ फीट ऊँची बुद्ध की एक मूर्ति भी यहाँ स्थापित थी, जो सोने के पत्रों में मढ़ी हुई थी। हन-मो के बाद सुंगयुन खोतन गया। वह बौद्ध धर्म का महत्वपूर्ण केन्द्र था। वहाँ बौद्ध धर्म का प्रचार किस प्रकार हुआ, इस सम्बन्ध में सुंगयुन ने एक मनोरंजक कथा लिखी है। खोतन के लोग पहले बौद्ध धर्म से अपरिचित थे। वैरोचन नाम का एक भिक्षु किसी विदेशी व्यापारी के साथ खोतन गया और नगर के बाहर अलूचे के एक वृक्ष के नीचे उसने अपना आसन जमा लिया। गुप्तचर ने खोतन के राजा को यह सूचना दी, कि एक श्रमण बिना अनुमति के खोतन आया हुआ है, और नगर के दक्षिण में एक वृक्ष के नीचे डेरा जमाये बैठा है। राजा ने वैरोचन से भेंट की, और उस द्वारा प्रदर्शित चमत्कारों को देखकर वह बौद्ध धर्म का अनुयायी हो गया। खोतन के बाद सुंगयुन चौक्कुक (यारकन्द) गया। यहाँ पशुओं की हिंसा निषिद्ध थी। भाषा खोतन की भाषा के समान थी, पर लिपि ब्राह्मणों की (ब्राह्मी) थी।

ह्यु एन्-त्सांग—फाइयान और सुंगयुन के यात्राविवरण अत्यन्त संक्षिप्त हैं। पर ह्यु एन्-त्सांग का यात्राविवरण एक विश्वकोष के समान है, जिसके द्वारा उन सब प्रदेशों के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त की जा सकती है, जिनकी यात्रा इस चीनी विद्वान् द्वारा की गई थी। चीन से भारत आते हुए ह्यु एन्-त्सांग ने उस मार्ग का प्रयोग किया था, जो तकला मकान की मरुभूमि के उत्तर से होकर जाता है। वापसी यात्रा में इस चीनी यात्री ने मध्य एशिया के दक्षिणी मार्ग का उपयोग किया था। सातवीं सदी के पूर्वार्ध में इस क्षेत्र के विविध राज्यों में धर्म तथा संस्कृति का क्या स्वरूप था, इसका एक स्पष्ट चित्र ह्यु एन्-त्सांग के यात्रावृत्तान्त द्वारा हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाता है।

चीन की उत्तर-पश्चिमी सीमा से पश्चिम की ओर यात्रा करते हुए ह्यु एन्-त्सांग ने सबसे पहले काओशांग के उस प्रदेश में प्रवेश किया, जहाँ उइगुर तुर्कों का निवास था। इस प्रदेश की राजधानी तुर्फान थी। काओशांग से वह ओ-कि-नि (अग्नि) देश गया, जहाँ बौद्ध धर्म का भलीभाँति प्रचार था। वहाँ दस से भी अधिक संघाराम विद्यमान थे, जिनमें दो हजार के लगभग श्रमण व भिक्षु निवास करते थे। ये सब हीनयान के सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय के अनुयायी थे। यहाँ के निवासी जिस लिपि का प्रयोग करते थे, वह भारतीय लिपि से मिलती-जुलती थी। लोगों को बौद्ध धर्म में श्रद्धा थी, और वे उसके नियमों का अविकल रूप से पालन करते थे।

अग्नि देश के दक्षिण-पश्चिम में कुची (कुचा) का राज्य था। यह देश बहुत समृद्ध था, और नाशपाती, आड़ू, अलूचे, बादाम आदि यहाँ प्रचुर परिमाण में उत्पन्न

होते थे। इस देश में सौ के लगभग संघाराम विद्यमान थे, जिनमें पाँच हजार से भी अधिक श्रमणों व भिक्षुओं का निवास था। ये सब भी हीनयान के सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय के अनुयायी थे। यहाँ बौद्ध ग्रन्थों का उनके मूल भारतीय रूप में पठन-पाठन होता था, और लोग एक ऐसी लिपि का प्रयोग करते थे, जो भारतीय लिपि से मिलती-जुलती थी। कुची नगरी के उत्तर में आठ मील की दूरी पर दो संघाराम थे, जिनके बीच में एक नदी बहती थी। यहाँ बुद्ध की एक कलात्मक मूर्ति थी, जो मनुष्यों द्वारा बनायी हुई प्रतीत नहीं होती थी। कुची के पश्चिमी द्वार के बाहर ९० फीट ऊँची दो बुद्ध-मूर्तियाँ स्थापित थीं। इनके सामने एक सुविस्तृत मैदान था, जहाँ पंचवार्षिक परिषद् का आयोजन किया जाता था। देश भर के सब श्रमण और भिक्षु इस अवसर पर वहाँ एकत्र हुआ करते थे, और राजा तथा प्रजा सब उसमें सम्मिलित होते थे। मणि-माणिक्य तथा रेशमी वस्त्रों से विभूषित बुद्ध की मूर्तियों की रथयात्राएँ निकाली जाती थीं, और लोग उनकी श्रद्धापूर्वक अभ्यर्थना किया करते थे। पंचवार्षिक परिषद् के इस स्थान से उत्तर-पश्चिम की ओर एक नदी पड़ती थी, जिसे पार करने पर एक 'असाधारण' या 'आश्चर्य' विहार आता था, जिसका केन्द्रीय भवन अत्यन्त विशाल तथा खुला हुआ था। यहाँ बुद्ध की एक सुन्दर व कलात्मक मूर्ति स्थापित थी। यहाँ के श्रमण व भिक्षु अत्यन्त बुद्धिमान्, कर्तव्यपरायण तथा परिश्रमी थे। जिन लोगों को बुद्ध की शिक्षाओं का सही-सही ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा होती थी, वे दूर-दूर से यहाँ आया करते थे, और यहाँ के स्थविरों तथा आचार्यों से शिक्षा ग्रहण किया करते थे। राजा द्वारा इनकी सब आवश्यकताओं की पूर्ति की समुचित व्यवस्था की जाती थी।

कुची से १२० मील पश्चिम की ओर भरुक या अक्सू का राज्य था, जहाँ के निवासियों का रहन-सहन, प्रथाएँ व व्यवहार प्रायः वैसे ही थे, जैसे कि कुची के लोगों के थे। पर उनकी भाषा कुची से कुछ भिन्न थी। यहाँ दस संघाराम थे, जिनमें सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय के एक हजार के लगभग श्रमण तथा भिक्षु निवास करते थे।

भरुक या अक्सू राज्य के उत्तर-पश्चिम में लिंग-शान (हिम से आवृत) पर्वत-माला थी, जिसे लांघ कर ह्यु एन्-त्सांग ने इसिक-कुल झील के प्रदेश में प्रवेश किया था। यहाँ से एक सौ मील के लगभग पश्चिम की ओर चलने पर वह सु-शे नगर पहुँच गया, जो व्यापार का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था और जहाँ उस क्षेत्र के सब देशों के व्यापारी एकत्र हुआ करते थे। सु-शे के पश्चिम में उस समय अनेक राज्य थे, जो तुर्क खान (राजा) की अधीनता स्वीकार करते थे। अपनी यात्रा में ह्यु एन्-त्सांग ने तुर्क खान से भी भेंट की थी, और उसे बौद्ध धर्म का उपदेश भी दिया था। सातवीं सदी के प्रारम्भ काल तक तुर्क लोग ईरान के धर्म के प्रभाव में आ चुके थे, और उन्होंने पारसियों के समान अग्नि की पूजा प्रारम्भ कर दी थी। तुर्क एक विशाल जाति थी, जिसके दो प्रधान भाग थे—पूर्वी तुर्क और पश्चिमी तुर्क। इसिक-कुल झील के पश्चिमी तथा पश्चिम-दक्षिण के प्रदेश इस समय पश्चिमी तुर्कों के शासन में थे। बौद्ध धर्म के साथ भी उनका सम्पर्क प्रारम्भ हो गया था, और अनेक बौद्ध श्रमण व भिक्षु उनके प्रदेशों में अपने धर्म का प्रचार करने में तत्पर थे। तुर्क खान की अधीनता में विद्यमान विविध

प्रदेशों की यात्रा करता हुआ ह्यु एन्-त्सांग पश्चिम में चे-शिंग (ताशकन्द) पहुँच गया। वहाँ से वह दक्षिण-पूर्व की ओर मुड़ गया, और खोकन्द तथा सुतृष्ण होता हुआ समरकन्द जा पहुँचा। यहाँ से वह दक्षिण दिशा की ओर चला, और बोखारा आदि होता हुआ वल्ख (वाह्लीक) पहुँच गया। वल्ख के उत्तर के सब प्रदेश उस समय तुर्कों की अधीनता में थे, जिनमें बौद्ध धर्म का अभी विशेष प्रचार नहीं हुआ था। ताशकन्द, समरकन्द आदि इस समय रूस की समाजवादी सोवियत रिपब्लिक के अन्तर्गत हैं, और रूसी तुर्किस्तान कहाते हैं। ह्यु एन्-त्सांग ने इन प्रदेशों के निवासियों के रीतिरिवाज, रहन-सहन आदि का विवरण लिखा है, उसमें बौद्ध संघारामों तथा वहाँ भिक्षुओं के निवास का उल्लेख नहीं किया है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है, कि ये प्रदेश अभी बौद्ध धर्म के प्रभाव से वंचित थे।

पर वल्ख में बौद्ध धर्म का भलीभाँति प्रचार था। वाह्लीक नगर के दक्षिण-पश्चिम में एक विशाल विहार विद्यमान था, जिसे 'नव-संघाराम' या 'नव-विहार' कहते थे। हिन्दूकुश पर्वत के उत्तरी प्रदेशों में यह बौद्ध धर्म का सबसे बड़ा केन्द्र था। यहाँ कितने ही ऐसे स्थविर तथा अर्हत निवास कर चुके थे, जो बौद्ध धर्म के अगाध विद्वान् थे और जिन्होंने अनेक शास्त्रों की रचना की थी। यहाँ बुद्ध की एक विशाल मूर्ति थी, जो मणिरत्नों से विभूषित थी। जिस भवन में यह मूर्ति स्थापित थी, वह भी अमूल्य मणिमाणिक्यों द्वारा अलंकृत था। वैश्रवण देव की भी एक मूर्ति इस संघाराम में विद्यमान थी, जिसके कारण कोई दस्यु इस संघाराम की सम्पत्ति को लूट नहीं सकता था। शेहू खान नामक तुर्क राजा ने इस प्रयोजन से वाह्लीक नगरी पर आक्रमण किया था, ताकि नव-संघाराम के रत्नों तथा मणिमाणिक्य आदि को लूट लिया जाए। पर रात के समय स्वप्न में शेहू खान को वैश्रवण देव दिखायी दिया, जो भाला तान कर उससे कह रहा था—'तुम में कौन-सी ऐसी शक्ति है, जिससे तुम इस संघाराम पर आक्रमण करने का साहस कर रहे हो।' शेहू खान इससे डर गया, और नवसंघाराम को कोई क्षति नहीं पहुँचा सका। इस संघाराम में बुद्ध का एक दाँत, डण्डा तथा कुछ अन्य वस्तुएँ भी रखी हुई थीं, जिनका दर्शन कर भक्त लोग पुण्यलाभ किया करते थे। संघाराम के उत्तर में एक स्तूप था, जिसकी ऊँचाई २०० फीट थी। इस स्तूप से दक्षिण पश्चिम में एक अन्य विहार था, जिसमें बहुत-से स्थविर तथा अर्हत निवास करते थे। इनकी संख्या सैकड़ों में थी।

वाह्लीक नगरी से दस मील उत्तर-पश्चिम में ती-वेई नगरी थी, और उसके आठ मील उत्तर में पो-ली नगरी। इन दोनों नगरियों में तीस-तीस फीट ऊँचे दो स्तूप विद्यमान थे। ह्यु एन्-त्सांग के अनुसार ये स्तूप अत्यन्त प्राचीन थे, और इन्हें ऐसे व्यापारियों द्वारा बनवाया गया था, जिन्होंने कि स्वयं भगवान् बुद्ध के उपदेशों का श्रवण किया था।

कतिपय अन्य स्थानों की यात्रा करता हुआ ह्यु एन्-त्सांग बामियान के प्रदेश में पहुँच गया, जो अफगानिस्तान के क्षेत्र में है, और वहाँ से कपिशा, गान्धार आदि होते हुए उसने भारत में प्रवेश कर लिया। भारत की यात्रा को समाप्त कर यह

चीनी यात्री स्थल मार्ग से ही अपने देश को वापस गया। पर इस बार उसने मध्य एशिया के उस दक्षिणी मार्ग का प्रयोग किया, जो तकला मकान के दक्षिण से होकर चीन जाता था। इस मार्ग में वह जिन राज्यों व प्रदेशों से होकर गया, उनमें बौद्ध धर्म तथा भारतीय संस्कृति का भलीभाँति प्रचार था। अतः ह्यु एन्-त्सांग ने इनके विषय में जो विवरण लिखा है, उसका भी यहाँ संक्षेप के साथ उल्लेख करना उपयोगी होगा।

काशगर में फल और फूल प्रचुरता से होते थे। उनकी लिपि भारत की लिपि के नमूने पर बनायी गई थी। इस देश के निवासी बौद्ध धर्म के अनुयायी थे, और उसका निष्ठापूर्वक पालन करते थे। यहाँ सैकड़ों की संख्या में संघाराम विद्यमान थे, जिनमें दस हजार के लगभग श्रमणों तथा भिक्षुओं का निवास था। ये सब हीनयान के सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय के अनुयायी थे, और सदा अपने धर्मग्रन्थों के अध्ययन में तत्पर रहते थे। बहुत-से लोग ऐसे भी थे, जो त्रिपिटक तथा विभाषा ग्रन्थों का पाठ तो करते थे, पर उनके अभिप्राय की गहराई में नहीं जाते थे।

काशगर से १०० मील दक्षिण-पूर्व की ओर चोक्कुक (यारकन्द) की स्थिति थी, जहाँ पहुँचने के लिए सीता (तारीम) नदी को पार करना होता था। इस देश की भाषा तो खोतनी से भिन्न थी, पर यहाँ की लिपि वही थी जो खोतन की थी। यहाँ के निवासी सुशिक्षित तो नहीं थे, पर बौद्ध धर्म में उनकी आस्था थी। यहाँ दसों संघाराम ऐसे थे, जो अब प्रायः उजड़े हुए थे। इनमें जो सैकड़ों श्रमण व भिक्षु निवास करते थे, वे महायान सम्प्रदाय के अनुयायी थे। चोक्कुक के दक्षिण में एक ऊँची पर्वतमाला थी, जो दुर्गम जंगलों से परिपूर्ण थी। इनकी गुफाओं में भारत से आये हुए बहुत-से अर्हतों ने निवास किया था। क्योंकि अनेक अर्हतों ने यहाँ रहकर निर्वाण पद की प्राप्ति की थी, अतः उनकी स्मृति में यहाँ अनेक स्तूप विद्यमान थे। तीन भारतीय अर्हत ह्यु एन्-त्सांग की यात्रा के समय में भी वहाँ समाधि लेकर निवास कर रहे थे। महायान सम्प्रदाय के ग्रन्थ यहाँ जितनी अधिक संख्या में उपलब्ध थे, उतने अन्यत्र कहीं नहीं पाये जाते थे। यहाँ दस ऐसे ग्रन्थ थे, जिनमें से प्रत्येक में एक-एक लाख पद थे। छोटे-छोटे ग्रन्थ तो यहाँ बहुत बड़ी संख्या में विद्यमान थे।

यारकन्द से १८० मील के लगभग पूर्व में खोतन का राज्य था। ह्यु एन्-त्सांग के अनुसार खोतन के निवासी अत्यन्त समृद्ध, सभ्य तथा सुसंस्कृत थे। यहाँ की लिपि भारत की लिपि को दृष्टि में रख कर बनायी गई थी, यद्यपि उसके अक्षर कुछ भिन्न प्रकार के थे। खोतनी भाषा की वाक्य रचना भी भारत के ढंग की ही थी। खोतन के निवासी बौद्ध धर्म के अनुयायी थे, और वहाँ सौ से अधिक संघाराम विद्यमान थे, जिनमें ५००० से भी अधिक श्रमण व भिक्षुओं का निवास था। ये सब महायान सम्प्रदाय के अनुयायी थे। खोतन का राजा बौद्ध धर्म के प्रति आस्था रखता था, और अत्यन्त वीर था। वह अपने को वैश्रवण देव का वंशज मानता था। यहाँ वैश्रवण का एक प्राचीन मन्दिर भी विद्यमान था, जो विविध मणि-रत्नों द्वारा विभूषित था। राजा व प्रजा समान रूप से वहाँ पूजा के लिए आया करते थे।

खोतन नगरी के दक्षिण में दो मील की दूरी पर एक विशाल संघाराम था, जिसे खोतन के एक पुराने राजा ने वैरोचन के सम्मान में बनवाया था। ह्यु एन्-त्सांग ने इसके निर्माण की कथा इस प्रकार लिखी है—पुराने समय में जब खोतन में तथागत बुद्ध के धर्म का भलीभाँति प्रचार नहीं हुआ था, वैरोचन नाम का एक अर्हत काश्मीर से वहाँ गया था। वह खोतन के समीप जंगल में समाधि लगाकर बैठ गया। जिन लोगों ने उसे देखा, वे उसकी पोशाक तथा मुख-मण्डल को देखकर आश्चर्यचकित रह गये। उन्होंने राजा को उसके विषय में सूचना दी, और वह उसे देखने के लिए जंगल में गया। राजा ने उससे प्रश्न किया—तुम कौन हो और क्यों इस सघन जंगल में अकेले रह रहे हो ? अर्हत ने इसका यह उत्तर दिया—मैं तथागत का शिष्य हूँ, और यहाँ ध्यान-समाधि का अभ्यास कर रहा हूँ। तथागत बुद्ध प्राणिमात्र के प्रति प्रेम और करुणा की भावना रखते थे, और संसार को सन्मार्ग प्रदर्शित करने के लिए ही प्रगट हुए थे। जो उनके पथ का अनुसरण करते हैं, वे जन्म और मृत्यु के चक्र से मुक्त हो जाते हैं। जो उनकी शिक्षाओं को नहीं जानते, वे ही संसार के जाल में फँसे रहते हैं। आप भी तथागत बुद्ध के मार्ग का अनुसरण करें और उनके सम्मान में एक संघाराम का निर्माण कराएँ, जिसमें श्रमण निवास कर सकें। वैरोचन से प्रभावित होकर खोतन का राजा बौद्ध धर्म का अनुयायी हो गया, और उसने एक संघाराम का निर्माण कराया।

खोतन नगरी से चार मील दूर दक्षिण-पश्चिम में गोशृंग पर्वत था, जिसकी उपत्यका में एक संघाराम विद्यमान था, जिसे गोशृंग विहार कहते थे। इसमें बुद्ध की एक ऐसी मूर्ति थी, जिससे निरन्तर प्रकाश की किरणें निकलती रहती थीं। खोतन से दो मील दक्षिण-पश्चिम में एक अन्य संघाराम था, जिसे 'दीर्घभवन संघाराम' कहते थे। इसमें बुद्ध की जो मूर्ति थी, उसे कुची से लाया गया था। खोतन राज्य में अन्य भी बहुत से संघाराम थे, जिनके सम्बन्ध में अनेक कथाएँ ह्यु एन्-त्सांग ने अपने यात्रा-विवरण में दी हैं। इसमें सन्देह नहीं, कि सातवीं सदी के पूर्वार्ध में यह देश बौद्ध धर्म का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण केन्द्र था।

ह्यु एन्-त्सांग के समय में खोतन से पूर्व की ओर के प्रदेश प्रायः उजड़ चुके थे, और जहाँ कभी समृद्ध नगरियाँ विद्यमान थीं वहाँ की भूमि अब मरुस्थल के रूप में परिणत हो गई थी। खोतन के पूर्व में ७५ मील के लगभग चलने के पश्चात् ह्यु एन्-त्सांग पी-मो नामक नगर में गया, जहाँ बुद्ध की २० फीट ऊँची एक मूर्ति थी जो चन्दन की बनी हुई थी। इससे प्रकाश की किरणें निकलती रहती थीं, और लोगों का विश्वास था कि इसमें चामत्कारिक शक्ति है। रोगी इसकी अर्चना कर आरोग्य प्राप्त करते थे, और सच्चे हृदय से जो इच्छा इसके सम्मुख प्रगट की जाए वह पूर्ण हो जाती थी। इसके विषय में यह किम्वदन्ती प्रचलित थी, कि इसे कौशाम्बी के राजा उदयन ने बनवाया था। पी-मो के पश्चात् मरुभूमि से होता हुआ ह्यु एन्-त्सांग तुखार देश पहुँच गया। यह देश इस समय उजाड़ दशा में था, और इसके नगरों में कोई भी आबादी नहीं थी। तुखार से १२० मील पूर्व की ओर चे-मो-तो-ना का प्रदेश था। यहाँ के नगर की ऊँची-ऊँची दीवारें अब भी खड़ी थीं, पर अब वहाँ बहुत कम लोगों का निवास था। यहाँ से

२०० मील उत्तर-पूर्व में लौ-लान की स्थिति थी। लौ-लान के साथ ह्यु,एन्-त्साँग का यात्रा-विवरण समाप्त हो जाता है। ऐसा प्रतीत होता है, कि तकला मकान मरुस्थल के दक्षिण तथा खोतन के पूर्व में जो अनेक प्रदेश पहले अच्छी समृद्ध दशा में थे, और जहाँ भारतीयों ने अपने अनेक उपनिवेश भी स्थापित किए थे, सातवीं सदी से पूर्व किसी समय वे उजड़ गये थे। ह्यु,एन्-त्सांग ने इनके उजड़ने के सम्बन्ध में कतिपय कथाओं का भी उल्लेख किया है, पर ऐतिहासिक दृष्टि से उनका कोई महत्त्व नहीं है।

चीनी यात्रियों के यात्रा-विवरणों से मध्य एशिया के क्षेत्र में बौद्ध धर्म और भारतीय संस्कृति के सम्बन्ध में जो सूचनाएँ उपलब्ध होती हैं, उनकी पुष्टि उन खोजों द्वारा भलीभाँति हो गई है, जो आधुनिक विद्वानों के इस क्षेत्र के अवगाहन का परिणाम हैं। गत एक सदी में फ्रांस, रूस, जर्मनी, ब्रिटेन और जापान के विद्वानों ने इस क्षेत्र के पुराने भग्नावशेषों की खोज के लिए जो महत्त्वपूर्ण कार्य किया, उसका उल्लेख इसी अध्याय में पहले किया जा चुका है। अगले प्रकरण में हम इस खोज के परिणामों को संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न करेंगे।

(५) सिंगकियांग (चीनी तुर्किस्तान) में भारतीय संस्कृति के अवशेष

सिंगकियांग के विविध प्रदेशों में गत वर्षों में पुरातत्त्व-सम्बन्धी जो खोज हुई है, उससे वहाँ भारतीय धर्म तथा संस्कृति की सत्ता के ठोस प्रमाण प्राप्त हुए हैं। इनसे चीनी यात्रियों के उन विवरणों की भी पुष्टि होती है, जिनका उल्लेख पिछले प्रकरण में किया गया है।

१. काशगर—काशगर नगर के उत्तर-पूर्व में कुरघान नाम का टिम (खेड़ा) है, जिसकी खुदाई से एक विशाल स्तूप के खण्डहर प्रकाश में आये हैं, जिसकी ऊँचाई भग्न दशा में भी ८५ फीट के लगभग है। यह स्तूप जिस क्षेत्र पर निर्मित था, उसकी लम्बाई १६० फीट थी, और चौड़ाई १३० फीट। इसके निर्माण के लिए बड़े आकार की ऐसी ईंटें प्रयुक्त की गई थीं, जिन्हें सूर्य की धूप में पकाया गया था। यह स्तूप अत्यन्त भग्न दशा में है, पर इसकी रूपरेखा अब भी स्पष्ट रूप से विद्यमान है।

काशगर के दक्षिण में दो मील की दूरी पर एक अन्य खेड़ा या डूह (mound) है, जिसे किजिल डेवे कहते हैं। यह भी एक प्राचीन स्तूप के भग्नावशेषों को सूचित करता है। वर्तमान समय में इस स्तूप की ऊँचाई २७ फीट है, और आधार में यह १३० × १०० फीट के आकार का है। किजिल डेवे से ५० फीट पश्चिम में एक अन्य स्तूप के खण्डहर विद्यमान हैं, जिसका आधार-भाग गोलाकार था, और इस आधार का व्यास १२५ फीट था।

काशगर के २० मील उत्तर-पूर्व में खान-उई नामक एक गाँव है, जिसके पास एक विशाल खेड़ा है, जो टोपा-टिम के नाम से प्रसिद्ध है। यह खेड़ा भी एक विशाल स्तूप के खण्डहरों को सूचित करता है, जो भग्न दशा में भी २८ फीट ऊँचा है। आधार-भाग में इस स्तूप की परिधि ३५० फीट के लगभग है, जिससे इसकी विशालता का अनुमान किया जा सकता है। टोपा-टिम के समीप ही एक प्राचीन संघाराम के अवशेष

भी विद्यमान हैं, जिसकी लम्बाई २६० फीट और चौड़ाई १७० फीट थी। टोपा-टिम के समीप ही एक अन्य खेड़ा है, जिसे मौरी टिम कहते हैं। यहाँ एक विशाल स्तूप की सत्ता है, जो पर्याप्त रूप से सुरक्षित दशा में है। वर्तमान दशा में इसकी ऊँचाई ७० फीट के लगभग है, और इसका निर्माण प्रायः उसी ढंग से हुआ है, जैसे कि सारनाथ का स्तूप है।

काशगर के क्षेत्र में ही खाकान्निग-शहरी (महान् खान का शहर) के सुविस्तृत भग्नावशेष पाये गये हैं, जिनमें ईंटों द्वारा निर्मित एक स्तूप के खण्डहर भी हैं। वर्तमान दशा में भी यह स्तूप ३२ फीट ऊँचा है। इसका आधार भाग चौकोर है, और चौकोर स्तूप का प्रत्येक पार्श्व ३२ फीट चौड़ा है। इस स्तूप के निर्माण के लिए जिन ईंटों का प्रयोग किया गया है, वे १५ इंच लम्बी तथा १२ इंच चौड़ी हैं। खाकान्निग-शहरी से एक मील दूर उत्तर-पश्चिम में विशाल चट्टान से निर्मित एक गुहा-मन्दिर के अवशेष विद्यमान हैं, जिसकी एक भित्ति पर भगवान् बुद्ध का शीर्ष स्पष्ट रूप से अंकित है। इस गुहा-मन्दिर के साथ वह प्रदक्षिणा-पथ भी है, जिसका उपयोग पूजा के लिए किया जाता था।

काशगर के सम्बन्ध में ह्यु एन्-त्सांग ने यह लिखा है कि वहाँ सैकड़ों की संख्या में संघाराम विद्यमान थे, जिनमें दस हजार के लगभग श्रमण तथा भिक्षु निवास करते थे। ऊपर काशगर के जिन स्तूपों तथा संघारामों के अवशेषों का उल्लेख किया गया है, ह्यु एन्-त्साँग के समय में वे अवश्य ही पूर्ण तथा सुरक्षित दशा में रहे होंगे। इस क्षेत्र में पुरातत्त्व-सम्बन्धी खोज होने पर अन्य स्तूपों तथा संघारामों के अवशेष भी प्रकाश में आ सकते हैं।

(२) **यारकन्द से खोतन की ओर**—ह्यु एन्-त्सांग ने यह किम्वदन्ती लिखी है, कि चे-चू-चिया (यारकन्द के क्षेत्र में कर्घलिक) के दक्षिण में एक ऐसा पर्वत था, जिसकी गुफाओं में तपस्या कर अनेक भारतीय स्थविरों ने अर्हत पद प्राप्त किया था। ह्यु एन्-त्सांग ने इन अर्हतों के चमत्कारों का भी वर्णन किया है। वर्तमान समय में भी इस प्रदेश के पहाड़ों में चार ऐसी गुफाओं की सत्ता है, जिनके सम्बन्ध में समीप के निवासियों में यह किम्वदन्ती विद्यमान है, कि इनमें किसी पुराने जमाने में ऐसे फकीर निवास करते थे जिन्हें अनेकविध सिद्धियाँ प्राप्त थीं। इस प्रदेश के सब निवासी वर्तमान समय में मुसलमान हैं। पर वे भी इन गुफाओं की पूजा करते हैं, और इनमें से दो को तो किन्हीं पुराने फकीरों की मजार समझते हैं। इस्लाम को स्वीकार कर लेने पर भी यहाँ के लोगों में प्राचीन बौद्ध अर्हतों की स्मृति अब तक भी शेष है, और वे अब भी उनकी पूजा करने में तत्पर रहते हैं।

यारकन्द से खोतन जाने वाले मार्ग में पुस्की नाम का एक अन्य खेड़ा है, जो एक प्राचीन स्तूप के अवशेषों को सूचित करता है। इसका आधार-भाग चौकोर रूप में है, जिसके प्रत्येक पार्श्व की चौड़ाई ३४ फीट है। इसके निर्माण के लिए जिन ईंटों का प्रयोग किया गया है, वे १७ इंच लम्बी और १४ इंच चौड़ी हैं। मोटाई में ये केवल ४ इंच हैं। पुस्की से आगे दूवा नामक स्थान पर एक अन्य स्तूप के खण्डहर विद्यमान हैं।

3. **खोतन**—मध्य एशिया के भारतीय उपनिवेशों में खोतन सर्वप्रधान था, और खोतन नगरी अत्यन्त समृद्ध तथा वैभवपूर्ण थी। जिस स्थान पर यह नगरी विद्यमान थी, अब वहाँ योतकान नाम का गाँव है, और पुराने खोतन के बहुत-से अवशेष इसी गाँव के नीचे दबे पड़े हैं। योतकान के समीपवर्ती स्थानों पर जो खुदाई की गई है, उससे अनेक ऐसी वस्तुएं प्राप्त हुई हैं, जिनके द्वारा वहाँ बौद्ध धर्म तथा भारतीय संस्कृति की सत्ता सूचित होती है। यहाँ से बहुत-से पुराने सिक्के मिले हैं, जिनमें ऐसे सिक्के भी हैं, जिनके एक ओर खरोष्ठी लिपि में लिखे गये प्राकृत भाषा के लेख हैं, और दूसरी ओर चीनी भाषा के लेख विद्यमान हैं। ऐतिहासिक अनुश्रुति के अनुसार खोतन भारतीय और चीनी दोनों के सम्मिलित प्रयत्न से बसाया गया था और वहाँ के निवासी भारतीय और चीनी दोनों प्रकार के थे। वहाँ से उपलब्ध हुए ये सिक्के इस अनुश्रुति की सचाई का संकेत करते हैं। खोतन की खुदाई में कुशाणवंशी राजाओं के भी बहुत-से सिक्के मिले हैं, जिनमें कनिष्क के सिक्के सबसे अधिक हैं। कुशाण सम्राट् खोतन को भी अपने साम्राज्य के अन्तर्गत करने में समर्थ हुए थे, इसका यह भी प्रमाण है। खोतन की खुदाई में अनेक ऐसे प्रस्तरफलक मिले हैं, जिन पर भगवान् बुद्ध के जीवन के साथ सम्बन्ध रखने वाली कथाएं उत्कीर्ण की गई हैं। बोधिसत्त्व जब राज-प्रासाद का परित्याग कर भिक्षुव्रत ग्रहण करने लगे, तो उन्होंने खड्ग द्वारा अपनी केशराशि को काट दिया था। एक प्रस्तरफलक पर बोधिसत्त्व द्वारा अपने केशों को काटते हुए दिखाया गया है। उनके दायें हाथ में खड्ग है, और बायें हाथ से उन्होंने अपनी केशराशि को पकड़ा हुआ है। एक अन्य प्रस्तरफलक पर बुद्ध का जन्म प्रदर्शित किया गया है, और एक पर बुद्ध को तपस्या करते हुए दिखाया गया है जबकि कामदेव (मार) उनकी तपस्या भंग करने का प्रयत्न कर रहा है।

चीनी यात्रियों ने खोतन नगरी के अनेक स्तूपों तथा संघारामों का उल्लेख किया है। पर ये प्रायः लकड़ी के बने हुए थे। इसी कारण ये देर तक कायम नहीं रह सके, और खोतन की खुदाई में इनके कोई अवशेष अब तक उपलब्ध नहीं हुए हैं। पर ह्यु एन्-त्सांग ने खोतन नगरी के दक्षिण-पश्चिम में चार मील की दूरी पर जिस गोश्रृंग पर्वत तथा उस पर विद्यमान गोश्रृंग विहार का वर्णन किया है, उसके अवशेष अब तक भी विद्यमान हैं। खोतन के दक्षिण-पश्चिम में कर-काश नदी बहती है, जिसके पार २५० फीट ऊंची एक पहाड़ी सीधी खड़ी हुई है। ऐतिहासिकों का मत है, कि यही ह्यु एन्-त्सांग का गोश्रृंग पर्वत है, और इसी को तिब्बती अनुश्रुति में 'गोशीर्स' नाम से कहा गया है। वर्तमान समय में इसे कोहमारी कहा जाता है। यहाँ अब भी एक गुहा विद्यमान है, जिसमें दो मजिलें हैं। निचली गुहा ३६ फीट लम्बी और १४ फीट चौड़ी है। इसकी ऊंचाई ८ से १० फीट तक है। उपरली गुहा १३ फीट लम्बी और ८ फीट चौड़ी है। धम्मपद की भोजपत्रों पर लिखी हुई जो प्राचीन प्रति सन् १८९२ में दुत्रइल द र्हां नामक फ्रेंच विद्वान् को खोतन से प्राप्त हुई थी, वह इसी गुहा से मिली थी। गुहा से नीचे कोहमारी की उपत्यका में एक मजार भी है, इस प्रदेश के मुस्लिम निवासी जहाँ जियारत के लिए एकत्र हुआ करते हैं। वस्तुतः, यह एक प्राचीन

बौद्ध चैत्य का अवशेष है, और इसके प्रति खोतन के निवासियों में जो श्रद्धाभावना थी, उसके कारण इस्लाम में दीक्षित हो जाने पर भी वे मजार के रूप में इसकी पूजा करने लगे। मध्य एशिया के विविध प्रदेशों में जो लोग अब भी बौद्ध धर्म के अनुयायी हैं, वे कोहमारी को अपना पवित्र तीर्थ मानते हैं, और वहाँ तीर्थयात्रा के लिये आया करते हैं।

ह्यु एन्-त्साँग तथा फाइयान दोनों चीनी यात्रियों ने एक अन्य संघाराम का उल्लेख किया है, जो खोतन से १½ मील के लगभग दूर दक्षिण में स्थित था। यहाँ जो स्तूप था, ह्यु एन्-त्साँग ने उसकी ऊंचाई १०० फीट लिखी है। योतकान के समीप सोमिया नामक गाँव है, जहाँ एक बहुत बड़ा खेड़ा है, जिसके नीचे किसी विशाल इमारत के भग्नावशेष दबे पड़े हैं। सम्भवतः, ये उसी संघाराम तथा स्तूप को सूचित करते हैं, जिनका उल्लेख चीनी यात्रियों ने किया है। सोमिया में एक मजार भी है, जो शायद किसी बौद्ध अर्हत की समाधि है। सोमिया के खेड़े को स्थानीय लोग अत्यन्त आतंक की दृष्टि से देखते हैं, और वहाँ से गुजरते हुए उसके प्रति सम्मान अवश्य प्रगट करते हैं। इसी अध्याय में ऊपर वैरोचन नामक अर्हत की कथा लिखी गई है, जिसने खोतन के समीप जंगल में घोर तपस्या की थी और जिसके आदेश का पालन कर खोतन के राजा ने वहाँ एक संघाराम का निर्माण कराया था। सोमिया का सुविस्तृत खेड़ा इसी प्राचीन संघाराम तथा स्तूप का परिचायक माना जाता है।

(५) दन्दान उइलिक—खोतन से पूर्व की ओर मरुभूमि में दन्दान-उइलिक की स्थिति है, जहाँ पर एक प्राचीन नगर के अवशेष रेत के नीचे दबे पड़े हैं। इन खण्डहरों का क्षेत्र उत्तर से दक्षिण की ओर १½ मील लम्बा है, और पूर्व से पश्चिम की ओर एक मील। १½ वर्गमील के इस सुविस्तृत क्षेत्र में कितने ही बौद्ध चैत्यों, संघारामों और सर्वसाधारण लोगों के निवास-गृहों के भग्नावशेष बिखरे पड़े हैं, जिन्हें रेत ने ऊपर से ढका हुआ है। जब कभी आँधी या तेज हवा से रेत उड़ने लगता है, तो इनकी भग्न दीवारें नजर आने लगती हैं। पुरातत्त्व के विद्वानों द्वारा जब इस स्थान से रेत हटाकर प्राचीन अवशेषों का अनुसन्धान किया गया, तो कितनी ही महत्वपूर्ण वस्तुएं प्रकाश में आयीं। यहाँ एक ऐसी भग्नप्राय इमारत थी, जिसे स्थानीय मुस्लिम लोग बुतखाना कहा करते थे। वस्तुतः, यह एक बौद्ध चैत्य था, जिसमें प्रतिष्ठापित बुद्धमूर्ति के दर्शन व पूजा के लिए एक प्रदक्षिणापथ भी बना हुआ था। यह प्रदक्षिणापथ पाँच फीट चौड़ा था, और इसकी दीवारों पर बुद्ध तथा बोधिसत्त्वों के साथ सम्बन्ध रखने वाली कथाओं को रंग-बिरंगे चित्रों द्वारा सुन्दर एवं सजीव रूप से चित्रित किया गया था। इस चैत्य की दीवारें लकड़ी और सरकण्डों के फ्रेम पर गारे का प्लास्तर करके बनायी गई हैं, और इस प्रकार चिकनी बनायी गई सतह पर विविध चित्र चित्रित किए गए हैं। दीवारों के साथ-साथ बहुत-सी मूर्तियाँ भी हैं, जो पत्थर की न होकर लकड़ी तथा सरकण्डे के फ्रेम पर मिट्टी तथा गारे से बनायी गई हैं। ये भी अत्यन्त सुन्दर तथा सजीव हैं। इस समय ये सब भग्न दशा में हैं, और मूर्तियों के सिर तो प्रायः नष्ट ही हो चुके हैं। पर खुदाई द्वारा जिस रूप में भी ये प्राप्त हुई हैं, उससे सहज में यह

अनुमान किया जा सकता है, कि पहले ये किस रूप में रही होंगी, और जिन चैत्यों त संघारामों में ये स्थापित रही होंगी, वे कितने सुन्दर और आकर्षक होंगे। दन्दा उइलिक के भग्नावशषों के बहुत-से ऐसे शहतीर भी मिले हैं, जिनका प्रयोग संघाराम चैत्यों व अन्य भवनों के निर्माण के लिए किया गया था। अनेक शहतीरों पर विविध प्रकार की आकृतियाँ खोदकर बनायी गई हैं। इस क्षेत्र में साधारण निवा गृहों के भी जो अवशेष मिले हैं, उनकी दीवारें भी विविध प्रकार के चित्रों व आ तियों द्वारा अलंकृत हैं।

दन्दान-उइलिक में रेत में दबे हुए अनेक प्राचीन ग्रन्थों के पृष्ठ भी मिले हैं जिनकी भाषा संस्कृत है और जिनको लिखने के लिए गुप्त युग की ब्राह्मी लिपि का प्रयोग किया गया है। इन ग्रन्थों में प्रज्ञापारमिता और वज्रच्छेदिका उल्लेखनीय हैं जिनके पृष्ठों का आकार क्रमशः १८ इंच × ७ इंच और १४½ इंच × ३ इंच है काष्ठ-पट्टिकाओं (लकड़ी की तख्तियों) पर लिखे हुए बहुत-से अभिलेख भी इस स्थान से उपलब्ध हुए हैं।

६. नीया—दन्दान-उइलिक के पूर्व में नीया नदी को पार करने पर एक अन्य नगरी के भग्नावशेष विद्यमान हैं, जो रेत के ढेर के नीचे दबे पड़े हैं। ये अवशेष नीया नामक नगरी के हैं, जो दन्दान-उइलिक के समान ही कभी अत्यन्त समृद्ध दशा में थी। यहाँ भी बहुत से मकानों की दीवारें भग्न दशा में पायी गई हैं, और ये दीवारें भी अनेकविध चित्रों तथा आकृतियों द्वारा अलंकृत हैं। नीया के निवासी जिन अनेकविध आसन्दियों, चौकियों तथा पीठिकाओं आदि को अपने मकानों में प्रयोग में लाते थे, जो गलीचे फर्श पर बिछाते थे, जो बर्तन भोजन पकाने आदि के काम में लाते थे और लिखने के लिए जो सामग्री प्रयुक्त करते थे, उन सबके भी बहुत-से अवशेष इन खण्डहरों से उपलब्ध किये गए हैं। कतिपय स्तूपों के भग्नावशेष भी यहाँ विद्यमान हैं। नीया के खण्डहरों से बहुत-सी काष्ठपट्टिकाएँ भी प्राप्त हुई हैं, जिन पर लिखे हुए लेख खरोष्ठी लिपि में हैं और उनकी भाषा प्राकृत है। वहाँ से चमड़े पर लिखे हुए लेख भी मिले हैं। इन लेखों का सम्बन्ध धर्म से न होकर राजकीय कारोबार तथा साधारण लेन-देन के साथ है।

७. रावक स्तूप—खोतन के क्षेत्र में ही एक विशाल स्तूप के अवशेष प्राप्त हुए हैं, जो रावक स्तूप के नाम से प्रसिद्ध है। यह स्तूप तथा इसके साथ का संघाराम रेत के ढेर में दबे हुए थे, यद्यपि स्तूप का शीर्षभाग रेत के ऊपर दिखाई दिया करता था। खुदाई द्वारा रेत के हटाये जाने पर स्तूप और संघाराम दोनों प्रकाश में आ गये, और उन्हें पर्याप्त रूप से सुरक्षित दशा में पाया गया। संघाराम का निर्माण चतुर्भुज रूप से किया गया है, जिसका एक पार्श्व १६३ फीट लम्बा है, और दूसरा १४१ फीट। चारों ओर की दीवार ३½ फीट चौड़ी है, और भग्न दशा में भी उसकी ऊंचाई ११ फीट के लगभग है। दीवार, स्तूप तथा संघाराम के निर्माण के लिये जिन ईंटों का प्रयोग किया गया है, वे २० इंच लम्बी, १४ इंच चौड़ी और ४ इंच मोटी हैं। रेत को हटाने पर संघाराम के भवनों की जो दीवारें प्रकाश में आयीं, उन पर बहुत-से भित्तिचित्र विद्य-

ान हैं, जिन द्वारा बुद्ध तथा बोधिसत्त्वों के जीवन के साथ सम्बन्ध रखने वाली कथाओं को अत्यन्त सुन्दर व सजीव रूप में प्रस्तुत किया गया है। दीवारों के साथ बुद्ध और बोधिसत्त्वों की बहुत-सी मूर्तियां भी खड़ी की गई हैं, जो पत्थर की बनी हुई न होकर लकड़ी, सरकण्डे आदि के फ्रेम पर मिट्टी द्वारा बनायी गई हैं और जिन पर गारे का पलस्तर किया गया है। बुद्ध की कोई मूर्ति अभय मुद्रा में है, और कोई ध्यान मुद्रा में। क्योंकि इनके अन्दर की लकड़ी गल गई है, अतः ये मूर्तियाँ बहुत भंगुर व क्षीण दशा में हैं। फिर भी इनमें अनुपम सौन्दर्य है, और इन पर जो भाव प्रदर्शित किये गए हैं, वे अत्यन्त आकर्षक हैं। संघाराम के द्वारों पर द्वारपालों की भी मूर्तियाँ स्थापित हैं। रावक स्तूप कई मन्जिलों का है। सबसे निचली मन्जिल का आधार भाग चौकोर है, जिसका प्रत्येक पार्श्व ७८ फीट चौड़ा है। इस मन्जिल की ऊंचाई ६½ फीट है। दूसरी मन्जिल भी चौकोर है, और उसका प्रत्येक पार्श्व चौड़ाई में ४५½ फीट है। यह मन्जिल ६ फीट ऊंची है। इसके ऊपर ३ फीट ऊंचा गोलाकार कलश है। सबसे ऊपर एक गुम्बद है, जो अत्यन्त भग्न दशा में होते हुए भी ऊंचाई में ८½ फीट हैं। यह एक अच्छा बड़ा स्तूप है, जो रेत के ढेर के ऊपर दिखाई देता है। रावक के क्षेत्र से भी काष्ठपट्टिकाओं पर लिखित बहुत-से अभिलेख उपलब्ध हुए हैं।

६. अर्क-कुदुक कलश टिम—यह खेड़ा भी खोतन के क्षेत्र में है, और यहाँ एक स्तूप के खण्डहर विद्यमान हैं, जो अत्यन्त भग्न दशा में होते हुए भी १६ फीट ऊँचा है। इसका आधार भाग पूर्व से पश्चिम की ओर २० फीट और उत्तर से दक्षिण की ओर ८ फीट चौड़ा है। इसके निर्माण के लिए जिन ईटों का प्रयोग किया गया है, उनकी लम्बाई १९ इन्च, चौड़ाई १३ इन्च और मोटाई ४ इन्च है। अर्क-कुदुक के खेड़े से भी बहुत-से प्राचीन सिक्के उपलब्ध हुए हैं, जिनमें २० ऐसे हैं, जिनके एक ओर खरोष्ठी लिपि तथा प्राकृत भाषा के लेख हैं, और दूसरी ओर चीनी भाषा के।

अक्क-सिपिल—यह खेड़ा भी खोतन के क्षेत्र में है। यहाँ एक प्राचीन दुर्ग के भग्नावशेष रेत के ढेर में दबे हुए हैं। इस दुर्ग की दीवारों तथा दुर्ग के अन्दर बने हुए भवनों को खुदाई द्वारा रेत हटाकर प्रकाश में लाया गया है। दुर्ग से १¾ मील की दूरी पर पुराने चैत्य तथा संघाराम के भग्नावशेष विद्यमान हैं। इनकी भित्तियों को विभूषित करने के लिए जिन भित्ति-फलकों का प्रयोग किया गया था, उनके बहुत-से टुकड़े इस संघाराम के अवशेषों के पास बिखरे पड़े हुए मिले हैं, जिन पर बुद्ध तथा बोधिसत्त्व आदि की अनेक आकृतियाँ अंकित हैं।

फरहाद बेग बैलकी—दोमोको के उत्तर में मरुभूमि दूर तक चली गई है। पर रेत के ढेरों के नीचे प्राचीन समय के बहुत-से भग्नावशेष दबे पड़े हैं। इनमें फरहाद बेग बैलकी से प्राप्त हुए प्राचीन अवशेष विशेष महत्त्व के हैं। यहाँ के संघाराम, चैत्य तथा स्तूप के खण्डहरों से प्राप्त विविध भित्तिचित्रों तथा चित्रफलकों पर बुद्ध एवं बोधिसत्त्वों के सिरों की आकृतियाँ जिस ढंग से बनायी गई हैं, वे भारतवासियों के सिरों से बहुत मिलती-जुलती हैं। इससे यह परिणाम निकाला जा सकता है, कि इन चित्रों का निर्माण भारतीय कलाकारों द्वारा किया गया था। इस स्थान से उपलब्ध भित्तिचित्रों

में एक स्त्री का भी चित्र है, जिसने पाँच बच्चे अपने साथ लिये हुए हैं। चीनी यात्री यित्सिग ने अपने यात्रा विवरण में लिखा है, कि भारत के बौद्ध संघारामों के प्रवेश-द्वार पर या उनकी भोजनशालाओं के एक कोने में हारिती की मूर्ति स्थापित की जाती है। एक बच्चा उसकी गोद में होता है, और तीन चार या पाँच बच्चे उसके घुटनों के पास रहते हैं। बौद्ध कथाओं के अनुसार हारिती एक ऐसी देवी है, जो बच्चों का पालन तथा संरक्षण करती है। प्रसिद्ध फ्रेन्च विद्वान् फूशे ने प्रतिपादित किया है, कि फरहाद बेग बैलकी के खण्डहरों में जो स्त्रीमूर्ति चित्रित है, वह हारिती की है। बच्चों सहित स्त्री का इसी प्रकार का एक चित्र यार-खोतो से भी उपलब्ध हुआ है। यार-खोतो तकला-मकान मरुस्थल के उत्तर में तुर्फान के क्षेत्र में है।

फरहाद बेग बैलकी के खण्डहरों से संस्कृत भाषा की ब्राह्मी लिपि में लिखी हुई एक हस्तलिखित पुस्तक के ३३ पृष्ठ भी मिले हैं। ये पृष्ठ १४ इन्च लम्बे और ४½ इन्च चौड़े हैं। प्रसिद्ध बौद्ध ग्रन्थ सद्धर्मपुण्डरीक के ये पृष्ठ हैं।

11 **कर सई**—खोतन के क्षेत्र में कर सई नामक एक अन्य स्थान है, जहाँ दो बौद्ध संघारामों के खण्डहर विद्यमान हैं। इन दोनों संघारामों के बीच की दूरी १६० गज है। इनमें बुद्ध की ऐसी खड़ी मूर्तियाँ मिली हैं, जो अभय मुद्रा में हैं, और जो अत्यन्त सुन्दर एवं भव्य हैं।

12 **तारी श्लक**—करसई के दक्षिण-पश्चिम में करकाश नदी को पार करने पर तारी श्लक नामक स्थान है, जहाँ रेत के ऊंचे-ऊंचे डूहों के नीचे प्राचीन बौद्ध स्तूपों तथा संघारामों के भग्नावशेष दबे पड़े हैं। रेत को हटाने पर प्राचीन संघारामों की जो दीवारें प्रकाश में आयीं, उन पर बुद्ध तथा बोधिसत्त्वों के विशाल आकार के चित्र हैं। इन विशाल चित्रों के बीच में जो स्थान खाली है, वह ऊंचाई में १२ फीट के लगभग है। इस खाली स्थान पर बहुत-से छोटे-छोटे चित्र बनाये गये हैं। बड़े चित्र खड़े रूप में हैं, और उनके बुद्ध को अभय मुद्रा में प्रदर्शित किया गया है। दुर्भाग्यवश इनके सिर तथा छाती के ऊपर के भाग खण्डित दशा में हैं। पर चित्रों के जो भाग अखण्डित हैं, उनमें वस्त्र अत्यन्त सुन्दर रूप से चित्रित किये गये हैं। यहाँ की दीवारों पर एक विशाल मूर्ति के साथ उसके पूजकों की भी छोटी-छोटी प्रतिमाएँ बनायी गई हैं, जिन्हें पूजा करते हुए दिखाया गया है। एक फलक पर संस्कृत का श्लोक भी ब्राह्मी लिपि में लिखा है, जिसमें मूर्ति-चित्र की प्रशंसा की गई है।

तारी श्लक में एक ऐसी विशाल बुद्ध प्रतिमा भी मिली है, जिसे एक गद्दी पर विराजमान रूप से दिखाया गया है। बुद्ध समाधिस्थ होकर गद्दी पर बैठे हैं, और गद्दी के सम्मुख-भाग पर एक चित्र है, जिसके मध्य में कमलपुष्पों से युक्त एक कुम्भ है। कुम्भ के दायीं ओर तीन स्त्रियाँ और बायीं ओर तीन पुरुष पूजा की मुद्रा में घुटने टेके हुए खड़े हैं। नीचे संस्कृत का यह श्लोक लिखा है—

पाण्ड्य-शुभि-सूर्यलतैश्च धातवै
त स्थिर मति नवचित्रितो यम्।

शुभेन तेन सुगतत्त्वलाभी
सर्वे च सत्त्वा शिवधर्मधातौ ॥

इस श्लोक का अर्थ यह है, कि पाण्डय, शुभि (गोरोचन) और सूर्यलता के रसों से चित्रित यह नया चित्र स्थायी रहने वाला है। इस शुभ चित्र से इसके निर्माता को सुगतत्त्व की प्राप्ति हुई है, और सब प्राणी इससे कल्याणकारी धर्म का लाभ प्राप्त करते हैं। व्याकरण की दृष्टि से इस श्लोक में अनेक अशुद्धियाँ हैं। पर इससे यह भली-भाँति ज्ञात हो जाता है, कि प्राचीन समय में खोतन के क्षेत्र में संस्कृत भाषा का किस प्रकार से प्रचार था।

तारीश्लक के खण्डहरों से जो अन्य अनेक चित्र उपलब्ध हुए हैं, उनमें एक ऐसा भी है, जिसका सिर चूहे का बनाया गया है। सम्भवतः, इस प्रदेश के निवासियों में बौद्ध धर्म के प्रवेश से पूर्व मूषक की पूजा भी प्रचलित थी। इसी कारण बाद में भी ऐसी प्रतिमाएँ बनाई जाती रहीं, जिन से वहाँ के पुराने देवी-देवताओं को प्रदर्शित किया जाता रहा। ह्यु एन्-त्सांग ने इस प्रदेश के लोगों में मूषक की पूजा का उल्लेख भी किया है। यहाँ एक अन्य ऐसा भित्तिचित्र मिला है, जिसमें चार भुजाओं वाली एक स्त्री या देवी चित्रित की गई है। इस देवी को जिस ढंग के वस्त्र पहने हुए चित्रित किया गया है, उनसे प्राचीन काल की खोतन महिलाओं के परिधान का अनुमान किया जा सकता है।

(१३) **दोमोको**—खोतन के पूर्व की ओर दोमोको के समीप खादलिक का खेड़ा है, जहाँ स्तूपों तथा संघारामों के अनेक भग्नावशेष विद्यमान हैं। ये अवशेष अनेक चित्र-फलकों आदि से विभूषित हैं। ब्राह्मी लिपि में लिखी हुई अनेक संस्कृत पुस्तकों के पृष्ठ भी यहाँ से मिले है, जिनमें प्रज्ञापारमिता, सद्धर्मपुण्डरीक, बुद्धचरित और गुणपर्यन्त-स्तोत्र विशेष महत्त्व के हैं।

(१४) **आंदेरे**—नीया के पूर्व में आंदेरे नाम की नदी को पार करने पर एक अन्य सुविस्तृत खेड़ा विद्यमान है, जिसके नीचे एक प्राचीन दुर्ग के भग्नावशेष दबे हुए हैं। यह दुर्ग एक पुराने नगर को सूचित करता है, जिसे आँदेरे नाम दिया गया है। इस दुर्ग के समीप एक चैत्य तथा संघाराम के अवशेष मिले हैं, जिनकी दीवारों पर बुद्ध तथा बोधिसत्त्वों के जीवन के साथ सम्बन्ध रखने वाली अनेक कथाएं सुन्दर रूप से चित्रित की गई हैं। यहाँ के चैत्य की एक दीवार पर गणेश की भी प्रतिमा अंकित है, जिससे यह परिणाम निकाला जा सकता है कि मध्य एशिया के इस प्रदेश के निवासी बुद्ध तथा बोधिसत्त्वों के साथ-साथ गणेश सदृश पौराणिक देवता की भी पूजा किया करते थे। आंदेरे के भग्नावशेषों में ब्राह्मी लिपि में लिखे हुए संस्कृत भाषा के कतिपय हस्तलिखित ग्रन्थ भी प्राप्त हुए हैं। साथ ही, तिब्बती भाषा में अनूदित कुछ बौद्ध ग्रन्थ भी यहाँ मिले है, जिनमें शालिस्तम्भ-सूत्र विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन अवशेषों में कतिपय वस्त्रखण्ड भी उपलब्ध हुए हैं, जो वहाँ के निवासियों के आर्थिक जीवन पर अच्छा प्रकाश डालते हैं।

(१५) **आंदेरे से लौलान की ओर**—आँदेरे से पूर्व की ओर अग्रसर होने पर चर्चन

का खेड़ा मिलता है, और उससे आगे पूर्व की ओर जाने पर चर्खलिक का। यहाँ भी पुरानी बस्तियों के भग्नावशेष रेत के ढेरों के नीचे दबे पड़े हैं, जिनमें स्तूपों तथा संघारामों के अवशेष भी मिले हैं। चर्खलिक से लौलान की ओर जाते हुए मार्ग में मीरन का खेड़ा पड़ता है, जिस के नीचे एक दुर्ग के खण्डहर विद्यमान हैं। यह दुर्ग चतुर्भुज आकार का है, और इसकी प्रत्येक दीवार २४० फीट लम्बी है। दुर्ग के भीतर जो मकान हैं, वे अत्यन्त भग्न दशा में हैं। मीरन के दुर्ग से कुछ दूर एक बौद्ध चैत्य, स्तूप तथा संघाराम के अवशेष उपलब्ध हुए हैं, जिनकी दीवारों पर बहुत-सी सुन्दर कला-कृतियाँ विद्यमान हैं। बुद्ध तथा बोधिसत्त्वों के विविध जीवन प्रसंग इन कला-कृतियों द्वारा अत्यन्त सुन्दर तथा सजीव रूप में प्रगट किए गए हैं। बुद्ध के विशाल आकार के सिर अच्छी बड़ी संख्या में मीरन के खण्डहरों में विद्यमान हैं, और साथ ही सुन्दर तथा सजीव भित्तिचित्र भी। मध्य एशिया के विविध प्रदेशों से प्राचीन भारतीय संस्कृति तथा धर्म के जो मूर्त अवशेष प्राप्त हुए हैं, रचना, स्वरूप तथा कला आदि की दृष्टि से वे सब प्रायः एकसदृश ही हैं। नीया, रावक, दन्दान-उइलिक तथा मीरन आदि सर्वत्र एक ही ढंग की प्रतिमाएँ, भित्तिचित्र तथा फलक आदि पाये गए हैं। इस कारण इन सब का पृथक्-पृथक् विशेष रूप से वर्णन करना विशेष उपयोगी नहीं है।

तकला मकान मरुस्थल के पश्चिमी सिरे पर लोपनौर झील के उत्तर में लौलान नामक स्थान है। चीनी ग्रन्थों में इसे नफोमो कहा गया है, और कतिपय ऐतिहासिकों ने इसे 'नाभक' से मिलाया है, जिसका उल्लेख अशोक के शिलालेखों में गान्धार तथा कम्बोज के परवर्ती प्रदेश के रूप में किया गया है। लौलान में जो प्राचीन भग्नावशेष रेत से डूहों के नीचे दबे पड़े हैं, खुदाई द्वारा उनमें भी एक स्तूप, संघाराम तथा अन्य भवनों के अवशेष प्राप्त हुए हैं। इस स्थान से कागज पर लिखे हुए बहुत-से ऐसे अभिलेख भी मिले हैं, जिनकी लिपि खरोष्ठी तथा भाषा प्राकृत है।

लौलान के पूर्व में तुङ्ह्वांग के प्रसिद्ध गुहामन्दिर हैं, जहाँ से बहुत-से प्राचीन ग्रन्थ तथा चित्र प्राप्त हुए हैं। इन्हें सिंगकियांग के क्षेत्र में स्थित न कह कर ठेठ चीन में कहना अधिक उपयुक्त होगा। हम इन पर विशद रूप से एक अन्य अध्याय में प्रकाश डालेंगे। तुङ्ह्वांग के उत्तर-पश्चिम से भारतीय संस्कृति तथा धर्म के अवशेषों की एक अन्य शृंखला प्रारम्भ हो जाती है, जो तकला मकान मरुस्थल के उत्तर में काशगर तक चली गई है। भारतीय धर्म तथा संस्कृति के जैसे बहुत-से केन्द्र तकला मकान के दक्षिण के प्रदेशों में थे, वैसे ही उसके उत्तर के प्रदेशों में भी थे।

१७-**आन्-ह्सी**—तुङ्ह्वांग के समीप उत्तर की ओर आन्-ह्सी की स्थिति है, जिसके समीप एक विशाल क्षेत्र में प्राचीन समय के खण्डहर बिखरे पड़े हैं। इस क्षेत्र की लम्बाई पूर्व से पश्चिम की ओर पाँच मील और उत्तर से दक्षिण की ओर तीन मील है। यहाँ एक ऐसे नगर के भी भग्नावशेष विद्यमान हैं, जिसका निर्माण एक दुर्ग के रूप में किया गया था। इस दुर्ग की एक भुजा ६७० गज और दूसरी ४९३ गज है। दुर्ग की प्राचीर ३० से ४० फीट तक चौड़ी है। वर्तमान समय में इस विनष्ट नगर

का स्थानीय नाम सो-यांग-चेंग है। खुदाई द्वारा यहाँ बहुत-सी पुरानी इमारतों के अवशेष प्रकाश में आए हैं, जिनसे वहाँ निवास करने वाले प्राचीन लोगों के रहन-सहन तथा सभ्यता के विषय में भी अनेक महत्त्वपूर्ण बातें जानी जा सकती हैं। सो-यांग-चेंग की पूर्वी दीवार से लगभग एक मील की दूरी पर एक स्तूप के खण्डहर विद्यमान हैं, जिसकी ऊँचाई भग्न दशा में भी ४० फीट से अधिक है। इस स्तूप का आधार-भाग गोलाकार है, जिसका व्यास २७ फीट है। इस बड़े स्तूप के समीप छह छोटे-छोटे स्तूप भी हैं, जिनके आधार-भाग १० से १२ फीट तक हैं। इन स्तूपों के समीप एक प्राचीन संघाराम के खण्डहर भी दूर-दूर तक बिखरे पड़े हैं।

१७. हामी—आन्-ह्सी के पश्चिम में हामी नामक स्थान है, चीन से पश्चिमी देशों की ओर जाने वाले उत्तरी मार्ग में जिसका बहुत महत्त्व है। यह भी बौद्ध धर्म का महत्त्वपूर्ण केन्द्र रहा है, और मार्को पोलो के समय में भी यहाँ के प्रायः सब निवासी बौद्ध धर्म के अनुयायी थे। हामी के समीपवर्ती प्रदेश में इस समय भी बहुत-से ऐसे खण्डहर विद्यमान हैं, जिनसे वहाँ भारतीय धर्म तथा संस्कृति की सत्ता प्रमाणित होती है। बरदश के नाले पर स्थित अर-तम नामक स्थान पर बहुत-से बौद्धस्तूपों, विहारों तथा गुहा-मन्दिरों के भग्नावशेष विद्यमान हैं। बरदश के नाले के एक ओर पहाड़ियों की एक शृंखला चली गई है, जिसकी उपत्यका तथा चोटी पर बहुत-से गुहामन्दिर पहाड़ी को काट-काट कर बनाए गए हैं। जिस पहाड़ी पर ये गुहामन्दिर हैं, वह अधिक ऊँची नहीं है। ६० फीट की ऊँचाई तक ये गुहामन्दिर बने हैं, जो ४०० फीट लम्बाई तक चले गये हैं। गुहामन्दिरों तक पहुँचने के लिए पहाड़ी को काट कर सीढ़ियाँ भी बनाई गई हैं। गुहाओं की भित्तियाँ बुद्ध तथा बोधिसत्त्व आदि के चित्रों से विभूषित हैं, और वहाँ जो मूर्तियाँ प्रतिष्ठापित थीं, उनके चिह्न तथा अवशेष भी विद्यमान हैं।

१८. हामी से तुर्फान की ओर—हामी के पश्चिम में तुर्फान (कौशांग) का प्रदेश है, जिसके मार्ग में अनेक स्थानों पर बौद्ध चैत्यों तथा गुहामन्दिरों आदि के बहुत-से अवशेष दिखाई देते हैं। इलिकुल नामक स्थान पर उसी ढंग के गुहामन्दिर हैं, जैसे कि अर-तम में हैं। इलिकुल के समीप ही तोघुचा है, जहाँ ३० फीट ऊँचे एक स्तूप के अवशेष विद्यमान हैं। इस स्तूप का आधार-भाग चौकोर है, जिसका प्रत्येक पार्श्व ३० फीट चौड़ा है।

हामी से तुर्फान जाते हुए मार्ग में लपचुक नामक गाँव भी आता है, जिसके समीप एक प्राचीन दुर्ग के खण्डहर विद्यमान हैं। इन खण्डहरों के समीप एक बौद्ध चैत्य के भी अवशेष हैं, जिसका केन्द्रीय कक्ष १० फीट लम्बा और ९ फीट चौड़ा है। केन्द्रीय कक्ष के दोनों ओर दो अन्य कक्ष भी हैं। इनकी दीवारों पर बहुत-से चित्र हैं, जो कला की दृष्टि से उत्कृष्ट हैं। अन्य भी अनेक चैत्यों तथा स्तूपों के खण्डहर लपचुक में विद्यमान हैं, जो अब अत्यन्त भग्न तथा जीर्ण दशा में हैं।

१९. तुर्फान—तुर्फान के क्षेत्र में तोयुक, सेन्घिम-अघिज, चिक्कन कोल, बेजेविक, मुरतक, चोंग हस्सार, इदिकुल शहरी, यार खोतो आदि कितने ही स्थानों पर भारतीय संस्कृति तथा धर्म की सत्ता के प्राचीन अवशेष बिखरे पड़े हैं। इन सबका यहाँ उल्लेख

कर सकना सम्भव नहीं है। पर कतिपय भग्नावशेषों का निर्देश करना इस प्रदेश की प्राचीन दशा से परिचय प्राप्त करने के लिए उपयोगी होगा। चोंग-हस्सार में २०० फीट लम्बे और १५० फीट चौड़े एक दुर्ग के खण्डहर विद्यमान हैं, जिसकी दीवारों के साथ-साथ बने हुए बहुत-से कक्ष अब तक भी सुरक्षित दशा में हैं। दुर्ग की दक्षिण-पूर्वी दीवार के साथ बना हुआ एक बौद्ध चैत्य भी है, जिसके केन्द्रीय कक्ष का आकार $८\frac{१}{२} \times ६\frac{१}{२}$ फीट है। कक्ष के चारों ओर ३ फीट चौड़ा एक प्रदक्षिणापथ भी बना है। केन्द्रीय कक्ष तथा प्रदक्षिणापथ की भित्तियों पर बहुत-से चित्र भी हैं। चोंग-हस्सार के पश्चिम-उत्तर में दो मील पर किचिक-हस्सार है। वहाँ भी एक प्राचीन दुर्ग के खण्डहर विद्यमान हैं, जिनके साथ ही बौद्ध चैत्यों तथा स्तूपों के अवशेष भी पर्याप्त रूप से सुरक्षित दशा में हैं। मुख्य स्तूप का आधार-भाग चौकोर है, जिसका प्रत्येक पार्श्व २० फीट चौड़ा है। इस चौकोर आधार-भाग की ऊँचाई केवल पाँच फीट है। इसके ऊपर का स्तूप गोलाकार है, जिसका व्यास १५ फीट है। ऊपर गुम्बद के ढंग का भाग है, जिसका व्यास निरन्तर घटता जाता है। सबसे ऊपर एक वृत्ताकार कलश है। स्तूप की ऊँचाई २५ फीट हैं। इस स्तूप के समीप एक भवन है, जिसकी लम्बाई ४७ फीट और चौड़ाई २३ फीट है। निस्सन्देह ये एक बौद्ध संघाराम के भग्नावशेष हैं, जिसकी भित्तियों पर नानाविध भित्तिचित्र अब तक भी विद्यमान हैं।

तुर्फान के क्षेत्र में तोयुक नाम का एक गाँव है, जिसके समीप एक नाले के साथ-साथ पहाड़ी पर एक मील के लगभग तक चले गये बहुत-से गुहामन्दिर विद्यमान हैं, जो वर्तमान समय में अत्यन्त जीर्ण दशा में हैं। ये मलवे से भरे हुए थे। पर मलवे को साफ करने पर इनकी दीवारों पर बने हुए भित्तिचित्र प्रकाश में आये, और इनके मूलरूप का भी आभास मिला। तोयुक में एक मजार भी है, जो वस्तुतः उस युग का है, जब कि इस क्षेत्र में बौद्ध धर्म का प्रचार था। वर्तमान समय में यहाँ के मुस्लिम निवासी इसकी पूजा करते हैं, और इसे किसी पुराने मुस्लिम पीर का कबर समझते हैं। पर यहाँ किसी बौद्ध भिक्षु ने अर्हत पद प्राप्त किया था, और यह उसकी ही समाधि थी। मध्य एशिया में अन्यत्र भी अनेक ऐसी 'मजारें' हैं, जिनके साथ अब किसी मुस्लिम पीर या फकीर का सम्बन्ध जोड़ दिया गया है, पर वस्तुतः जो बौद्ध अर्हतों की समाधियाँ थीं।

चीन में ताँग वंश के शासनकाल (६१८-९०७ ईस्वी) में तुर्फान की राजधानी उस स्थान पर थी, जहाँ अब करखोजा है। इसी को चीनी ग्रन्थों में काओ-चांग कहा गया है। यहाँ से भी बौद्ध चैत्यों आदि के बहुत-से अवशेष मिले हैं। करखोजा के समीप भी पहाड़ियाँ हैं, जिन्हें काट-काट कर बहुत-से गुहामन्दिरों का निर्माण किया गया है। इन गुहामन्दिरों की न केवल दीवारें ही भित्तिचित्रों द्वारा विभूषित हैं, अपितु छत (सीलिंग) पर भी चित्र बनाये गए हैं। करखोजा के भग्नावशेषों से बुद्ध की एक कांस्य मूर्ति भी मिली है, जो खड़ी हुई मुद्रा में निर्मित है। मूर्ति के दोनों कन्धों तथा बाहों पर उत्तरीय वस्त्र को अत्यन्त सुन्दर एवं कलात्मक रूप में प्रदर्शित किया गया है। इस स्थान से चीनी भाषा के अनेक हस्तलिखित ग्रन्थ भी मिले हैं, जो बौद्ध ग्रन्थों के

अनुवाद हैं।

करखोजा के समीप यारखोतो के सुविस्तृत भग्नावशेष विद्यमान हैं, जो एक प्राचीन नगरी के खण्डहरों को सूचित करते हैं। सम्भवतः, यह स्थान भी प्राचीन समय में तुर्फान की राजधानी के अन्तर्गत था। नगरी के इन खण्डहरों के समीप एक बौद्ध स्तूप तथा संघाराम के भी अवशेष हैं, जो बहुत सुरक्षित दशा में हैं। स्तूप में तीन मंजिलें स्पष्ट दिखाई देती हैं। प्रत्येक मंजिल में बाहर की ओर आलों के ढंग के कक्ष बने हुए हैं, जिन्हें शायद निवास के लिए प्रयुक्त किया जाता था। यारखोतो के खण्डहरों में एक आभूषण के खण्ड भी प्राप्त हुए हैं, जिनका निर्माण करने में कमल दल पर आसीन बुद्ध की प्रतिमा का प्रयोग किया गया है।

(२) तुर्फान से कारा शहर—तुर्फान के पश्चिम-दक्षिण में कारा-शहर की स्थिति है। प्राचीन समय में इस प्रदेश को अग्नि देश कहते थे। वर्तमान कारा-शहर से १६ मील दक्षिण-पश्चिम में शॉरचुक का पड़ाव है, जिसके समीप कई मीलों के घेरे में पुराने खण्डहर पड़े हैं, जो मैदान की समतल भूमि से ऊपर की ओर उठते हुए समीपवर्ती पहाड़ी की उपत्यका तक चले गए हैं। स्थानीय लोग इन खण्डहरों को मिंग-ओई कहते हैं। मिंग-ओई का अर्थ है, हजार भवन। यहाँ जिन चैत्यों तथा गुहामन्दिरों के भग्नावशेष विद्यमान हैं, उनकी संख्या सैकड़ों में है, अतः इनकी मिंग-ओई संज्ञा सर्वथा उपयुक्त है। पहाड़ी की उपत्यका के जिस क्षेत्र में ये गुहामन्दिर निर्मित है, उसकी चौड़ाई २०० से ३०० गज तक और लम्बाई एक मील के लगभग है। गुहामन्दिर छोटे बड़े सब आकारों के हैं। बड़े गुहामन्दिर ऐसे भी हैं, जिनका प्रत्येक पार्श्व ८० फीट लम्बा है। ६४०० वर्ग फीट की ये गुहाएँ अत्यन्त विशाल हैं। दूसरी ओर ऐसी छोटी गुहाएँ भी हैं, जिनका क्षेत्रफल केवल ३६ वर्ग फीट है। गुहामन्दिरों की दीवारों तथा छतों को अनेकविध चित्रों से विभूषित किया गया है। पहाड़ी को काटकर बनाए गए गुहामन्दिरों के अतिरिक्त ऐसे चैत्यों के भग्नावशेष भी शॉरचुक में विद्यमान हैं, जिनके निर्माण के लिए ईंटों का प्रयोग किया गया है। ये ईंटें १२ इन्च लम्बी, ६ ईन्च चौड़ी और ४ इन्च मोटी हैं। ऐसे भी अनेक चैत्य हैं, जिनके चारों ओर प्रदक्षिणा पथ विद्यमान हैं। सभी चैत्यों में अनेकविध कलाकृतियों के अवशेष पाये गए हैं। कुछ प्रस्तर-फलकों पर जातक कथाएँ अंकित मिली हैं, और कुछ चित्रफलक ऐसे भी प्राप्त हुए हैं, जिन पर गान्धार शैली में बुद्ध के चित्र विद्यमान हैं। यहाँ से बहुत-सी मूर्तियाँ भी उपलब्ध हुई हैं, जो अत्यन्त भग्न दशा में हैं। ये सब प्रायः सिर से विहीन हैं। मूर्तियाँ केवल बुद्ध, बोधिसत्त्वों तथा अर्हतों की ही नहीं है, अपितु लोकपालों की भी हैं, जिन्हें चैत्यों तथा संघारामों के प्रवेश-द्वारों के समीप स्थापित किया गया था।

(३) कुची—काराशहर के पश्चिम में कुची की स्थिति है, जो प्राचीन समय में एक अत्यन्त समृद्ध तथा शक्तिशाली राज्य था। इसकी राजधानी का नाम भी कुची ही था। काराशहर और कुची के मध्यवर्ती प्रदेश में भी बौद्ध विहारों तथा स्तूपों आदि के अनेक भग्नावशेष विद्यमान हैं। इनमें खोरा के खण्डहर उल्लेखनीय हैं। यहाँ अनेक संघारामों तथा चैत्यों के अवशेष बिखरे पड़े हैं। एक विशाल स्तूप भी यहाँ विद्यमान

है, जो १७ फीट भूमि से ऊपर दिखाई देता है। स्तूप का शेष भाग रेत में दब गया है। यह स्तूप गोलाकार है, और इसका व्यास ३८ फीट है। इसका निर्माण करने के लिए जिन ईंटों का प्रयोग किया गया है, वे १५ इंच लम्बी, ८ इंच चौड़ी और ४ इंच मोटी हैं। स्तूप के समीप एक संघाराम भी हैं, जिसके अनेक कक्ष अब तक भी सुरक्षित दशा में हैं।

प्राचीन काल में जहाँ कुची नगरी थी, वहीं अब कूचा नामक शहर है। उसके समीप के क्षेत्र में अनेक स्थानों पर बौद्ध विहारों, चैत्यों तथा स्तूपों के बहुत-से खण्डहर विद्यमान हैं, जिनमें दुलदुल-ओकर, तथा सुबाशी विशेष महत्त्व के हैं। इनके अतिरिक्त कुम-तूरा, किजिल-कार्घ, किरिश तथा सिमसिन नामक स्थानों पर बहुत-से गुहामन्दिर भी हैं, जिन्हें पहाड़ियों को काट-काट कर बनाया गया है। ह्यु एन्-त्सांग ने अपने यात्रा-विवरण में कुची से आठ मील की दूरी पर विद्यमान दो संघारामों का उल्लेख किया है, जिनके बीच में एक नदी बहती थी। वर्तमान कूचा के समीप सुबाशी की पहाड़ी पर दो संघारामों के खण्डहर विद्यमान हैं, जिनके बीच में कूची नदी बहती है। ये अवशेष उन्हीं संघारामों के हैं, जिनका उल्लेख ह्य एन्-त्सांग ने किया था। इस क्षेत्र से फ्रेंच विद्वान् पेलिओ ने अनेक हस्तलिखित ग्रन्थों के पृष्ठ भी प्राप्त किये थे। कुची के समीप-वर्ती विविध स्थानों से प्राप्त बौद्ध धर्म तथा संस्कृति के अवशेष प्रायः उसी ढंग के हैं जैसे कि तुर्फान तथा काराशहर क्षेत्र के हैं। अतः इन पर अधिक विस्तार से लिखना उपयोगी नहीं होगा।

12 **कुची से काशगर**—कुची से ५०० मील के लगभग पश्चिम में काशगर की स्थिति है। बौद्ध धर्म तथा संस्कृति के जो अवशेष काशगर के क्षेत्र से मिले हैं, इसी प्रकरण के प्रारम्भ में उन पर प्रकाश डाला जा चुका है। पर कुची तथा काशगर के बीच के प्रदेश से भी अनेक स्थानों पर ऐसे महत्त्वपूर्ण भग्नावशेष मिले हैं, जिनका उल्लेख करना आवश्यक है। कुची से ५० मील के लगभग पश्चिम में किजिल-ओरतांग नामक गाँव हैं। इसके समीप मुज़-अर्त नदी बहती है, जिसके बायें तट पर बौद्ध गुहामन्दिरों की एक शृंखला दूर तक चली गई है। इसे किजिल मिंग-ओई कहते हैं। यद्यपि मध्य एशिया में पहाड़ियों को काट-काट कर बनाये गये गुहामन्दिरों की अनेक शृंखलाएँ हैं, पर विस्तार, निर्माण, कला आदि की दृष्टि से किजिल की यह गुहा-शृंखला सबसे अधिक महत्त्व की है। तुङ्-ह्वांग् के सहस्र-बुद्ध-गुहा-विहार के बाद इस प्रकार के गुहा-विहारों में किजिल मिंग-ओई का ही स्थान है। सर स्टाइन ने इनका अवलोकन कर अपने मनोभावों को इन शब्दों में प्रगट किया था—"तुङ्-ह्वांग् के सहस्र-बुद्ध-गुहा-विहारों को देखकर जो प्रभाव मुझ पर पड़ा था, चीनी तुर्किस्तान के अन्य सब गुहा विहारों की तुलना में इस (किजिल मिंग-ओई) गुहा-विहार शृंखला द्वारा वह फिर से मेरे सम्मुख आ गया।"

किजिल ओरतांग गाँव के पश्चिम तथा मुज-अर्त नदी के दक्षिण में स्थित एक पहाड़ी को काट-काट कर गुहामन्दिरों की एक अन्य शृंखला भी बनायी गई है, जिग-दलिक नाम के गाँव के समीप होने के कारण जिसे जगदलिक मिंग-ओई कहते हैं। बहुत-से

भित्तिचित्रों, चित्रफलकों तथा मूर्तियों के अवशेषों के अतिरिक्त इन गुहाओं से संस्कृत ग्रन्थों के कतिपय पृष्ठ भी प्राप्त हुए हैं, जो ब्राह्मी लिपि में लिखे हुए हैं।

कुची और काशगर के बीच में अन्य भी अनेक ऐसे स्थान हैं, जहाँ बौद्ध स्तूपों तथा संघारामों के अवशेष विद्यमान हैं। ग्यारहवीं सदी में मध्य एशिया के इन प्रदेशों पर मुस्लिम तुर्कों के शासन स्थापित हुए, जिनकी धर्मान्धता तथा असहिष्णुता के कारण बौद्ध धर्म तथा संस्कृति के इन महत्त्वपूर्ण केन्द्रों का ह्रास हो गया। पर तेरहवीं सदी में जब मार्को पोलो ने चीन जाते हुए मार्ग में मध्य एशिया की यात्रा की थी, उस समय भी वहाँ अनेक स्थानों पर बौद्ध धर्म फलफूल रहा था। पर बाद में इस क्षेत्र के प्राय: सब निवासी इस्लाम के अनुयायी हो गये।

प्राकृतिक प्रकोप ने भी बौद्ध धर्म तथा संस्कृति के इन केन्द्रों के ह्रास में सहायता की। पुराने युग के संघारामों तथा चैत्यों को रेत के ढेरों के नीचे दबे हुए पाया जाना इस ओर संकेत करता है।

(६) रूसी तुर्किस्तान में भारतीय संस्कृति के अवशेष

सिंगकियांग (चीनी तुर्किस्तान) के प्राचीन ऐतिहासिक अवशेषों की खोज का कार्य उन्नीसवीं सदी में ही प्रारम्भ हो गया था। पर मध्य एशिया का जो भाग वर्तमान समय में रूस के अन्तर्गत है, और जहाँ अब अनेक सोवियत सोशलिस्ट रिपब्लिकें स्थापित हैं, वहाँ ऐतिहासिक शोध का कार्य गत वर्षों में ही शुरू किया गया है। यह कार्य अभी प्रारम्भिक दशा में ही है, पर इसके द्वारा इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता, कि सिंगकियांग के समान रूसी मध्य एशिया में भी भारतीय धर्म तथा संस्कृति का प्रचार रह चुका है, और इस्लाम के प्रवेश से पूर्व इस क्षेत्र में भी बहुत-से बौद्ध विहारों, चैत्यों तथा स्तूपों की सत्ता थी।

रूसी तुर्किस्तान में उपलब्ध हुई पुरातत्त्व-सम्बन्धी सामग्री को ऐतिहासिक दृष्टि से दो भागों में विभक्त किया जा सकता है, कुशाण काल की और कुशाण काल के पश्चात् की।

कुशाण युग के अवशेष—आमू (वंक्षु) नदी के दायें तट पर तेरमिज से आठ मील उत्तर की ओर अयरतम (Ayrtam) नाम का एक गाँव है, जिसके समीप अक्टूबर, १९३६ में प्रस्तरफलक का एक खण्ड प्राप्त हुआ था, जिस पर पत्रलता तथा पुष्पमंजरी के अलंकरणों के मध्य स्त्री-पुरुषों की आकृतियाँ उत्कीर्ण थीं। बाद में इस प्रस्तरफलक के अन्य सात खण्ड भी मिल गये, जिन्हें मिला लेने पर यह फलक पूरा हो गया। यह फलक लम्बाई में २३ फीट हैं और इसकी ऊँचाई २० इंच है। यह प्रस्तरफलक जिस स्थान से उपलब्ध हुआ है, वहाँ एक बौद्ध चैत्य विद्यमान था और उसके अन्य भी अनेक अवशेष वहाँ पाये गये हैं। प्रस्तरफलक पर जिन स्त्री-पुरुषों की आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं, उन्हें चैत्य की पूजा के लिए अर्घ्य ले जाते हुए प्रदर्शित किया गया है।

तेरमिज के समीप ही कर-तेप नामक एक पहाड़ी है, जिस पर एक प्राचीन बौद्ध गुहा-विहार विद्यमान है। इसे भी कुशाण युग का माना जाता है।

कुशाण युग के पश्चात् के अवशेष—रूसी मध्य एशिया से भारतीय धर्म तथा संस्कृति के जो अवशेष अब तक प्राप्त हुए हैं, वे प्रधानतया कुशाण युग के पश्चात् काल के हैं। खिरगिज रिपब्लिक की राजधानी फ्रुन्ज से ११ मील पश्चिम में अक-बेशीम नामक स्थान हैं, जहाँ प्राचीन समय के बहुत-से खण्डहर विद्यमान हैं। पुराने समय में यहाँ एक ऐसे नगर की सत्ता थी, जिसका निर्माण एक दुर्ग के रूप में किया गया था। इस दुर्ग की प्राचीर अब तक भी सुरक्षित रूप में विद्यमान है। प्राचीर से १०० गज की दूरी पर एक बौद्ध संघाराम तथा चैत्य के भग्नावशेष मिले हैं, जो २५० फीट लम्बे और ७२ फीट चौड़े क्षेत्र में निर्मित था। इस संघाराम की दीवारें इस समय भी अच्छी दशा में हैं, और जीर्ण तथा अपूर्ण होने पर भी दस फीट की ऊँचाई तक खड़ी हुई हैं। संघाराम का मुख्य भवन (हॉल) ६० फीट लम्बा तथा ३३ फीट चौड़ा है। संघाराम के साथ जो चैत्य है, उसकी लम्बाई और चौड़ाई क्रमशः २१ तथा ११ फीट हैं। चैत्य तथा संघाराम की जो भी दीवारें इस समय विद्यमान हैं, उन सब पर बौद्ध धर्म के साथ सम्बन्ध रखने वाली कथाओं को सुन्दर तथा सजीव चित्रों द्वारा अंकित किया गया है। बुद्ध तथा बोधिसत्त्वों की बहुत-सी मूर्तियाँ भी यहाँ पायी गई हैं। अक-बेशीम के इस प्राचीन स्थान की खुदाई का कार्य १९५३-५४ में सम्पन्न हुआ था। इसी क्षेत्र में एक अन्य बौद्ध संघाराम के खण्डहर भी मिले हैं, जो १२५ फीट लम्बे और इतने ही चौड़े स्थान पर निर्मित था। इसकी दीवारें भी विविध भित्तिचित्रों द्वारा अलंकृत हैं, और यहाँ जो मूर्तियाँ मिली हैं, उनमें बुद्ध का एक विशाल सिर विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

१९५७-५८ में रूस के पुरातत्त्ववेत्ताओं ने पूर्वी फरगाना के क्षेत्र में एक अन्य बौद्ध संघाराम के भग्नावशेषों का पता किया था। यहाँ भी बुद्ध, बोधिसत्त्वों तथा बौद्ध धर्म के अन्य देवी-देवताओं की बहुत-सी मूर्तियाँ मिली हैं, और इस संघाराम की दीवारें भी विविध धार्मिक कथाओं को प्रदर्शित करने वाले चित्रों द्वारा अलंकृत हैं। अक-बेशीम के संघाराम के समान यह भी एक प्राचीन नगर की प्राचीर के बाहर स्थित है। फरगाना के जिस स्थान से इस संघाराम के अवशेष मिले हैं, वह कूवा कहा जाता है।

मध्य एशिया की ताजिक रिपब्लिक में कुरगन त्यूग नगर से ११ मील पूर्व में अदझिना-तेप नामक स्थान है, जहाँ रूस के पुरातत्त्व-वेत्ताओं ने १९६० में दो संघारामों तथा उनके साथ बने हुए चैत्यों का पता लगाया था। दोनों संघाराम ढाई-ढाई हजार वर्ग गज के क्षेत्र में बने हुए हैं, और उनमें मुख्य भवन के अतिरिक्त भिक्षुओं के निवास के लिए बहुत-से कमरे भी हैं। संघारामों की दीवारें ऐसे चित्रों से अलंकृत हैं, जिनका सम्बन्ध बुद्ध तथा बोधिसत्त्वों की जीवन-कथाओं के साथ है। बहुत-सी मूर्तियाँ भी इन खण्डहरों में मिली हैं, जिनमें से एक ४० फीट लम्बी बुद्ध-मूर्ति है जिसे निर्वाण दशा में बनाया गया है। सिंगकियांग में प्राप्त हुई मूर्तियों के समान अदझिना तेप की ये मूर्तियाँ भी मिट्टी की हैं, और इनके निर्माण के लिए भी लकड़ी आदि के ढांचों का प्रयोग किया गया है।

खिरगिज रिपब्लिक की राजधानी फ्रुन्ज के समीप क्रस्नाया रेच्का नामक स्थान पर भी एक बौद्ध संघाराम के अवशेष मिले हैं। यहाँ उपलब्ध हुई मूर्तियों में निर्वाण

पद को प्राप्त भगवान् बुद्ध की एक वैसी ही मूर्ति भी है, जैसी कि अदझिना तेप से मिली है।

समरकन्द से ४० मील पूर्व में पैन्झीकन्त नामक स्थान पर नीले रंग की एक ऐसी मूर्ति उपलब्ध हुई है, जो नृत्य की मुद्रा में है। यह या तो नटराज शिव की मूर्ति है, और या नटराज से प्रेरणा प्राप्त कर इसका निर्माण किया गया था। पर बौद्ध धर्म से इसका सम्बन्ध प्रतिपादित कर सकना सम्भव नहीं है। मध्य एशिया के जो प्रदेश इस समय रूस के अन्तर्गत हैं, उनमें बौद्ध धर्म के अतिरिक्त पारसी और ईसाई आदि अन्य धर्मों की भी प्राचीन समय में सत्ता रही है। कोई आश्चर्य नहीं, कि पौराणिक हिन्दू धर्म का भी वहाँ प्रवेश हुआ हो, जिसके कारण नटराज शिव की यह मूर्ति वहाँ बन सकी।

रूसी मध्य एशिया में अन्य भी अनेक ऐसे स्थान हैं, जहाँ गत वर्षों में भारतीय धर्म तथा संस्कृति के अवशेष प्रकाश में आये हैं। पर इस क्षेत्र में पुरातत्त्व-सम्बन्धी खोज का कार्य अभी प्रारम्भ ही हुआ है। यह आशा की जा सकती है, कि भविष्य में कितने ही ऐसे अन्य स्थान भी ज्ञात होंगे, जहाँ बौद्ध संघारामों, स्तूपों तथा चैत्य आदि के खण्डहर भूमि के गर्भ में तिरोहित हुए पड़े हैं।

(७) मध्य एशिया की प्राचीन भाषाएं और साहित्य

यद्यपि मध्य एशिया के सभी राज्यों में प्राचीन काल में संस्कृत तथा प्राकृत भाषाओं का प्रचार था, और उनके संघारामों में संस्कृत के ग्रन्थों का पठन-पाठन हुआ करता था, पर वहाँ की स्थानीय भाषाएँ भी संस्कृत से प्रभावित थीं। मध्य एशिया की इन भाषाओं का क्या स्वरूप था, इस विषय में अनेक विद्वानों ने गम्भीरतापूर्वक अनुशीलन करने का प्रयत्न किया है। कुची की प्राचीन भाषा को सिल्वां लेवी ने कुचिअन या तुखारी नाम दिया है, और इस भाषा के उपलब्ध अभिलेखों के आधार पर इसके स्वरूप को प्रतिपादित किया है। कुची भाषा में अनूदित बौद्ध ग्रन्थों के कुछ अंश भी इस समय उपलब्ध हुए हैं, जो इस भाषा की शब्दावली, व्याकरण आदि के परिज्ञान के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं। इनमें एक मैत्रेयसमिति नामक नाटक है, जिसे वैभाषिक सम्प्रदाय के आचार्य आर्यचन्द्र ने तुखारी या कुची भाषा में अनूदित किया था। इस अनुवाद की पुष्पिका इस प्रकार है—"वैभाषिक्याय् आर्यचन्द्रेस् ररित्बुन्ध् मैत्रेयसमिति नाटकं अनिरुद्धवदाँ ओमा त्रिध् निपाँत् आर।" मैत्रेय समिति नाटक में २७ अंक थे। इस विशाल ग्रन्थ को आर्यचन्द्र ने कुची की भाषा में अनूदित किया, और फिर आचार्य प्रज्ञारक्षित ने कुची या तुखारी से इसका उइगूर भाषा में अनुवाद किया। इस ग्रन्थ का उइगूर अनुवाद अधिक पूर्ण रूप में उपलब्ध है। पर इसके तुखारी अनुवाद के भी कुछ अंश प्राप्त हो चुके हैं। मैत्रेयसमिति नाटक के अतिरिक्त उन्मादयन्ती जातक, मुगपक्ख जातक, षड्दन्त जातक, पुण्यवन्त जातक, सौन्दरनन्द काव्य, नन्दप्रभु राजन्, नन्द विहार पालन, प्रतीत्यसमुत्पाद, स्मृत्युपस्थान, शक्रप्रश्न, महापरिनिर्वाण, उदानवर्ग, करुणापुण्डरीक, प्रातिमोक्षसूत्र आदि बौद्ध ग्रन्थों के तुखारी

अनुवादों के खण्डित अंश भी मिले हैं। तुखारी भाषा में लिखे कतिपय ऐसे ग्रन्थों के अंश भी उपलब्ध हुए हैं, जिनका सम्बन्ध बौद्ध धर्म से नहीं है। इनमें से एक का सम्बन्ध आयुर्वेद से है, जिसमें संस्कृत के साथ-साथ कुची या तुखारी भाषा भी दी हुई है। कुची की इस भाषा का अनुशीलन कर भाषा-विज्ञान के विद्वान् इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि यह भाषाओं के आर्यपरिवार की ही एक भाषा थी, और इसका सम्बन्ध पश्चिमी यूरोप की आर्य भाषाओं के साथ था। सिल्वां लेवी के शब्दों में "कौन यह विश्वास कर सकता था, कि जहाँ तक भाषा के आधार पर जाति का अनुमान किया जाता है, चीन और तुर्किस्तान के प्रदेशों की सीमा पर चीनी तुर्किस्तान के गर्भ में एक आर्य-नगरी की सत्ता थी, जहाँ पितर (पिता) के लिए 'पातर' माता के लिए 'मातर', अश्व के लिये 'याक्वे' (लैटिन-एक्वस्), आठ के लिए 'ओक्ट' और अस्ति (है) के लिए 'स्ते' शब्द प्रयुक्त किये जाते थे।"

भाषा-विज्ञान के विद्वानों ने मध्य एशिया में तीन प्राचीन भाषाओं की सत्ता प्रतिपादित की है। इनमें से एक भाषा कुचिअन, कुची या तुखारी थी, जो तकला मकान मरुस्थल के उत्तर में स्थित कुची, काराशहर (अग्निदेश) आदि राज्यों में प्रचलित थी। दूसरी भाषा तकला मकान मरुस्थल के दक्षिण में खोतन व उसके समीपवर्ती राज्यों की थी। तीसरी भाषा पश्चिमी तुर्किस्तान के सुग्ध क्षेत्र में प्रचलित थी। ये तीनों ही मूलतः आर्य भाषाएँ थीं, और भारतीयों के सम्पर्क में आने के कारण इनमें संस्कृत के शब्द बड़ी संख्या में प्रयुक्त होने लग गए थे। इनको लिखने के लिए जिन लिपियों का प्रयोग किया गया था, वे या तो भारत की ब्राह्मी और खरोष्ठी लिपियाँ थीं और या उन्हीं पर आधारित थीं।

कुची की भाषा में जिन अनेक ग्रन्थों के अंश उपलब्ध हुए हैं, उनमें से कुछ का उल्लेख अभी ऊपर किया गया है। इनसे इस भाषा के शब्दकोश तथा व्याकरण का परिचय प्राप्त किया जा सकता है। बुद्ध कपिल वस्तु में थे, इस वाक्य का कुची की भाषा में इस प्रकार अनुवाद किया जायेगा—'पञक्ते कपिलवस्तु ने मसकिञि।' संस्कृत शब्दों का शुद्ध एवं अपभ्रंश रूप में कुची की भाषा में बहुत प्रयोग किया जाता था। कुची भाषा में आयुर्वेद के ग्रन्थ के जो अंश मिले हैं, उनमें अश्वगन्धा के लिए अश्वकन्ता, अपामार्ग के लिए अपमार्क, विडंग के लिए वीरंक, तेजवती के लिए तेचवती और मधु के लिए मतु शब्द प्रयुक्त किए गए हैं। इसी प्रकार बौद्ध ग्रन्थों के कुची भाषा के अनुवादों में द्वीप के लिए द्विप्, कलियुग के लिए कलियुक्, अमात्य के लिए अमाश्, गंगा के लिये गंक, कोटि के लिए कोरि तथा मार्गफल के लिए मार्कपल शब्द प्रयुक्त हुए हैं।

खोतन तथा उसके समीपवर्ती प्रदेशों में जो भाषा प्रचलित थी, उसे कतिपय विद्वानों ने तुखारी (२) का नाम दिया है, और कतिपय ने शक भाषा। इसका प्राचीन नाम सम्भवतः कुइ-सन् था। उइगुर भाषा की कुछ पुस्तकों की पुष्पिकाओं में लिखा है, कि यह पुस्तक तुखारी से उइगुर में अनूदित हुई, और तुखारी में कुइ-सन् से तथा कुइ-सन् में भारतीय भाषा से। इससे सूचित होता है, कि ये पुस्तकें पहले संस्कृत से

कुइ-सन् (जो खोतन की भाषा थी) में, फिर कुइ-सन् से तोखारी (जो कुची की भाषा थी) में और फिर तोखारी से उइगूर (जो अन्यतम तुर्क भाषा थी) में अनूदित हुई थीं। खोतन की इस शक भाषा (या कुइ-सन् भाषा) में अनूदित बहुत-से बौद्ध ग्रन्थों के अंश इस समय उपलब्ध हो चुके हैं, जिनमें वज्रच्छेदिका और अपरिमितायुःसूत्र विशेष महत्त्व के हैं। ये दोनों तुङ्-ह्वाग् से प्राप्त हुए थे, और इनमें शक भाषा के अनुवाद के साथ-साथ मूल संस्कृत ग्रन्थ भी दिये हुए हैं। इनसे खोतन की प्राचीन भाषा को पढ़ने तथा समझने में बहुत सहायता मिली है। इस भाषा में अनूदित ग्रन्थों की एक सूची भी उपलब्ध हुई है, जो खण्डित दशा में है। पर उसमें ६१ से ७०वें तक के ग्रन्थों के नाम विद्यमान हैं। इस सूची में संस्कृत के सुमतिदारिकापृच्छा को सुमतिधाकपृच्छ, सूर्यगर्भभिशतिका को सूर्यगर्भत्तृशशतिय, सुस्थितमतिपृच्छा को उसुस्थमतपृच्छ और तत्त्व-दर्शनसूत्र को त्तत्विदर्शनासूत्र कहा गया है। शतसाहस्त्रिका प्रज्ञापारमिता के शक (कुइ-सन्) भाषा के अनुवाद के भी कुछ अंश प्राप्त हुए हैं, जिनसे इस भाषा के वाक्यों का कुछ परिचय प्राप्त किया जा सकता है। वहाँ संस्कृत के 'सम्बन्धीप्रभावः पुण्य-राशिस्तथागुणः, वाक्य का अनुवाद 'हिव्यहौवपजिनैहंविशऊ बुजसा' किया गया है। इस भाषा में सँस्कृत शब्दों का प्रचुरता से प्रयोग करने के कारण कतिपय संस्कृत संदर्भों के अनुवाद मूल संस्कृत से अधिक भिन्न नहीं हो पाते थे। 'तथागतोष्णीश सितातपत्रानाम अपराजिता महाप्रत्यंगिरा' को इस भाषा में 'तथागतोष्णीश सिधातयत्रं नामापराजित महाप्रत्यंगिरा' रूप से अनूदित किया गया है। खोतन की प्राचीन भाषा में अभिलेख तथा बौद्ध ग्रन्थों के अनुवाद इतनी अधिक संख्या में उपलब्ध हैं, कि उन द्वारा इस भाषा के शब्दकोश तथा व्याकरण को भली-भाँति तैयार किया जा सकता है। पर अभी इस सम्बन्ध में अधिक कार्य नहीं हुआ है। इस भाषा को लिखने के लिए गुप्त युग की ब्राह्मी लिपि का प्रयोग किया जाता था, पर मध्य एशिया में इस लिपि ने अपने शुद्ध रूप के अतिरिक्त अन्य भी अनेक रूप प्राप्त कर लिए थे जो ब्राह्मी लिपि पर आधारित थे।

सुग्ध देश की पुरानी भाषा को आर्य परिवार की भाषाओं की ईरानी शाखा का माना जाता है। पर उस पर भी संस्कृत का प्रभाव बहुत अधिक था, और उसमें संस्कृत शब्दों का प्राचुर्य से प्रयोग किया जाता था। तुखारी के समान सुग्ध देश की इस प्राचीन भाषा के भी अनेक अभिलेख तथा बौद्ध ग्रन्थों के अनुवाद गत वर्षों में प्रकाश में आए हैं। तुङ्-ह्वांग् के गुहाविहारों से जो हजारों ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं, उनमें कुछ ग्रन्थ सुग्ध भाषा के भी हैं। इनमें वज्रच्छेदिका तथा सुवर्णप्रभास के सुग्धी अनुवादों के अंश विशेष महत्त्व के हैं। इनके अतिरिक्त वेसन्तर जातक तथा नीलकंठ धारिणी के अनुवादों के भी कुछ भाग वहाँ से प्राप्त हुए हैं। पश्चिमी तुर्किस्तान के प्रदेश इस समय रूस के सोवियत संघराज्य के अन्तर्गत हैं। १९३३ के लगभग समर-कन्द के समीप मुग पर्वत के एक प्राचीन स्थान की खुदाई में ७० अभिलेख प्राप्त हुए थे, जो चर्मपत्रों पर लिखे हुए हैं। इनका सम्बन्ध सुग्ध देश के एक राजा से है, जिसने अरवों के आक्रमण से अपने देश की रक्षा के लिए घोर संघर्ष किया था। ये अभिलेख

सुग्धी भाषा में हैं, और इनसे इस प्राचीन भाषा के सम्बन्ध में अच्छा परिचय प्राप्त किया जा सकता है। सुग्ध के लोग अच्छे व्यापारी थे, यह पहले लिखा जा चुका है। व्यापार के सिलसिले में वे दूर-दूर तक आया-जाया करते थे। इसी प्रयोजन से उन्होंने मध्य एशिया के अन्य प्रदेशों में भी अपनी कुछ बस्तियाँ बसायी हुई थीं। इसलिए सुग्ध देश से बाहर अन्यत्र भी इस भाषा के कुछ अभिलेख मिले हैं। बौद्ध ग्रन्थों के सुग्धी भाषा के अनुवादों के अंश या तो तुङ्-ह्वांग् से मिले हैं और या लोबनौर के दक्षिण के एक ऐसे स्थान से जहाँ सुग्धी व्यापारियों ने अपनी एक बस्ती बसायी हुई थी।

मध्य एशिया की प्राचीन भाषाओं में उइगूर भाषा का उल्लेख करना भी आवश्यक है। उइगूर तुर्कों की एक शाखा थी, और नौवीं सदी तक उन्होंने मध्य एशिया के अच्छे बड़े भाग पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। मध्य एशिया के अन्य निवासियों के समान उइगूर तुर्कों ने भी बौद्ध धर्म को स्वीकार कर लिया था। इसीलिए बहुत-से बौद्ध ग्रन्थ उनकी भाषा में भी अनूदित किए गए थे। ये अनुवाद प्रायः तुखारी भाषा से किए गए थे। उइगूर में अनूदित एक ग्रन्थ की पुष्पिका में लिखा है—"षट्तंत्रिकाव्यधर वैभाषिक संघदास ने कुइ-सन भाषा से तुखारी भाषा में अनूदित किया, और शीलसेन ने तुखारी भाषा से 'दशकर्मबुद्धावदानमाला' पवित्र ग्रन्थ को तुर्क भाषा में अनूदित किया।"

मध्य एशिया की ये पुरानी भाषाएं अब प्रायः लुप्त हो चुकी है, यद्यपि कहीं-कहीं इस समय भी ये प्रयोग में आती हैं। पर इन्हें बोलने वाले लोगों की संख्या अब बहुत कम रह गई है।

छठा अध्याय

चीन के साथ भारत का सांस्कृतिक सम्बन्ध

(१) चीन जाने-आने के विभिन्न मार्ग

भारत और चीन का सम्बन्ध बहुत पुराना है। आर्थिक, धार्मिक और सांस्कृतिक सभी क्षेत्रों में चिरकाल से इन दोनों देशों में सम्बन्ध रहा है। यही कारण है, जो महाभारत और मनुस्मृति जैसे प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में चीन का उल्लेख है, और रेशम के विविध प्रकार के वस्त्रों का विवरण देते हुए कौटलीय अर्थशास्त्र में चीनपट्ट को श्रेष्ठ रेशम कहा गया है। भारत और चीन के सम्बन्ध का सूत्रपात किस प्रकार हुआ, इस विषय पर पहले प्रकाश डाला जा चुका है।

चीन और भारत दोनों ही विशाल देश हैं, और स्थल तथा जल दोनों प्रकार के मार्गों से इन देशों में सम्बन्ध रहा है। इस प्रकरण में हम इन्हीं मार्गों का निदर्शन करेंगे।

मध्य एशिया का मार्ग—चीन के पश्चिम में मध्य एशिया की स्थिति है, जिस का एक भाग वर्तमान समय में चीन के जनवादी गणतन्त्र राज्य के अन्तर्गत है। इसे सिंगकियाँग या चीनी तुर्किस्तान कहा जाता है। मध्य एशिया का दूसरा भाग रूस के समाजवादी सोवियत रिपब्लिक में है, जहाँ अब कजाकिस्तान, उजबेकिस्तान आदि के गणराज्य हैं। मध्य एशिया के इन दोनों भागों में प्राचीन काल में अनेक भारतीय उपनिवेशों की सत्ता थी, और उनमें भारतीय धर्मों, सभ्यता तथा संस्कृति का प्रचार था। बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए जो श्रमण और भिक्षु सब से पहले चीन गए थे, उन्होंने वहाँ जाने के लिए मध्य एशिया के मार्गों का ही प्रयोग किया था। प्राचीन काल में सिंगकियांग चीन के अन्तर्गत नहीं था। उस समय चीन की पश्चिमी सीमा गोबी मरुस्थल के दक्षिण में स्थित तुङ्-ह्वांग् के समीप तक थी। चीन से पश्चिम की ओर के देशों में आने-जाने के लिए तुङ्-ह्वांग् का बहुत महत्त्व था। यहाँ से दो मार्ग पश्चिम की ओर जाते थे। एक मार्ग पश्चिम-दक्षिण दिशा में तकला मकान मरुस्थल के दक्षिण की ओर से जाता था, जो लोपनौर झील के समीप से होता हुआ तुखार, नीया, खोतन आदि से होकर तारीम (सीता) नदी के साथ-साथ उत्तर की ओर मुड़ जाता था, और इस प्रकार यारकन्द जा पहुँचता था। यारकन्द के बाद यह बल्ख तथा पार्थिया की ओर चला जाता था। दूसरा मार्ग लोपनौर झील तथा तकला मकान मरुस्थल के उत्तर से होकर कुचि, तुर्फान आदि होता हुआ काशगर जा पहुँचता था, और वहाँ से वंक्षु नदी की घाटी के प्रदेशों की ओर चला जाता था। काशगर और यारकन्द प्राचीन काल में व्यापार के महत्त्वपूर्ण केन्द्र थे, और स्थल मार्ग द्वारा इन

दोनों का परस्पर सम्बन्ध विद्यमान था। भारत से उत्तर-पश्चिम की ओर जाने वाला प्रधान मार्ग पुरुषपुर (पेशावर), नगरहार (जलालाबाद) और बामियान होकर काबुल नदी के साथ-साथ हिन्दूकुश को पार करता था, और फिर कम्बोज (बदख्शां) होता हुआ पामीर की पर्वतमाला को पार कर काशगर तक चला जाता था। इस प्रकार भारत से चीन जाने-आने के मार्ग मध्य एशिया के क्षेत्र से ही होकर गुजरते थे। शुरू-शुरू में भारत से जो भी बौद्ध प्रचारक चीन गए, उन्होंने इन्हीं स्थल-मार्गों का उपयोग किया, और बौद्ध धर्म तथा साहित्य के अध्ययन के लिए जो चीनी भिक्षु व विद्वान् भारत आए, उन्होंने भी इन्हीं मार्गों का प्रयोग किया। चौथी सदी के अन्त में फाइयान नामक चीनी यात्री ने भारत की यात्रा की थी। ३९९ इस्वी में उसने सीङानफू (चीन के शेन्सी प्रान्त का मुख्य नगर) से अपनी यात्रा का प्रारम्भ किया था, और वह कान-सू प्रान्त के मुख्य नगरों से होता हुआ तुङ्-ह्वांग् पहुँच गया था। यहाँ से उसने तकला मकान मरुस्थल के दक्षिण के मार्ग का अनुसरण किया, और लोपनौर के समीप से होता हुआ वह उन प्रदेशों में पहुँच गया, जो मध्य एशिया के दक्षिणी क्षेत्र में भारतीय संस्कृति के प्रधान केन्द्र थे। खोतन इनमें मुख्य था। खोतन से वह काशगर पहुँचा, और वहाँ से सरीकोल तथा पामीर की पर्वतमालाओं को पार कर वह गिल्गित की घाटी में पहुँच गया। फाइयान तकला मकान मरुस्थल के दक्षिणवर्ती सीधे मार्ग से भारत नहीं आया था। मध्य एशिया के कतिपय ऐसे स्थानों की भी उसने यात्रा की थी, जो इस मार्ग से हटकर स्थित थे, पर उस काल में जो बौद्ध धर्म के महत्त्वपूर्ण केन्द्र थे।

प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्यु एन्-त्सांग ने चीन से भारत आते हुए उस मार्ग का अनुसरण किया था, जो तकला मकान मरुस्थल के उत्तर से होकर जाता है। तुङ्-ह्वांग् के प्रदेश से उसने तुर्फान, काराशहर, कुची और भरुक की यात्रा की थी। ये सब प्रदेश तकला मकान मरुस्थल के उत्तर में और थियानशान पर्वतमाला के दक्षिण में स्थित हैं। इन प्रदेशों से होकर ह्यु एन-त्सांग ने थियान शान पर्वतमाला को पार किया, और वह इसिक-कुल झील के उत्तर में जा पहुँचा। इसिक-कुल झील से वह सुग्ध देश गया, और वहाँ से कपिशा के मार्ग से होकर भारत आ गया। अपनी वापसी यात्रा में ह्यु एन्-त्सांग ने मध्य एशिया के दक्षिणी मार्ग का उपयोग किया। कपिशा से वह बदख्शां गया, और पामीर की पर्वतमाला को पार कर काशगर, यारकन्द तथा खोतन होता हुआ लोबनौर जाकर वहाँ से वह सीङानफू चला गया।

मध्य एशिया से चीन जाने-आने के ये मार्ग प्राचीन काल में बहुत प्रयोग में आते थे। कितने ही बौद्ध विद्वानों और भिक्षुओं ने इन्हीं का अनुसरण कर भारत से चीन की यात्रा की थी।

असम का मार्ग—भारत से चीन जाने-आने के लिए एक अन्य स्थल मार्ग भी विद्यमान था, जो असम तथा उत्तरी बरमा होकर चीन के शेचुआन तथा युन्नान प्रान्तों में पहुँचता था। व्यापारी लोग इस का अधिक प्रयोग नहीं करते थे, क्योंकि यह ऐसे प्रदेशों से होकर गुजरता था, जिनमें अनेक जंगली जातियों का निवास था। पर इसमें

सन्देह नहीं, कि प्राचीन काल में यह मार्ग भी प्रयोग में आता था। चीन के सम्राट् वू-ती (१४२-८५ ई० पू०) ने १३८ ई० पू० में चाङ्-कियन नामक दूत को इस प्रयोजन से पश्चिम के प्रदेशों में भेजा था, ताकि वह युइशि लोगों के साथ सम्पर्क स्थापित करे और हूणों का सामना करने के लिए उनका सहयोग प्राप्त करे। इस यात्रा में चाङ्-कियन ने बल्ख के बाजार में चीनी रेशम और बाँस की बनी वस्तुओं को बिकते हुए देखा। पूछने पर उसे पता लगा, कि ये वस्तुएं शिन्-तू (सिन्ध या हिन्द) देश से बल्ख में बिकने के लिए आती हैं। उस समय तक चीन और मध्य एशिया के विविध प्रदेशों में परस्पर व्यापार नहीं हुआ था। चीन की दक्षिणी सीमा के समीपवर्ती प्रदेशों से किरात लोग चीन के व्यापारी माल को भारत ले आया करते थे, और वहाँ से भारत के उत्तर-पश्चिमी मार्गों से उसे बल्ख आदि के बाजारों में विक्रय के लिए ले जाते थे। ये किरात व्यापारी असम के स्थल मार्ग का ही अपने व्यापार के लिए उपयोग करते थे। ९७ ई० में शान (उत्तरी बरमा में) राज्य के राजा योंग येऊ तिआओ ने चीन के सम्राट् की अधीनता स्वीकार कर ली थी। अपने अधिपति चीनी सम्राट् की सेवा में शान राज्य के इस राजा ने कुछ गायक और मदारी उपहार के रूप में भेजे थे, जो असम तथा उत्तरी बरमा के स्थल मार्ग से ही चीन पहुँचाये गए थे। चीन के युन्नान प्रान्त की एक प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार बौद्ध धर्म के जो प्रचारक पहले-पहल धर्म प्रचार के लिए चीन गए थे, उन्होंने भी इसी मार्ग का प्रयोग किया था। ये बौद्ध प्रचारक काश्यप मातङ्ग और धर्मरत्न थे। प्रसिद्ध चीनी यात्री यि-त्सिंग ने अनेक ऐसे चीनी विद्वानों का चरित्र लिखा है, जिन्होंने भारत की यात्रा की थी। इसमें उसने एक पुरानी अनुश्रुति का उल्लेख किया है, जिसके अनुसार गुप्त वंश के राजा श्रीगुप्त ने बोधिवृक्ष के समीप एक चीनी विहार का निर्माण कराया था, ताकि वे बीस चीनी भिक्षु वहाँ सुखपूर्वक निवास कर सकें, जोकि असम तथा उत्तरी बरमा के मार्ग से भारत आए थे।

ह्युएन्-त्सांग भारत की यात्रा करते हुए कामरूप (असम की राजधानी) भी गया था। वहाँ के राजा भास्करवर्मा ने उसे अपने राज्य में पधारने के लिए निमन्त्रित किया था। कामरूप जाकर ह्युएन्-त्सांग को ज्ञात हुआ, कि असम से शे-चुआन (चीन का दक्षिणी प्रान्त) जाने में दो मास का समय लगता है। पर चीन जाने का यह मार्ग बहुत कठिन है। इस से अत्यन्त विकट पर्वतों को पार करना होता है, और यह मार्ग जहरीली वनस्पतियों तथा साँपों से परिपूर्ण है। जब भास्करवर्मा को ज्ञात हुआ, कि ह्युएन्-त्सांग महाचीन देश का निवासी है, तो उसने एक गीत का जिक्र किया, जिसका सम्बन्ध चीन के साथ था। इस गीत में चीन के एक राजा की कीर्ति-गाथा वर्णित थी, जिस द्वारा उस देश से अराजकता तथा अव्यवस्था का अन्त कर शान्ति तथा व्यवस्था स्थापित की गई थी। चीन का यह राजा तांग वंश का प्रसिद्ध सम्राट् काओ-त्सू था, जिसने कि अपने विद्रोही सेनापति लिऊ वू-चेऊ को परास्त कर अपने देश में न केवल शान्ति स्थापित की थी, अपितु चीन को सुख समृद्धि के मार्ग पर अग्रसर करने में भी अनुपम सफलता प्राप्त की थी (६१९ ई० प०)। इस राजा

की कीर्तिगाथा चीन में सर्वत्र में गायी जाती थी, और उसकी कीर्ति के गीत जो असम में सातवीं सदी के मध्य भाग में प्रचलित हो गए थे, वे इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं कि उस काल में असम के मार्ग से भी भारत और चीन का घनिष्ठ सम्बन्ध विद्यमान था।

पर चाङ्-कियन के प्रयत्न से जब चीन और मध्य एशिया के विविध प्रदेशों का सम्बन्ध भली-भाँति स्थापित हो गया, तो चीन जाने-आने के लिए उन स्थल-मार्गों का प्रयोग अधिक होने लगा, जो कि तकला मकान मरुस्थल के दक्षिण और उत्तर में विद्यमान थे। इस से असम तथा उत्तरी बरमा के स्थल-मार्ग का महत्त्व कम हो गया। पर बाद में भी इस मार्ग का प्रयोग जारी रहा। अनेक चीनी सम्राट् इस मार्ग को निरापद करने का प्रयत्न करते रहे, और बरमा तथा असम के विविध राज्यों के साथ अपने देश का सम्पर्क स्थापित रखने के लिए वे इस मार्ग को प्रयुक्त भी करते रहे। १४०६ ई० में बरमा के राजा अनिरुद्ध ने अपने उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र में स्थित मोंग-यांग के राज्य को जीत कर अपने अधीन कर लिया था। मोंग यांग पर चीन का आधिपत्य स्वीकार किया जाता था। अतः चीन के मिंग वंशी सम्राट् ने बरमा के राजा के पास अपना एक दूतमण्डल यह संदेश देकर भेजा था, कि वह मोंग यांग पर से अपने दावे का परित्याग कर दे। यह दूतमण्डल इसी स्थल-मार्ग से बरमा आया था। १६५२ में जब मुगल सेनापति मीर जुमला ने असम की विजय की, तो उसने यह भी दावा किया था, कि उस द्वारा चीन जाने-आने के इस मार्ग को पुनः निरापद कर दिया गया है।

तिब्बत का मार्ग—भारत से चीन आने-जाने का एक अन्य स्थल-मार्ग तिब्बत से होकर था। सातवीं सदी में तिब्बत का राजा स्रोङ्-त्सान स्गम्पो था, जिसने सम्पूर्ण तिब्बत में अपना सुव्यवस्थित शासन स्थापित करने में अनुपम सफलता प्राप्त की थी। इस तिब्बती राजा ने चीन और नेपाल की राजकुमारियों के साथ विवाह किए थे। चीन की राजकुमारी से विवाह के कारण इस समय तिब्बत और चीन में घनिष्ठ मैत्री-सम्बन्ध स्थापित हो गया था, और चीन के दूतमण्डलों तथा यात्रियों ने तिब्बत आना-जाना प्रारम्भ कर दिया था। भारत और तिब्बत की सीमाएँ आपस में लगती हैं, और इन देशों के बीच स्थल-मार्गों की सत्ता भी है। अतः अब भारत के व्यापारियों, धर्म-प्रचारकों और यात्रियों के लिए तिब्बत होकर चीन जा सकना सम्भव हो गया। नालन्दा का प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् प्रभाकरमित्र तिब्बत के मार्ग से ही चीन गया था। उसे चीन के एक दूतमण्डल द्वारा चीन जाने के लिए निमन्त्रित किया गया था, और वहाँ जाकर प्रभाकरमित्र ने अनेक बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया था। नालन्दा का यह विद्वान् ६२७ ई० में चीन पहुँचा था। इसी समय के लगभग ह्यु एन्-चाओ नामक एक चीनी श्रमण ने तिब्बत के मार्ग से भारत की यात्रा की थी। तिब्बत में इस चीनी श्रमण ने स्रोङ्-त्सान स्गम्पो की चीनी रानी से भी भेंट की थी, और तिब्बत के इस राजा द्वारा उसकी भारत यात्रा की सब व्यवस्था कर दी गई थी। अपनी वापसी यात्रा में भी ह्यु एन्-चाओ ने तिब्बत के मार्ग का अनुसरण किया था।

सातवीं सदी के मध्य भाग में चीन के तांग वंशी राजा ताओ-त्सुंग ने अपना

एक दूतमण्डल भारत भेजा था, जिसका नेता वांग-ह्यु एन्-त्से था। उसके भारत पहुँचने से पूर्व ही कन्नौज के सम्राट् हर्षवर्धन की मृत्यु हो चुकी थी (६४६ ईस्वी), और उसके अन्यतम अमात्य अर्जुन अरुणांश्व ने कन्नौज की राजगद्दी पर अधिकार कर लिया था। अर्जुन ने चीन के दूतमण्डल का यथोचित सत्कार करने के बजाय उसकी सब सम्पत्ति को लूट लिया। इस पर वांग ह्यु एन्-त्से तिब्बत चला गया, और वहाँ के राजा से सहायता प्राप्त कर उसने अपने अपमान का प्रतिशोध किया। वांग-ह्यु एन्-त्से के नेतृत्व में चीन का जो दूतमण्डल भारत आया था, उसने तिब्बत के स्थल मार्ग का ही प्रयोग किया था, इससे पहले ६४१ ई० में हर्षवर्धन द्वारा भी एक भारतीय दूतमण्डल चीन भेजा गया था, जिसने भी तिब्बत के मार्ग से ही यात्रा की थी। इससे सूचित होता है, कि सातवीं सदी में इस स्थल-मार्ग का भलीभाँति प्रयोग हुआ करता था। पर तिब्बत के प्रतापी राजा स्रोङ्-त्सान स्गम्पो की ६५० ई० में जब मृत्यु हो गई, तो तिब्बत और चीन में मैत्री सम्बन्ध कायम नहीं रह सका। इसका परिणाम यह हुआ, कि भारत से चीन आने-जाने का यह स्थल-मार्ग निरापद नहीं रह गया।

तेरहवीं सदी में चीन के शक्तिशाली मंगोल सम्राट् कुबले खाँ ने अपनी शक्ति का विस्तार करते हुए जब तिब्बत से भी अपनी अधीनता स्वीकार करा ली, तो तिब्बत होकर जाने वाले इस स्थल-मार्ग का पुनः प्रयोग प्रारम्भ हुआ, और कितने ही बौद्ध विद्वान् इस मार्ग द्वारा भी भारत से चीन गये।

समुद्र मार्ग—भारत के व्यापारी अत्यन्त प्राचीन काल में भी समुद्र मार्ग से दूर-दूर तक व्यापार के लिए जाया करते थे। बौद्ध ग्रन्थों में सुवर्णद्वीप जाकर व्यापार करने वाले व्यापारियों का उल्लेख है, जो समुद्र के मार्ग से पूर्व दिशा में स्थित इस प्रदेश में जाया करते थे। राजा अशोक के समय में विदेशों में बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए जो महान् आयोजन हुआ था, उसमें स्थविर उत्तर और सोण के नेतृत्व में एक प्रचारक मण्डल सुवर्णद्वीप भी गया था। भारत के लोग अपने देश के पूर्व में विद्यमान बरमा तथा उसके परे के पूर्वी प्रदेशों को सुवर्णद्वीप कहा करते थे। ईस्वी सन् के प्रारम्भ-काल के लगभग भारतीयों ने इन पूर्वी प्रदेशों में अपने उपनिवेश बसाने भी प्रारम्भ कर दिये थे। पहली सदी तक दक्षिणी बरमा और जावा आदि में अनेक भारतीय बस्तियाँ स्थापित हो चुकी थीं, और कम्बोडिया व विएतनाम में भी भारतीयों के प्रवेश का सूत्रपात हो गया था। चीन की एक प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार कौन्डिन्य नाम के एक ब्राह्मण ने पहली सदी ईस्वी में कम्बोडिया के क्षेत्र में एक भारतीय उपनिवेश की स्थापना की थी, जिसे चीनी लोगों ने फूनान नाम से लिखा है। कौन्डिन्य ने इस प्रदेश के मूल निवासियों की रानी सोमा के साथ विवाह कर एक नये राजवंश का प्रारम्भ किया था। फूनान के बाद चम्पा आदि अन्य भी अनेक भारतीय उपनिवेश उन प्रदेशों में स्थापित हुए, जहाँ वर्तमान समय में विएतनाम और कम्बोडिया के राज्य हैं। इन उपनिवेशों की स्थापना के कारण भारतीयों का समुद्र मार्ग द्वारा दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध प्रदेशों में जाना-आना प्रारम्भ हो गया था। फूनान और चम्पा द्वारा से भारतीयों का सम्बन्ध चीन के साथ भी स्थापित हुआ और वे स्थल तथा जल—दोनों मार्गों से चीन जाने-आने लगे।

दक्षिण-पूर्वी एशिया के भारतीय उपनिवेशों से समुद्र द्वारा चीन जाने वाला मार्ग तोन्किन होकर जाता था, जिसे चीन ने दूसरी सदी ई० पू० में जीत कर अपने अधीन कर लिया था। समुद्र के मार्ग से चीन जाने के लिए उस समय तोन्किन ही प्रमुख बन्दरगाह था। रोम के सम्राट् मार्कस ऑरीलिअस ने १६६ ईस्वी में अपना एक दूतमण्डल चीन भेजा था, जो जहाज पर तोन्किन तक गया था। जो बौद्ध श्रमण और भिक्षु अपने धर्म के प्रचार के लिए दक्षिण-पूर्वी एशिया के चम्पा, फूनान आदि भारतीय उपनिवेशों से चीन गये, उन्होंने प्राय: समुद्रमार्ग का ही प्रयोग किया। जहाजों द्वारा तोन्किन पहुँचकर वे वहाँ से चीन में प्रविष्ट हुए। पर चीन के समुद्र-तट पर अन्य भी अनेक बन्दरगाहों की सत्ता थी, जिनमें कैन्टन मुख्य था। धीरे-धीरे तोन्किन के मुकाबले में कैन्टन का महत्त्व अधिक बढ़ गया, और भारत तथा उसके पूर्वी उपनिवेशों के व्यापारी तथा धर्म-प्रचारक तोन्किन के बजाय कैन्टन जाने लगे। कैन्टन के महत्त्व में यह वृद्धि सर्वथा स्वाभाविक थी। तोन्किन की स्थिति अनाम के प्रदेश में है, जो चीन का अंग न होकर उसका अधीनस्थ प्रदेश था। कैन्टन ठेठ चीन में है, और प्राकृतिक रूप से एक अत्यन्त उत्तम बन्दरगाह है। ९६८ ईस्वी में अनाम चीन की अधीनता से मुक्त हो गया, जिसके कारण समुद्र द्वारा चीन जाने-आने के लिए तोन्किन का कोई महत्त्व नहीं रहा। इसीलिए दसवीं सदी के पश्चात् कैन्टन ही चीन का मुख्य बन्दरगाह बन गया।

समुद्र द्वारा भारत से दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध प्रदेशों तथा द्वीपों को जाने-आने की परम्परा ईस्वी सन् के प्रारम्भ से पूर्व ही भलीभाँति विकसित हो गई थी। कम्बोडिया, विएत-नाम और जावा आदि में भारतीय उपनिवेशों के स्थापित हो जाने पर भारत के व्यापारी और धर्मप्रचारक चीन भी जाने लगे थे। पाँचवीं सदी के पूर्वार्ध में इस समुद्रमार्ग का कितना अधिक प्रयोग होने लग गया था, इसका परिचय फाइयान के यात्रा विवरण द्वारा किया जा सकता है। फाइयान मध्य एशिया के स्थलमार्ग से भारत आया था, और समुद्र द्वारा अपने देश चीन को वापस लौटा था। पाटलिपुत्र से उसने एक नौका द्वारा गंगा नदी की यात्रा की थी, और पूर्व की ओर गङ्गा के दक्षिणी तट पर स्थित चम्पा नगरी में जा पहुँचा था। उन दिनों चम्पा नगरी व्यापार का महत्त्वपूर्ण केन्द्र थी। गंगा द्वारा पूर्व दिशा में यात्रा करते हुए फाइयान ताम्रलिप्ति गया था, जो बंगाल की खाड़ी में एक प्रसिद्ध बन्दरगाह था। ताम्रलिप्ति उस स्थान के समीप स्थित थी, जहाँ गंगा समुद्र में जा मिलती है। फाइयान ने ताम्रलिप्ति से एक बड़े व्यापारी ज़हाज पर यात्रा प्रारम्भ की, और दो सप्ताह पश्चात् वह सिंहल द्वीप पहुँच गया। सिंहल से यवद्वीप (जावा) पहुँचने में उसे ९० दिन लगे। उन दिनों जावा में भारतीय लोग अच्छी बड़ी संख्या में निवास करते थे, और वे प्रधानतया शैव धर्म के अनुयायी थे। फाइयान जिस जहाज से जावा गया था, उसमें २०० भारतीय व्यापारी भी यात्रा कर रहे थे। पर समुद्र में तूफान आ जाने के कारण जहाज भटक गया, और ७० दिनों में भी कैन्टन नहीं पहुँच सका। बड़ी कठिनाई के पश्चात् जहाज चीन पहुँचा, और फाइयान अपने देश को वापस जाने में समर्थ हुआ (४१४ ईस्वी)। फाइयान के यात्रा विवरण से भारत और चीन के समुद्री मार्ग का अच्छा परिचय प्राप्त होता है।

फाइयान के कुछ समय बाद गुणवर्मा नामक राजकुमार ने भी समुद्र के मार्ग से चीन की यात्रा की थी। वह काश्मीर के राजा संघानन्द का पुत्र तथा हरिभद्र का पौत्र था। बचपन से ही वह बौद्ध धर्म के प्रति अनुरक्त हो गया था। उसने राज-सिंहासन की परवाह न कर भिक्षु व्रत ग्रहण कर लिया था, और बौद्ध धर्म के प्रचार में ही अपने जीवन को लगा देने का संकल्प कर लिया था। पहले वह सिंहल द्वीप (श्रीलंका) गया, और कुछ समय वहाँ रह कर उसने जावा के लिये प्रस्थान कर दिया। जावा में गुणवर्मा ने बौद्ध धर्म के प्रचार में अनुपम सफलता प्राप्त की, और वहाँ के राजा को भी बौद्ध धर्म में दीक्षित किया। जावा से वह चीन गया। जिस जहाज से गुणवर्मा ने चीन की यात्रा की थी, वह नन्दी नाम के भारतीय व्यापारी का था। वह ४३३ ईस्वी में कैन्टन पहुँचा था, और वहाँ से स्थल मार्ग द्वारा नानकिंग गया था। गुणवर्मा के पश्चात् अन्य भी बहुत से बौद्ध प्रचारक समुद्र के मार्ग से चीन गये थे, जिनमें परमार्थ का नाम उल्लेखनीय है। वह उज्जैन का निवासी था, और जावा होकर चीन गया था।

(२) चीन में बौद्ध धर्म के प्रचार का प्रारम्भ

चीन और भारत के सांस्कृतिक सम्बन्ध का आधार बौद्ध धर्म है। भारत और उसके विविध उपनिवेशों से बहुत-से बौद्ध श्रमण और भिक्षु समय-समय पर चीन जाते रहे, और उन्होंने वहाँ के निवासियों को तथागत बुद्ध के धर्म में दीक्षित करने में सफलता प्राप्त की। चीन की प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार २१७ ईस्वी पूर्व में कतिपय बौद्ध प्रचारक चिन वंशी सम्राट् शेहुआंग के दरबार में गए थे। इस अनुश्रुति को विश्वसनीय नहीं माना जाता, क्योंकि इतने अधिक प्राचीन काल में भारतीय भिक्षुओं का सुदूरवर्ती चीन में जाना ऐतिहासिकों को सम्भव प्रतीत नहीं हुआ। पर भारत और चीन में व्यापार-सम्बन्ध इस काल में विद्यमान था, यह कौटलीय अर्थशास्त्र में उल्लिखित 'चीन पट्ट' द्वारा प्रमाणित है। यदि तीसरी सदी ईस्वी पूर्व में भारतीयों को चीन का परिचय था, और भारत के व्यापारी व्यापार के प्रयोजन से चीन भी जाया-आया करते थे, तो यह असम्भव नहीं है कि कुछ बौद्ध भिक्षु भी इस काल में चीन गये हों और वहाँ उन्होंने बौद्ध धर्म के प्रचार का सूत्रपात किया हो। राजा अशोक के समय में विदेशों में बौद्ध धर्म के प्रचार का जो आयोजन आचार्य उपगुप्त के नेतृत्व में किया गया था, उसमें स्थविर मज्झिम को हिमवन्त देशों में प्रचार का कार्य सुपुर्द किया गया था। मज्झिम के साथ कस्सपगोत और दुन्दुभिसर आदि अन्य भी अनेक भिक्षु हिमवन्त देशों में प्रचार के लिए गये थे। इन प्रचारकों ने काश्मीर और गान्धार में बौद्ध धर्म का प्रचार किया ही था। यह असम्भव नहीं है, कि ये प्रचारक अथवा उनके कोई साथी समयान्तर में चीन भी पहुँच गये हों, क्योंकि इस काल में भारतीयों का चीन जाना-आना प्रारम्भ हो चुका था।

यह पहले लिखा जा चुका है, कि १३८ ईस्वी पूर्व में चीन के सम्राट् वू-ती (१४२-८५ ई० पू०) ने चाङ्-कियन नामक दूत को इस प्रयोजन से युइशि लोगों के साथ सम्पर्क स्थापित करने के लिए भेजा था, ताकि हूणों के विरुद्ध उनका सहयोग प्राप्त

किया जा सके। चाङ्-कियन ने न केवल युइशि लोगों से, अपितु मध्य एशिया के बहुत-से राज्यों के साथ भी सम्पर्क स्थापित किया, और उस द्वारा इस क्षेत्र के राज्यों तथा निवासियों का जो परिचय चीन के शासकों को प्राप्त हुआ, उससे चीन और पश्चिमी राज्यों के बीच व्यापार की वृद्धि में बहुत सहायता मिली। तकला मकान मरुस्थल के दक्षिण में जो अनेक राज्य उस समय विद्यमान थे, उनमें खोतन का राज्य सर्वप्रधान था। उसके समय खोतन का राजा विजय सम्भव था। चाङ्-कियन ने उससे मैत्री सम्बन्ध स्थापित किया था। ईस्वी सन् की पहली सदी में कुशाणवंशी राजा अत्यन्त शक्तिशाली हो गए थे, और मध्य एशिया के अनेक प्रदेश भी उनके शासन में आ गए थे। कुशाण राजा जब पंजाब और उसके समीपवर्ती भारतीय प्रदेशों में अपने साम्राज्य का विस्तार करने में तत्पर थे, चीन के सम्राट् हो-ती ने अपने सेनापति पान-छाओ को मध्य एशिया में अपनी शक्ति की स्थापना का कार्य सुपुर्द किया (७३ ई० प०)। खोतन के राजा की सहायता से पान-छाओ ने तकला मकान के दक्षिण में स्थित सब राज्यों से चीन की अधीनता स्वीकार करा ली, और फिर पश्चिम की पर्वतमालाओं को लांघ कर सुग्ध देश की भी विजय कर ली। यद्यपि मध्य एशिया के इन प्रदेशों पर चीन का प्रभुत्त्व देर तक कायम नहीं रह सका, क्योंकि कुशाण वंश के प्रतापी राजा कनिष्क ने इन्हें अपने साम्राज्य के अन्तर्गत कर लिया था, पर पान-छाओ की विजयों का यह परिणाम अवश्य हुआ, कि चीन और मध्य एशिया के पारस्परिक सम्बन्धों में बहुत वृद्धि हो गई। यही समय था, जब कि काश्यप मातंग और धर्मरत्न (या धर्मरक्ष) नामक दो भिक्षु चीन गये थे, और वहाँ उन्होंने भगवान् तथागत के धर्म का प्रचार प्रारम्भ किया था। चीन की एक प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार चीन के हान वंशी राजा मिग-ती को स्वप्न में एक सुवर्ण-पुरुष दिखाई दिया। इस पुरुष के विषय में उसने अपने दरबारियों से प्रश्न किया। उन्होंने मिग-ती को बताया, कि जो सुवर्ण-पुरुष उन्हें सुपने में दिखाई दिया था, वह बुद्ध है। इस पर मिग-ती ने अपने दूत इस प्रयोजन से पश्चिम दिशा की ओर भेजे, ताकि वे बौद्ध धर्म के श्रमणों व भिक्षुओं को चीन आने के लिए निमन्त्रित करें। इसी निमन्त्रण को स्वीकार कर काश्यप मातंग और धर्मरत्न ने असम तथा उत्तरी बरमा के मार्ग से चीन के लिए प्रस्थान किया था (६८ ईस्वी)। चीन जाते हुए ये भिक्षु बौद्ध धर्म के बहुत-से ग्रन्थों को भी अपने साथ ले गए थे, और इन्हें ले जाने के लिए उन्होंने एक श्वेत अश्व का उपयोग किया था। सम्राट् मिग-ती के आदेश से इन भारतीय भिक्षुओं के निवास के लिए एक विहार का निर्माण कराया गया, जिसका नाम 'श्वेताश्व विहार' रखा गया। काश्यप मातंग और धर्मरत्न ने अपना शेष जीवन इस विहार में ही व्यतीत किया, और वहाँ रहते हुए उन्होंने बहुत-से बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। ये भिक्षु असम-बरमा के मार्ग से चीन गए थे या मध्य एशिया के मार्ग से, इस सम्बन्ध में मतभेद है। पर इसमें सन्देह नहीं कि इनके आगमन से उस प्रक्रिया का प्रारम्भ हो गया, जिसके परिणामस्वरूप भविष्य में चीन के बहुसंख्यक निवासी बौद्ध धर्म के अनुयायी हो गए। पर ६८ ईस्वी से पूर्व भी चीनी लोग बौद्ध धर्म से परिचय प्राप्त कर चुके थे। इसी कारण मिग-ती को सुपने में दिखायी दिया सुवर्ण-पुरुष

बुद्ध था, यह बात उसके दरबारी बता सके थे। चीन की एक पुरानी कथा के अनुसार ईस्वी सन् के प्रारम्भ होने से दो वर्ष पूर्व युइशि लोगों के राज्य में स्थित चीनी राजदूत त्सिग कियांग को युइशि राजा ने कुछ बौद्ध ग्रन्थ भेंट किए थे, जिन्हें उसने अपने सम्राट् की सेवा में चीन भेज दिया था।

राजा अशोक के समय में भारतीय बौद्ध भिक्षुओं के चीन जाने की बात में चाहे सचाई न हो, पर यह असंदिग्ध है कि ईसा की पहली सदी में चीन में बौद्ध धर्म का प्रचार प्रारम्भ हो गया था। काश्यप मातंग और धर्मरत्न के बाद बौद्ध श्रमण और भिक्षु निरन्तर चीन जाते रहे। ये प्रायः मध्य एशिया से चीन जाते थे, और ये केवल भारतीय ही नहीं होते थे। मध्य एशिया के विविध प्रदेशों में इस समय तक बौद्ध धर्म का भलीभाँति प्रचार हो चुका था, और सुग्ध, पार्थिया, सीस्तान, तुखार, खोतन, कुची आदि के निवासी बौद्ध धर्म में दीक्षित हो गए थे। ये सब प्रदेश भारतीयों से परिपूर्ण थे, और इनका स्वरूप भारत के उपनिवेशों के समान या। इन प्रदेशों में निवास करने वाले युइशि तथा शक आदि लोग भी इस समय तक बौद्ध धर्म को अपना चुके थे। यही कारण है, जो बहुत-से पार्थियन, युइशि आदि जातियों के बौद्ध विद्वान् भी धर्म-प्रचार के लिए चीन गए, और वहाँ उन्होंने भारतीय प्रचारकों के साथ मिलकर भगवान् बुद्ध के धर्म का प्रचार किया। चीन में बौद्ध धर्म का प्रचार करने वाले विविध जातियों के इन विद्वानों व भिक्षुओं का संक्षेप से उल्लेख करना उपयोगी होगा।

युइशि (ऋषिक) प्रचारक—वंक्षु नदी के समीपवर्ती प्रदेशों में निवास करने वाले युइशि जाति के लोग बौद्ध धर्म को स्वीकार कर चुके थे, और उनमें से कतिपय ने भिक्षु व्रत भी ग्रहण कर लिया था। जिन युइशि विद्वानों व भिक्षुओं ने चीन जाकर बौद्ध धर्म के प्रचार के सम्बन्ध में विशेष कार्य किया, उनमें सर्वप्रथम लोकक्षेम नाम का एक भिक्षु था, जो १४७ ईस्वी में चीन गया था। उसने लो-यांग को केन्द्र बनाकर अपना कार्य प्रारम्भ किया और महायान सम्प्रदाय के अनेक ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। लोकक्षेम द्वारा अनूदित अनेक ग्रन्थ इस समय भी पाए जाते हैं, और उनसे उसके कार्य के महत्त्व का भलीभाँति अनुमान किया जा सकता है। १४७ से १८८ ईस्वी तक ४१ वर्ष के सुदीर्घ काल में इस भिक्षु ने चीन में बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए अत्यन्त सराहनीय कार्य किया। लोकक्षेम का एक शिष्य चे-कियन था, जो अपने गुरु के समान युइशि जाति का ही था। उत्तरी चीन की राजनीतिक अव्यवस्था के कारण वह लो-यांग से नानकिंग चला गया, और दक्षिणी चीन की इस नगरी को केन्द्र बनाकर उसने अपना कार्य प्रारम्भ किया। २२० से २५३ ईस्वी तक के काल में उसने सौ से भी अधिक बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया, जिनमें से ४६ अब तक भी विद्यमान हैं। इस द्वारा अनूदित ग्रन्थ भी महायान सम्प्रदाय के आगमों के अन्तर्गत हैं। दक्षिणी चीन को अपना क्षेत्र बनाकर कार्य करने वाले बौद्ध भिक्षुओं में चे-कियन का सर्वप्रथम स्थान है।

चीन में धर्मप्रचार का कार्य करने वाले युइशि जाति के भिक्षुओं में धर्मरक्ष का विशेष महत्त्व है। उसका जन्म तीसरी सदी के मध्य भाग में एक ऐसे युइशि परिवार

में हुआ था, जो कि तुङ्-ह्वांग में बसा हुआ था। उसने अपनी शिक्षा एक भारतीय भिक्षु के चरणों में बैठकर प्राप्त की थी। अपने भारतीय गुरु के साथ उसने मध्य एशिया के बौद्ध विहारों की यात्रा की, और वह भारत के समीपवर्ती प्रदेशों में भी गया। इस प्रकार भ्रमण करते हुए धर्मरक्ष ने ३६ भाषाएँ सीख लीं, और बौद्ध धर्म का गम्भीर ज्ञान प्राप्त कर लिया। वह अत्यन्त प्रतिभाशाली व्यक्ति था, और केवल तुङ्-ह्वांग को अपना कार्यक्षेत्र बनाकर सन्तुष्ट नहीं रह सकता था। अतः २८४ ईस्वी में उसने चीन के लिए प्रस्थान कर दिया, और इस विशाल देश को अपना कार्यक्षेत्र बनाया। ३१३ ईस्वी तक वह अपने कार्य में व्यापृत रहा। इस बीच में उसने २०० से भी अधिक संस्कृत ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया, जिनमें से ९० अब तक भी उपलब्ध हैं। चीन में रहते हुए धर्मरक्ष ने अनुवादकों के एक संघ को भी संगठित किया, जिसमें भारतीय, युइशि, चीनी आदि विविध जातियों के विद्वान् व भिक्षु एक साथ मिल कर कार्य करते थे। लोकक्षेम, चे-कियन तथा धर्मरक्ष के समान युइशि जाति के अन्य भी बहुत-से भिक्षु चीन में बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए गए थे। कुशाण वंशी राजा भी युइशि जाति के ही थे, और भारत के सम्पर्क में आकर वे पूर्णतया भारतीय बन गए थे। कनिष्क सदृश कुशाण राजाओं के अनुकरण में युइशि लोग भी पूरी तरह से भारत के रंग में रंग गए थे और उत्तर-पश्चिमी भारत के अन्य निवासियों से उनका कोई भेद नहीं रह गया था।

पार्थियन प्रचारक—हूणों के आक्रमणों के कारण मध्य एशिया के उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र में जो हलचल उत्पन्न हो गई थी, उसका संक्षिप्त रूप से उल्लेख पहले किया जा चुका है। हूणों ने युइशियों को धकेला था, और युइशियों ने शकों को। युइशियों से धकेले जाकर शकों की एक शाखा ने पार्थिया को आक्रान्त किया। पार्थिया के अनेक राजा शकों का सामना करने में असमर्थ रहे। पर पार्थियन राजा मिथ्रिदातस द्वितीय (१२३-८८ ई० पू०) शकों से अपने राज्य की रक्षा कर सकने में सफल हुआ, और उसके एक उत्तराधिकारी ने अपनी शक्ति का विस्तार करते हुए भारत पर भी आक्रमण किया। इस आक्रमण के कारण भारत के उत्तर-पश्चिमी कोने में जिस पार्थियन राज्य की स्थापना हुई, उसका मूल पार्थियन राज्य के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहा, और इस प्रकार उत्तर-पश्चिमी भारत में एक पृथक् पार्थियन राज्य की स्थापना हुई। इस नए पार्थियन राज्य का प्रथम राजा वोनोनस (वनान) था। यहाँ हमें पार्थिया के इन राजाओं के इतिहास का उल्लेख करने की कोई आवश्यकता नहीं है। महत्त्व की बात केवल यह है, कि भारत के सम्पर्क में आकर पार्थिया के राजाओं, क्षत्रपों तथा साधारण लोगों ने भी बौद्ध धर्म तथा भारतीय संस्कृति को अपना लिया था। अनेक पार्थियन लोग भिक्षुव्रत ग्रहण कर बौद्ध धर्म के अध्ययन तथा प्रचार में भी व्यापृत हो गए थे, और उनमें से कुछ ने चीन में भी अपने धर्म के प्रसार के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण कार्य किया था। यहाँ हमें इन्हीं पार्थियन भिक्षुओं का उल्लेख करना है।

दूसरी सदी के मध्य भाग में एक पार्थियन भिक्षु चीन गया था, चीनी साहित्य में जिसे न्गन-चे-काओ कहा गया है। इसका संस्कृत नाम लोकोत्तम था। यह एक

राजकुमार था, पर राजसिंहासन पर आरूढ़ होने के विचार का परित्याग कर इसने भिक्षुव्रत ग्रहण कर लिया था। बौद्ध धर्म के ग्रन्थों का गम्भीरता से अध्ययन कर वह चीन गया, और वहाँ के श्वेताश्व विहार को केन्द्र बनाकर उसने बौद्ध ग्रन्थों के चीनी भाषा में अनुवाद तथा धर्मप्रचार के कार्य को प्रारम्भ किया। इस विहार के सम्बन्ध में इसी अध्याय में ऊपर लिखा जा चुका है। काश्यप मातंग और धर्मरत्न के लिए इसे लो-यांग में बनवाया गया था। श्वेताश्व विहार में लोकोत्तम द्वारा अनुवादकों के एक पीठ की स्थापना की गई, और उसने स्वयं सौ से भी अधिक बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया, जिनमें से ५५ इस समय भी उपलब्ध हैं। लोकोत्तम द्वारा स्थापित अनुवाद-पीठ में जिन बहुत-से विद्वानों ने महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया, उनमें न्गन हिउअन का नाम उल्लेखनीय है। वह भी पार्थियन जाति का था, और व्यापार के लिए लो-यांग में बसा हुआ था। पर श्वेताश्व विहार के बौद्ध विद्वानों के सम्पर्क में आकर उसने धन-सम्पत्ति का त्याग कर दिया और भिक्षुव्रत ग्रहण कर लिया। न्गन हिउअन ने भी अनेक बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया, जिनमें उग्रपरिपृच्छा और द्वादशनिदान विशेष महत्त्व के थे।

लोकोत्तम द्वारा स्थापित अनुवाद पीठ में सुग्ध तथा चीन आदि विविध देशों के भी अनेक भिक्षु कार्य करते थे। इनमें येन-फो-तिआओ नामक चीनी भिक्षु का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वह संस्कृत का प्रकाण्ड पण्डित था, और बौद्ध धर्म के ग्रन्थों का मूल संस्कृत से अनुवाद करने की क्षमता रखता था। श्वेताश्व विहार में उसे आचार्य की उपाधि प्रदान की गई थी, और उसका संस्कृत नाम बुद्धदेव रख दिया गया था। युइशि जाति के भिक्षु लोकक्षेम का उल्लेख इसी प्रकरण में ऊपर किया जा चुका है। लोकक्षेम का प्रधान कार्य-क्षेत्र भी लो-यांग ही था, और लोकोत्तम के अनुवाद-पीठ को उसका भी सहयोग प्राप्त था।

पार्थिया से अन्य भी बहुत-से बौद्ध श्रमण और भिक्षु चीन में बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिए गए थे, पर उन सब का यहां उल्लेख कर सकना सम्भव नहीं है। पर चीन में बौद्ध धर्म के प्रचार के सम्बन्ध में जो कार्य पार्थियन लोकोत्तम द्वारा किया गया, वह अत्यन्त महत्त्व का था। उसी द्वारा स्थापित अनुवादपीठ या विद्यापीठ में शिक्षा प्राप्त कर चीनी भिक्षु येन-फो-तिआओ या बुद्धदेव ने संस्कृत भाषा में अगाध पाण्डित्य प्राप्त किया था। चीन का यह पहला भिक्षु था, जिसे आचार्य की उपाधि से सम्मानित किया गया था।

सुग्ध देश के प्रचारक—बल्ख के उत्तर में वंक्षु (आमू) और रसा (सीर) नदियों के मध्य के प्रदेश को प्राचीन समय में सुग्ध देश कहते थे। इसके निवासी आर्य जाति के थे, और उनका सम्बन्ध भारत के आर्यों की अपेक्षा ईरान के आर्यजातीय लोगों से अधिक था। छठी सदी में यह सुग्ध देश ईरान के साम्राज्य में सम्मिलित भी हो गया था, यद्यपि ईरान के राजा इसे देर तक अपनी अधीनता में नहीं रख सके थे। राजा अशोक के समय में जब विदेशों में बौद्ध धर्म के प्रचार का सूत्रपात हुआ, तो सुग्ध देश में भी अनेक बौद्ध प्रचारक गए और उन्होंने वहाँ के निवासियों को अपने

धर्म में दीक्षित किया। ईस्वी सन् के प्रारम्भ काल तक सुग्ध देश बौद्ध धर्म का एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन चुका था, और उसके श्रमणों तथा भिक्षुओं ने मध्य एशिया के विविध प्रदेशों में पर्यटन भी प्रारम्भ कर दिया था। सुग्ध के ये भिक्षु चीन भी गए थे। न्गान-चे-काओ (लोकोत्तम) ने लो-यांग में जिस अनुवाद पीठ की स्थापना दूसरी सदी ईस्वी के मध्य भाग में की थी, उसमें सुग्ध के भी अनेक विद्वान् कार्य करते थे।

सुग्ध देश के जिन बौद्ध भिक्षुओं ने चीन में धर्म प्रचार के लिएमहत्त्वपूर्ण कार्य किए, उनमें सर्वाधिक प्रसिद्ध सेंग-हुएइ था। उसका पिता तोन्किन (विएत-नाम) में बसा हुआ था, और वहाँ के व्यापारियों में उसका उच्च स्थान था। सेंग-हुएइ का जन्म तीसरी सदी के प्रारम्भ में तोन्किन में हुआ था। जब उसके पिता की मृत्यु हो गई, तो उसने साँसारिक सुख-वैभव का परित्याग कर भिक्षुव्रत ग्रहण कर लिया, और बौद्ध धर्म के ग्रन्थों का भलीभाँति अध्ययन कर धर्मप्रचार के लिए चीन को अपना कार्य-क्षेत्र बनाया। तोन्किन से वह नानकिंग गया, जो दक्षिणी चीन का प्रसिद्ध नगर है। वहाँ उसने एक विहार की स्थापना की, और उसे केन्द्र बनाकर दक्षिणी चीन में अपने कार्य को प्रारम्भ किया। सेंग-हुएइ से पहले चे-कियन नामक युइशि भिक्षु नानकिंग जा चुका था, और वहाँ रहकर उसने अनेक बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया था। पर चे-कियन की स्थिति एक उपासक की थी। उसे यह अधिकार नहीं था, कि वह दूसरों को बौद्ध धर्म में दीक्षित कर सके। दक्षिणी चीन के लोगों को बौद्ध बनाने के सम्बन्ध में सेंग-हुएइ ने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य किया। नानकिंग के राजा को भी उसने बौद्ध-धर्म का अनुयायी बनाया, और इस नगरी में अनेक चैत्यों की भी स्थापना की। उसी के प्रयत्न का यह परिणाम हुआ, कि दक्षिणी चीन में बौद्ध-धर्म की जड़ भली-भाँति जम सकी। सुग्ध देश के इस बौद्ध भिक्षु का संस्कृत नाम संघभद्र था, और उसने भी अनेक बौद्ध-ग्रन्थों का संस्कृत से चीनी भाषा में अनुवाद किया था।

कुची राज्य के प्रचारक—तकला मकान मरुस्थल के उत्तर में तारीम नदी से सिञ्चित प्रदेशों में कुची या कुचा राज्य की स्थिति थी। इसके निवासियों में भारतीयों की संख्या बहुत अधिक थी। तीसरी सदी के अन्त तक यह सारा प्रदेश बौद्ध-धर्म का अनुयायी हो चुका था, और प्राचीन चीनी अनुश्रुति के अनुसार इसमें बौद्ध विहारों तथा चैत्यों की संख्या दस हजार तक पहुँच गई थी। व्यापार की दृष्टि से कुची का बहुत महत्त्व था, क्योंकि चीन से पश्चिम की ओर जाने वाला एक स्थल मार्ग (उत्तरी मार्ग) इसी से होकर काशगर जाता था। तकला मकान के उत्तर में स्थित राज्यों में कुची सब से अधिक शक्तिशाली था। पार्थिया और सुग्ध देशों के बौद्धों के समान कुची के बौद्ध भिक्षुओं ने भी चीन में बौद्ध-धर्म के प्रचार के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य किया। चीन में बौद्ध-धर्म का प्रचार करने वाले कुची के भिक्षुओं में कुमारजीव का स्थान सर्वोपरि है। उसके पिता का नाम कुमारायन था। वह भारत के एक राजकुल में उत्पन्न हुआ था, पर अन्य अनेक राजकुमारों की तरह वह भी युवावस्था में ही बौद्ध भिक्षु बन गया था। भिक्षु होकर वह कुची पहुँचा। वहाँ के राजा ने उसका बड़े समारोह से स्वागत किया और उसकी विद्या तथा ज्ञान से प्रभावित होकर उसे राज-

गुरु के पद पर नियुक्त कर दिया। पर कुमारायन देर तक भिक्षु नहीं रह सका। कुची के राजा की बहन जीवा उस पर मोहित हो गई, और अंत में दोनों का विवाह हो गया। इनके दो संतानें हुई, कुमारजीव और पुष्यदेव। जब कुमारजीव की आयु केवल सात वर्ष की थी, तो उसकी माता जीवा भिक्षुणी हो गई, और अपने योग्य तथा होनहार पुत्र को लेकर भारत आ गई। भारत आने में उसका उद्देश्य यह था, कि कुमारजीव को बौद्ध-धर्म की ऊँची से ऊँची शिक्षा दी जाए। अनेक प्रदेशों का भ्रमण करने के बाद जीवा काश्मीर गई। वहाँ उन दिनों बंधुदत्त नाम का बौद्ध आचार्य बड़ा प्रसिद्ध था। वह काश्मीर के राजा का भाई था, और अपने पांडित्य के लिए उसका नाम दूर-दूर तक फैला हुआ था। बंधुदत्त के चरणों में बैठकर कुमारजीव ने बौद्ध आगम को पढ़ा, और धीरे-धीरे वह एक प्रकाण्ड पण्डित हो गया। काश्मीर में विद्याग्रहण करने के बाद कुमारजीव शैलदेश (काशगर) आया, और वहाँ उसने चारों वेदों, वेदांगों, दर्शन और ज्योतिष आदि का अध्ययन किया। उस समय शैलदेश प्राचीन वैदिक धर्म का बहुत बड़ा केन्द्र था। इसी लिए कुमारजीव ने वैदिक साहित्य का वहाँ जाकर अध्ययन किया था।

इस प्रकार बौद्ध और वैदिक साहित्य का पूर्ण पण्डित होकर कुमारजीव कुची वापस लौटा। अब उसने अपनी मातृभूमि में अध्यापन का कार्य शुरू किया। उसकी विद्वत्ता की कीर्ति सुनकर दूर-दूर के विद्यार्थी उसके पास शिक्षा ग्रहण करने के लिए आने लगे, और थोड़े ही समय में कुची विद्या का एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन गया।

पर कुमारजीव देर तक कुची में नहीं रह सका। ३८३ ईस्वी के लगभग कुची पर चीन ने आक्रमण किया। चीन की विशाल शक्ति का मुकाबला कर सकना कुची जैसे छोटे-से राज्य के लिए सम्भव नहीं था। फिर भी वहाँ के राजा ने वीरता के साथ युद्ध किया, पर अन्त में कुची पर चीन का अधिकार हो गया। जो बहुत-से कैदी कुची से चीन ले जाए गए, उनमें कुमारजीव भी एक था। पर सूर्य देर तक बादलों में नहीं छिपा रह सकता। कुमारजीव की विद्या की ख्याति चीन में सर्वत्र फैल गई, और वहाँ के सम्राट् ने उसे अपने राजदरबार में आमंत्रित किया। ४०१ ई० में कुमारजीव चीन की राजधानी में पहुँचा। वहाँ उसका बड़ा सत्कार हुआ। वह संस्कृत और चीनी का अनुपम विद्वान् था। शास्त्रों में उसकी अप्रतिहत गति थी। अतः उसे यह कार्य सुपुर्द किया गया, कि वह संस्कृत के प्रामाणिक बौद्ध ग्रंथों का चीनी भाषा में अनुवाद करे। इस कार्य में उसकी सहायता के लिए अन्य बहुत-से विद्वान् नियत कर दिए गए। दस वर्ष के लगभग समय में उसने १०६ संस्कृत ग्रंथों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। महायान सम्प्रदाय का चीन में प्रसार कुमारजीव द्वारा ही हुआ। उसके पाण्डित्य की कीर्ति सारे चीन में फैली हुई थी और उससे शिक्षा ग्रहण करने के लिए दूर-दूर से चीनी विद्यार्थी और भिक्षु उसकी सेवा में पहुँचा करते थे।

अपने कार्य में सहायता के लिए कुमारजीव ने बहुत-से विद्वानों को भारत से भी चीन बुलाया। वह भारत में शिक्षा ग्रहण कर चुका था। काश्मीर के बौद्ध पण्डितों

से उसका घनिष्ठ परिचय था। उसके अनुरोध से जो भारतीय विद्वान् चीन गए, उनमें विमलाक्ष, पुण्यत्रात, बुद्धयश, गौतम संघदेव, धर्मयश, गुणवर्मा, गुणभद्र और बुद्धवर्मा के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। चीन में जो बौद्ध-धर्म का प्रसार हुआ, उसमें ये सब कुमारजीव के सहयोगी थे। चीन में इन विद्वानों का बड़ा ऊँचा स्थान है। ये सब वहाँ धर्म-गुरु और धर्माचार्य के रूप में माने जाते हैं।

कुमारजीव द्वारा जिन बहुत-से ग्रन्थों का संस्कृत से चीनी भाषा में अनुवाद किया गया, उनमें अश्वघोष के सूत्रालंकार शास्त्र, नागार्जुन के दशभूमिकाभाषा सूत्र, वसुबन्धु के शतशास्त्र और हरिवर्मा के सत्यसिद्धि शास्त्र विशेष महत्त्व के हैं। ये सब महायान सम्प्रदाय के उच्च कोटि के ग्रन्थ हैं। कुमारजीव ने जिन ग्रन्थों का चीनी में अनुवाद किया, उनके लेखकों के जीवनचरित्र भी उसने संस्कृत से अनूदित किये, ताकि पाठक उनके दार्शनिक विचारों एवं मन्तव्यों के साथ-साथ उनके व्यक्तित्व से भी भली-भाँति परिचय प्राप्त कर सकें। कुमारजीव द्वारा अनूदित ग्रन्थों में ब्रह्मजाल सूत्र का चीन में चिरकाल तक प्रचार रहा। इस ग्रन्थ में यह प्रतिपादित है, कि बोधिसत्त्व पद की प्राप्ति के लिए मनुष्य को क्या कुछ करना चाहिए। कुमारजीव न केवल उद्भट विद्वान् तथा गम्भीर दार्शनिक थे, अपितु मानवगुणों का भी उनमें प्राचुर्य था। जब वह मृत्युशय्या पर पड़े हुए अपने अन्तिम क्षणों की प्रतीक्षा कर रहे थे, तो एक शिष्य से उन्होंने कहा था—"मेरे कार्य को दृष्टि में रखो। पर मेरे जीवन को आदर्श न मानो। कमल कीचड़ में उत्पन्न होता है। कमल को प्यार करना चाहिए, कीचड़ को नहीं। काश्मीर के भिक्षु बुद्धभद्र ने एक बार उनसे प्रश्न किया था, कि सब कोई उनका इतना सम्मान क्यों करते हैं। उन्होंने इसका उत्तर यह दिया—"क्योंकि मेरे बाल सफेद हो गये हैं।" इसमें सन्देह नहीं, कि वे अत्यन्त नम्र स्वभाव के थे, और अपनी विद्वत्ता का उन्हें जरा भी अभिमान नहीं था।

कुची के अन्य भी अनेक श्रमणों तथा भिक्षुओं ने चीन में बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए महत्त्वपूर्ण कार्य किया था। विशेषतया, बौद्ध ग्रन्थों को चीनी भाषा में अनूदित करने के सम्बन्ध में उनका कार्य बड़े महत्त्व का था। चीनी भाषा के त्रिपटिक के अनेक ग्रन्थ कुची की भाषा में अनूदित हैं। मध्य एशिया के क्षेत्र में कुची बौद्ध धर्म का प्रसिद्ध केन्द्र था, और वहाँ के बौद्ध विद्वानों ने बहुत-से संस्कृत ग्रन्थों का अपनी भाषा में भी अनुवाद किया था। कुची की प्राचीन भाषा में अनूदित बौद्ध ग्रन्थों के अनेक अंश मध्य एशिया के विविध प्रदेशों से प्राप्त भी हुए हैं। यह भरोसे के साथ कहा जा सकता है, कि चीन में बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए इन ग्रन्थों का भी उपयोग किया गया था।

खोतन के प्रचारक—यारकन्द (चोक्कुक) के पूर्व में खोतन की स्थिति है, जो प्राचीन काल में तकला मकान मरुस्थल के दक्षिण के राज्यों में सबसे समृद्ध तथा शक्तिशाली था। खोतन अफगानिस्तान और भारत से अधिक दूर नहीं है। इसीलिए वहाँ के निवासियों में भारतीयों की संख्या बहुत अधिक थी। अशोक के समय में वहाँ भारतीयों के एक उपनिवेश की स्थापना भी हुई थी। कुची के समान खोतन भी बौद्ध धर्म का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। चीन में बौद्ध धर्म के प्रचार में खोतन के श्रमणों तथा

भिक्षुओं ने भी बहुत कार्य किया। चीन के सम्राट् वू ती ने युइशियों से सम्पर्क स्थापित करने के लिए जब चाङ-किएन को अपना दूत बनाकर भेजा था (१३८ ई० पू०), तब खोतन से भी चीन का सम्पर्क स्थापित हुआ, और वू ती ने उसके साथ भी मैत्री-सम्बन्ध का सूत्रपात किया। ईस्वी सन् की पहली सदी में खोतन के राज्य की शक्ति बहुत बढ़ गई थी, और उसके राजाओं ने तकला मकान मरुस्थल के दक्षिण में विद्यमान तेरह राज्यों पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। ७३ ईस्वी में जब चीन के सम्राट् हो-ती ने पश्चिम दिशा में अपनी शक्ति का विस्तार करना प्रारम्भ किया, तो उसके सेनापति पान-छाओ ने खोतन के राजा की सहायता से मध्य एशिया के क्षेत्र के प्रायः सभी राजाओं को अपनी अधीनता स्वीकार करने के लिए विवश किया। इस प्रकार चीन और खोतन में सम्बन्ध बहुत अधिक बढ़ गया, और चीन के बौद्ध भिक्षु बौद्ध धर्म के उच्च अध्ययन के लिए खोतन भी जाने लगे, क्योंकि उस समय यह प्रदेश बौद्ध धर्म का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। चोउ-शे-हिंग नामक एक चीनी भिक्षु बौद्ध धर्म के अध्ययन के लिए २५८ ईस्वी में खोतन गया था। चीन के बौद्ध धर्म के इतिहास में इस भिक्षु का स्थान अत्यन्त महत्त्व का है। बौद्ध ग्रन्थों के जो अनुवाद उस समय चीनी भाषा में विद्यमान थे, उनकी इस भिक्षु ने सूची तैयार की थी। इस सूची को तैयार करते हुए चोउ-शे-हिंग ने अनुभव किया, कि अनेक बौद्ध ग्रन्थों का सही-सही अभिप्राय इन अनुवादों से स्पष्ट नहीं होता है। उसे ज्ञात हुआ, कि खोतन में ऐसे बौद्ध विद्वान् विद्यमान हैं, जिनसे इन ग्रन्थों को समझने में सहायता मिल सकती है। वह चिर काल तक खोतन में रहा, और ८० साल की आयु में वहीं उसकी मृत्यु हुई। खोतन में निवास करते हुए चोउ-शे-हिंग ने अनेक बौद्ध ग्रन्थों को एकत्र किया, और अपने शिष्य पुण्य-धन के हाथ उन्हें चीन भेजा। यह पुण्यधन खोतन का ही निवासी था।

२६१ ईस्वी में मोक्षल नामक एक खोतनी भिक्षु चीन गया, और वहाँ उसने पंचविंशतिसाहस्रिका पारमिता ग्रन्थ का चीनी भाषा में अनुवाद किया। पाँचवीं सदी के प्रारम्भ (४०१-४३३ ई० प०) में न्गन-यांग नामक चीनी राजकुमार महायान सम्प्रदाय के उच्च अध्ययन के प्रयोजन से खोतन गया। वहाँ के गोमती महाविहार में उन दिनों बुद्धिसेन नाम का एक बौद्ध विद्वान् निवास कर रहा था, जो भारत से वहाँ गया था। महायान का वह प्रकाण्ड पण्डित था, और सम्पूर्ण पश्चिमी जगत् में सिंह के रूप में प्रसिद्ध था। न्गन-यांग ने बुद्धसेन के चरणों में बैठकर महायान के मन्तव्यों तथा दर्शन का गम्भीर अध्ययन किया, और अपने देश को वापस लौटकर अनेक बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। इसी समय के लगभग धर्मक्षेम नाम का एक भारतीय भिक्षु काश्मीर से खोतन गया था, क्योंकि उसने यह सुना था कि महायान के सिद्धान्तों के अध्ययन के लिए खोतन से बढ़कर कोई अन्य स्थान नहीं है। खोतन से वह चीन गया, और वहाँ उसने महापरिनिर्वाण सूत्र का चीनी भाषा में अनुवाद किया। चीन में अनुवाद का कार्य करते हुए धर्मक्षेम ने अनेक बार खोतन की यात्रा की, क्योंकि वहाँ महायान सम्प्रदाय के ग्रन्थों को पूर्ण तथा प्रामाणिक रूप में सुगमता से प्राप्त किया जा सकता था। ४३६ ईस्वी में आठ चीनी भिक्षु खोतन गये, क्योंकि महायान सम्प्रदाय

की प्रामाणिक पुस्तकों की उन्हें तलाश थी। उस समय खोतन में बौद्धों की पंचवार्षिका सभा हो रही थी। उसमें एकत्र बौद्ध विद्वानों के मुख से सुनकर उन्होंने अनेक बौद्ध ग्रन्थों को लेखबद्ध किया।

सुग्ध और पार्थिया की तुलना में खोतन चीन के अधिक समीप था, और पान-छाओ के प्रयत्न से इन दोनों देशों में राजनीतिक सम्बन्ध भी बहुत सुदृढ़ हो गया था। इस दशा में यह स्वाभाविक था, कि चीन के बौद्ध भिक्षु धर्मग्रन्थों के उच्च अध्ययन के लिए खोतन जायें, और खोतन के बौद्ध आचार्य भी चीन जाकर अपने धर्म के प्रचार में तत्पर रहें।

(३) दक्षिण-पूर्वी एशिया के भारतीय उपनिवेशों द्वारा चीन में बौद्ध धर्म का प्रचार

दक्षिण-पूर्वी एशिया में, जहाँ वर्तमान समय में इन्डोनीसिया, मलायीसिया, कम्बोडिया, लाओस और विएत-नाम के राज्य हैं, प्राचीन काल में अनेक भारतीय उपनिवेशों की सत्ता थी। एक हजार साल से भी अधिक समय तक ये उपनिवेश भारतीय सभ्यता, संस्कृति और धर्म के महत्त्वपूर्ण केन्द्र रहे। संस्कृत का इनमें प्रचार रहा, और बौद्ध, शैव, वैष्णव आदि भारतीय धर्मों के बहुत-से विहार, चैत्य, मन्दिर आदि वहाँ स्थापित हुए। मध्य एशिया के कुची, खोतन आदि राज्यों के समान दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध भारतीय उपनिवेशों व राज्यों से भी बौद्ध धर्म के श्रमण तथा भिक्षु चीन में तथागत बुद्ध की शिक्षाओं के प्रचार के लिए गये, और उन्हें अपने उद्देश्य में अनुपम सफलता भी प्राप्त हुई। इस क्षेत्र के भारतीय राज्यों पर एक पृथक् ग्रन्थ में विशद रूप से प्रकाश डाला जायगा। इस अध्याय में हम प्रसङ्गवश ही इन राज्यों का उल्लेख करेंगे।

फूनान—जहाँ आजकल कम्बोडिया का राज्य है, प्राचीन समय में एक भारतीय राज्य की सत्ता थी, जिसे फूनान कहते थे। इस राज्य की स्थापना कौन्डिन्य नामक ब्राह्मण द्वारा पहली सदी में की गई थी। उसने वहाँ के मूल निवासियों की रानी सीमा के साथ विवाह कर एक नये राजवंश का प्रारम्भ किया था। कौन्डिन्य के उत्तराधिकारियों में फान्-चे-सन् (मृत्यु काल २२५ ई०) बहुत प्रसिद्ध है। उसने फूनान के राज्य का बहुत विस्तार किया, और मलाया तक के प्रदेशों को जीत लिया। फान्-चे-सन् के बाद फान्-चान फूनान का राजा बना। २४० ईस्वी में उसने अपने राजदूत भारत भेजे थे, जो पाटलिपुत्र के मुलुन (मुरुण्ड) राजा के दरबार में गए थे। कनिष्क के समय पाटलिपुत्र पर कुशाणों का अधिकार हो गया था, और वहाँ जो क्षत्रप शासन करते थे, वे मुरुण्ड कहते थे। फान्-चान ने एक दूतमण्डल चीन भी भेजा था (२४३ ई०), जिसके कारण फूनान का चीन के साथ सम्बन्ध स्थापित हो गया था। फान्-चान के उत्तराधिकारी फान्-सियन के शासन काल में कांग ताई नामक चीनी राजदूत फूनान आया था (२५० ई० पू० के लगभग), और फान्-सियन द्वारा भी अपने दूतमण्डल चीन भेजे गये थे। पाँचवीं सदी के मध्य भाग में फूनान का राजा जयवर्मा था, जो कौन्डिन्य का

वंशज था। जयवर्मा ने नागसेन नाम के एक बौद्ध भिक्षु को चीन के राजा की सेवा में अपना सन्देश देकर भेजा था। फूनान से कुछ व्यापारी समुद्रमार्ग द्वारा चीन जा रहे थे। नागसेन ने उनके साथ चीन के लिए प्रस्थान किया। पर मार्ग में अनाम के समुद्र-तट के समीप कुछ समुद्री डाकुओं ने व्यापारियों को लूट लिया, और नागसेन अकेला स्थल मार्ग से फूनान वापस लौट आने में समर्थ हुआ। ४८४ ईस्वी में जयवर्मा द्वारा नागसेन को एक बार फिर चीन भेजा गया। इस बार वह चीन के राजदरबार तक पहुँच सकने में समर्थ हुआ, और उसने जयवर्मा का सन्देश चीन के सम्राट् की सेवा में पहुँचा दिया। नागसेन को चीनी भाषा का अच्छा ज्ञान था, और उसके प्रयत्न से फूनान और चीन का सम्वन्ध वहुत घनिष्ठ हो गया। कुछ समय पश्चात् फूनान के दो बौद्ध भिक्षुओं ने चीन की यात्रा की, और वहाँ जाकर उन्होंने अनेक बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। फूनान के इन भिक्षुओं में एक का नाम मन्द्रसेन था, और वह ५०३ ईस्वी में नानकिंग पहुँचा था। दूसरा भिक्षु संघभद्र था, जो अनेक भाषाओं का ज्ञाता था। युवावस्था में हीं उसने भिक्षुव्रत ग्रहण कर लिया था, और बौद्ध धर्म के अध्ययन के लिए उसने बहुत प्रयत्न किया था। बौद्ध त्रिपिटक के अभिधम्म भाग का वह विशेषज्ञ था, और उसकी कीर्ति दूर-दूर तक फैली हुई थी। जव उसे यह ज्ञात हुआ कि चीन में बौद्ध धर्म को आदर की दृष्टि से देखा जाता है, तो उसने समुद्र मार्ग से चीन के लिए प्रस्थान कर दिया। चीन के सम्राट् ने उसे अपने दरवार में निमन्त्रित किया (५०६ ई० प०), और वहाँ रहकर उसने बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद प्रारम्भ किया। संघभद्र की मृत्यु ५२४ ईस्वी में हुई थी। ५०६ से ५२४ तक वह चीन में ही रहा, और यह समय उसने बौद्ध ग्रन्थों को चीनी भाषा में अनूदित करने में व्यतीत किया। भिक्षु संघभद्र का जीवनचरित्र चीनी भाषा में विद्यमान है और उसके अध्ययन से ज्ञात होता है, कि छठी सदी में फूनान और चीन में घनिष्ठ सम्बन्ध की सत्ता थी, और चीन की राजधानी में फूनान के लिए एक पृथक् मण्डप भी विद्यमान था।

कौन्डिन्य द्वारा स्थापित फूनान का राज्य सातवीं सदी का प्रारम्भ होने तक कायम रहा। वहाँ का अन्तिम राजा रुद्रवर्मा था, जिसके बाद फूनान में अव्यवस्था उत्पन्न हो गई, और पड़ौस के कम्बुज राज्य के राजाओं (जो पहले फूनान की अधीनता स्वीकार करते थे) ने उसे अपने अधीन कर लिया। कम्बुज राज्य वर्तमान कम्वोडिया के उत्तरी भाग में स्थित था। वह भी भारतीयों का एक उपनिवेश था, और शुरू में फूनान के राज्य के अन्तर्गत या अधीन था। जिस राजा ने फूनान को परास्त कर कम्बुज के उत्कर्ष का प्रारम्भ किया, उसका नाम भववर्मा था। भववर्मा और उसके उत्तराधिकारी बौद्ध न होकर सनातन हिन्दू धर्म के अनुयायी थे। उनके राज्य में शिव, विष्णु, दुर्गा आदि पौराणिक देवी-देवताओं की पूजा हुआ करती थी। वेद, पुराण, रामायण, महाभारत आदि का वहाँ उसी प्रकार से अध्ययन होता था, जैसे कि भारत में। वहाँ के राजाओं ने कम्बुज में अनेक आश्रमों का भी निर्माण कराया था। जैसे बौद्ध धर्म के मठ विहार कहाते थे, वैसे ही पौराणिक धर्म के मठों को आश्रम कहा जाता था। इनमें संन्यासी लोग निवास करते थे, जो बौद्ध भिक्षुओं के समान विद्याध्ययन, धर्म प्रचार तथा शिक्षण

के कार्य में व्यापृत रहते थे। पर इन संन्यासियों ने चीन जाकर अपने धर्म के प्रचार का कोई उद्योग किया था या नहीं, इस सम्बन्ध में कोई सूचना प्राचीन चीनी साहित्य में उपलब्ध नहीं है।

चम्पा—विएत-नाम के समुद्रतट के प्रदेश में चम्पा नाम के एक अन्य भारतीय उपनिवेश की सत्ता थी, जिसकी स्थापना ईस्वी सन् की दूसरी सदी में हुई थी। इसकी स्थिति कम्बुज के पूर्व में और विएत-नाम के दक्षिणी भाग में थी। उन दिनों तोन्किन (उत्तरी विएत-नाम में) का प्रदेश चीनी साम्राज्य के अधीन था। इस कारण चम्पा के राज्य की उत्तरी सीमा चीन के साम्राज्य के साथ लगती थी। चीन की प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार चम्पा की स्थापना १८२ ईस्वी में हुई थी। पर इससे कम-से-कम एक सदी पूर्व इस क्षेत्र में भारतीय उपनिवेशों की स्थापना प्रारम्भ हो चुकी थी। ये उपनिवेश चार थे, पाण्डु रंग (आधुनिक फनरंग), विजय (आधुनिक विन-दिन्ह), कौठार (न्हा-त्रांग) और अमरावती। चम्पा के राजाओं ने इन सब को जीत कर अपने अधीन कर लिया था, और इस प्रकार एक अच्छे बड़े एवं शक्तिशाली राज्य की स्थापना कर दी थी। चम्पा के इस राज्य का पहला राज्य श्रीमार था। वह और उसके उत्तराधिकारी विशुद्ध भारतीय राजा थे। उनकी भाषा संस्कृत थी, और उनका धर्म शैव था। इन राजाओं द्वारा उत्कीर्ण कराये हुए संस्कृत के अनेक शिलालेख दक्षिणी विएत-नाम में उपलब्ध हुए हैं।

चीन की ऐतिहासिक अनुश्रुति से ज्ञात होता है, कि फान-वेन नाम के चम्पा के एक राजा ने ३४० ईस्वी में अपना एक राजदूत चीन के सम्राट् के पास भेजा था। उसने अपने दूत से यह कहलवाया कि चीन और चम्पा के राज्यों के बीच की सीमा होन-सोन पर्वतमाला को निश्चित कर दिया जाए। इस नई सीमा के अनुसार न्हुत-नाम का उपजाऊ प्रदेश चम्पा के राज्य में सम्मिलित हो जाता था। चीन का सम्राट् यह स्वीकार करने के लिए उद्यत नहीं हुआ, जिस पर ३४७ ईस्वी में फान-वेन ने चीन पर आक्रमण कर दिया, और न्हुत-नाम को जीत कर चम्पा के राज्य को होन-सोन पर्वतमाला तक विस्तृत कर दिया। बाद में इस प्रदेश को लेकर चीन और चम्पा में अनेक युद्ध हुए, और ये युद्ध पाँचवीं सदी के प्रारम्भ तक जारी रहे। यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिए, कि चम्पा के राजाओं के फान-वेन आदि नाम चीन की अनुश्रुति के अनुसार हैं। इनके वास्तविक नाम शुद्ध संस्कृत के थे, जिनका परिचय इनके शिलालेखों द्वारा प्राप्त होता है।

फूनान के समान चम्पा में भी पौराणिक हिन्दू धर्म प्रचलित था, और षड्-दर्शन, बौद्ध दर्शन, काशिकावृत्तिसहित पाणिनीय व्याकरण, नारदीय और भार्गवीय आदि धर्मशास्त्र, आख्यान, शैव उत्तरकल्प, होराशास्त्र आदि का वहाँ उसी प्रकार से अध्ययन-अध्यापन होता था, जैसे कि भारत में। भारत के पण्डितों के समान चम्पा के पण्डित भी संस्कृत भाषा में ग्रन्थों की रचना में तत्पर रहते थे। राजा हरिवर्मा (८०३-८१७ ई० प०) के शासनकाल में पुराणार्थ या अर्थपुराणशास्त्र नामक संस्कृत पद्यग्रन्थ की रचना चम्पा में की गई थी। पर चम्पा केवल पौराणिक हिन्दू धर्म का ही

केन्द्र नहीं था। बौद्ध साहित्य का भी वहाँ पठन-पाठन होता था। ६०५ ईस्वी में जब चीन के अन्यतम सेनापति लियू-फाँग ने चम्पा पर आक्रमण किया था, तो वहाँ के राजा शम्भूवर्मा को युद्ध में परास्त कर वह बहुत-सी लूट भी अपने साथ चीन ले गया था। इस लूट में १३५० बौद्ध ग्रन्थ भी थे। ये चम लिपि में लिखे हुए थे, जो ब्राह्मी के साथ-साथ उस युग में चम्पा में प्रचलित थी। येन-त्सोंग (५५७-३१० ई० प०) नाम के एक चीनी भिक्षु को इन ग्रन्थों को चीनी में अनूदित करने का कार्य सुपुर्द किया गया था। पौराणिक हिन्दू धर्म का केन्द्र होते हुए भी चीन में बौद्ध धर्म के प्रसार के लिए चम्पा द्वारा जो कार्य किया गया, इस घटना से उसका कुछ आभास प्राप्त हो जाता है।

सुमात्रा और जावा—हिन्द महासागर के जिन द्वीपों के समूह को आजकल इन्डोनीसिया कहते हैं, उनमें भी प्राचीन समय में भारतीयों के अनेक उपनिवेशों की सत्ता थी। इन द्वीपों में जावा सबसे अधिक महत्त्व का था। इसका प्राचीन नाम यवद्वीप था। दूसरी सदी तक भारतीय लोग वहाँ बस चुके थे। १३२ ईस्वी में जावा का राजा देववर्मा था, जिसने अपना राजदूत चीन के सम्राट् की सेवा में भेजा था। पाँचवीं सदी के प्रारम्भ काल में जब प्रसिद्ध चीनी यात्री फाइयान भारत की यात्रा समाप्त कर चीन वापस लौटा, तो वह मार्ग में यवद्वीप ही ठहरा था। उसके यात्राविवरण से ज्ञात होता है, कि इस द्वीप में भारतीय लोग अच्छी बड़ी संख्या में निवास करते थे। पाँचवीं सदी में यवद्वीप तथा उसके समीपवर्ती अन्य द्वीपों में बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ, जिसका प्रधान श्रेय गुणवर्मा को है। गुणवर्मा काश्मीर के राजा संघानन्द का पुत्र था। शुरू से ही उसकी प्रवृत्ति बौद्ध धर्म की ओर थी। जब उसकी आयु तीस वर्ष की थी, उसके पिता का देहान्त हो गया। अब उसे अपना राज्य संभालने के लिए कहा गया। पर उसने राजसिंहासन की तुलना में बौद्ध भिक्षुओं के काषाय वस्त्र धारण करने को अधिक उचित समझा, और वह भिक्षु बन कर लंका चला गया। कुछ समय लंका में निवास कर वह यवद्वीप गया, जहाँ की राजमाता शीघ्र ही उसके प्रभाव में आ गई। गुणवर्मा ने उसे बौद्ध धर्म में दीक्षित किया, और अपनी माता की प्रेरणा से जावा के राजा ने भी बौद्ध धर्म को स्वीकार कर लिया। इसी समय किसी विदेशी सेना ने जावा पर आक्रमण किया। अहिंसाप्रधान बौद्ध धर्म के अनुयायी जावा के राजा के सम्मुख यह समस्या उपस्थित हुई, कि इस आक्रमण का मुकाबला करने के लिए युद्ध करना चाहिए या नहीं। इस समस्या का समाधान गुणवर्मा ने किया। उसने कहा कि दस्युओं को नष्ट करना हिंसा नहीं है, और उनसे युद्ध करना धर्म है। आक्रमण करने वाली शत्रु सेना परास्त हो गई, और जावा की स्वतन्त्रता अक्षुण्ण रही।

गुणवर्मा की कीर्ति जावा के समीप के सब भारतीय उपनिवेशों में फैल गयी थी, और वहाँ से उसके ज्ञान तथा गुणों की गाथा चीन में भी पहुँच गयी थी। चीन के बौद्ध भिक्षुओं ने अपने राजा से प्रार्थना की, कि गुणवर्मा को चीन निमन्त्रित किया जाए। भिक्षुओं का आवेदन स्वीकार कर चीन के सम्राट् ने अपना एक दूतमण्डल जावा के राजा और गुणवर्मा के पास भेजा और यह प्रार्थना की, कि आचार्य चीन पधारें। चीन के सम्राट् की प्रार्थना को गुणवर्मा ने स्वीकार कर लिया, और ४३१ ई०

में वह नानकिंग के बन्दरगाह पर पहुँच गया। चीन में बौद्ध धर्म का प्रचार करने और बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद कराने के सम्बन्ध में गुणवर्मा का कर्तृत्त्व अत्यन्त महत्त्व का था।

जावा (यवद्वीप) के समीप सुमात्रा द्वीप है, जिसका प्राचीन राजनीतिक केन्द्र श्रीविजय था, जो कम्पर नदी के तट पर स्थित था। श्रीविजय की स्थापना चौथी सदी ईस्वी से पहले ही हो चुकी थी। पर सातवीं सदी में इसने बहुत अधिक उन्नति की और इसके प्रतापी राजाओं ने पड़ौस के अनेक प्रदेशों को जीत कर अपने अधीन कर लिया। ६८४ ई० में श्रीविजय के राजसिंहासन पर जयनाग का अधिकार था, जो बौद्ध धर्म का अनुयायी था। श्रीविजय के बौद्ध राजाओं का चीन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था, और ६४० से ७४१ ईस्वी तक की एक सदी में उन्होंने अनेक दूतमण्डल चीन के राजा की सेवा में भेजे थे। इस काल में श्रीविजय का राज्य बौद्ध धर्म का महत्वपूर्ण केन्द्र था। यही कारण है, जो बहुत-से चीनी भिक्षु बौद्ध धर्म तथा साहित्य का अध्ययन करने के लिए वहाँ आया करते थे। चीन के इन भिक्षुओं में यि-त्सिंग का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। भारत को जाते हुए वह मार्ग में छः महीने श्रीविजय ठहरा था, और भारत यात्रा से वापस लौटते हुए उसने चार वर्ष (६८५-६८९ ई० प०) तक श्रीविजय में निवास किया था। ६८९ में वह चीन लौट गया था, पर शीघ्र ही वह पुनः श्रीविजय चला आया और देर तक वहाँ निवास करता रहा। यि-त्सिंग के यात्रा-विवरण से ज्ञात होता है, कि सातवीं सदी में श्रीविजय बौद्ध धर्म तथा संस्कृत साहित्य के अध्ययन का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। यि-त्सिंग ने लिखा है, कि "श्रीविजय में एक हजार से भी अधिक बौद्ध श्रमणों तथा भिक्षुओं का निवास है। ये सब सदाचरण तथा विद्याध्ययन में व्यापृत रहते हैं। मध्यदेश (भारत) में जिन विविध विषयों का पठन-पाठन होता है, उन सबका अध्ययन तथा अनुशीलन श्रीविजय में भी किया जाता है। यहाँ जो नियम तथा संस्कार आदि प्रचलित हैं, वे भारत से भिन्न नहीं हैं। चीन के जो भिक्षु धर्मग्रन्थों के अध्ययन तथा श्रवण के लिए पश्चिम में जाना चाहें, उनके लिए यह वांछनीय होगा कि वे एक दो साल श्रीविजय में भी व्यतीत किया करें।"

इसमें सन्देह नहीं, कि सातवीं सदी तथा उसके बाद के काल में श्रीविजय बौद्ध धर्म का महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन गया था, और दक्षिण-पूर्वी तथा सुदूर पूर्व के देशों की दृष्टि में उसका महत्त्व भारत के मध्य देश के ही सदृश था। न केवल चीन के बौद्ध भिक्षु भारत आते हुए कुछ समय वहाँ भी व्यतीत किया करते थे, अपितु भारत के भिक्षु भी पूर्वी देशों को जाते हुए वहाँ ठहरा करते थे। ७१७ ई० में वज्रबोधि नाम का भारतीय भिक्षु चीन गया था। उस सुदूर देश को जाते हुए उसने श्रीविजय की भी यात्रा की थी। मगध के प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् आचार्य दीपंकर श्रीज्ञान अतीश आचार्य चन्द्रकीर्ति से भेंट करने के लिए जिस सुवर्णद्वीप को गये थे वह श्रीविजय ही था, यह ऐतिहासिकों का मत है। दीपंकर श्रीज्ञान ने ग्यारहवीं सदी के प्रारम्भ में इस प्रदेश की यात्रा की थी। उनके अनुसार श्रीविजय या सुवर्णद्वीप प्राच्य संसार में बौद्ध धर्म का सबसे बड़ा केन्द्र था, और आचार्य चन्द्रकीर्ति अपने समय के सबसे महान् बौद्ध विद्वान् थे। इस

विनयपिटक की सर्वास्तिवादी टीका का अनुवाद विशेष रूप से उल्लेखनीय है। गौतम संघदेव नाम का एक अन्य काश्मीरी विद्वान् ३८४ ईस्वी में चीन गया था। कुछ समय चाँग-गान में निवास कर ३९१ में वह दक्षिणी चीन चला गया, जहाँ संग-हुएई (संघभद्र) नामक भिक्षु ने एक नये विहार तथा पीठ की स्थापना की थी। संघभद्र के साथ रहकर गौतम संघदेव ने अनेक बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। उनकी कीर्ति चीन में दूर-दूर तक फैल गई थी। इसीलिए उसे लू-शान मे निमन्त्रित किया गया, जहाँ हुई-युग्रान नामक चीनी विद्वान् ने एक अनुवादपीठ स्थापित किया हुआ था। हुई-यूग्रान के सहयोग से गौतम संघदेव ने कतिपय ऐसे ग्रन्थों को चीनी भाषा में अनूदित किया, जिन्हें अत्यन्त कठिन व दुरूह समझा जाता था। ३९७ ईस्वी में चीन के राजा का निमन्त्रण प्राप्त कर गौतम संघदेव नानकिंग चला गया। वहाँ उसका बहुत सम्मान किया गया, और उसके निवास के लिए एक नये विहार का निर्माण करवाया गया। मृत्युपर्यन्त गौतम संघदेव नानकिंग के इसी विहार में निवास करते रहे, और वहाँ रहते हुए वे बौद्ध ग्रन्थों के चीनी भाषा में अनुवाद तथा धर्म के प्रचार, कार्य में व्यापृत रहे।

प्राचीन काल में काश्मीर का मध्य एशिया के भारतीय उपनिवेशों के साथ अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध था। विशेषतया, कुची में काश्मीर के लोगों का जाना-आना बहुत अधिक था। कुमारजीव अपनी माता जीवा के साथ काश्मीर में विद्याध्ययन के लिये रहे थे, और वहाँ उनका अनेक बौद्ध विद्वानों के साथ सम्पर्क हुआ था। इनमें से कतिपय विद्वान् चीन भी गये थे, और उन्होंने वहाँ चीनी भाषा में बौद्ध ग्रन्थों को अनूदित करने के कार्य में कुमारजीव को सहयोग प्रदान किया था। बुद्धयश और विमलाक्ष नामक बौद्ध विद्वानों का पिछले एक अध्याय में उल्लेख किया जा चुका है। बुद्धयश कुमारजीव के गुरु थे, और उन्होंने काशगर में कुमारजीव को वेद, वेदाङ्ग, दर्शन, ज्योतिष तथा अभिधम्म पिटक की शिक्षा प्रदान की थी। वे काश्मीर के एक ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे। उनके पिता सनातन पौराणिक धर्म के अनुयायी थे, और बौद्ध धर्म के घोर विरोधी थे। एक बार उन्होंने किसी बौद्ध भिक्षु का अपमान कर दिया, जिसके कारण वे अर्धङ्ग रोग से पीड़ित हो गये। अब उन्हें अपनी भूल का बोध हुआ और उन्होंने न केवल उस भिक्षु से क्षमा याचना ही की, अपितु प्रायश्चित के रूप में अपने पुत्र यश को उस भिक्षु के सुपुर्द भी कर दिया। यश की आयु उस समय तेरह वर्ष की थी। वेद वेदाङ्ग तथा आस्तिक दर्शनों आदि का वह बाल्यावस्था में ही अध्ययन कर चुका था। अब उसने बौद्ध ग्रन्थों का अनुशीलन प्रारम्भ किया, और २४ वर्ष की आयु में वह सर्वविद्यानिष्णात हो गया। काश्मीर में अपनी शिक्षा को पूर्ण कर यश या बुद्धयश काशगर गया, जहाँ के राजा ने बौद्ध भिक्षुओं के सम्मान में एक महान् आयोजन किया था। ३,००० भिक्षु राजा के निमन्त्रण को स्वीकार कर काशगर में एकत्र हुए थे। काशगर का राजा बुद्धयश की विद्वत्ता तथा प्रतिभा से बहुत प्रभावित हुआ, और उससे काशगर में ही निवास करते रहने का अनुरोध किया। यहीं कुमारजीव का उनसे परिचय हुआ, और उसने बुद्धयश के चरणों में बैठकर वेद-वेदाङ्ग आदि का

अध्ययन किया। ३८३ ईस्वी में जब चीन के सेनापति लो-कोग्राँग ने कुची पर आक्रमण किया, तो वहाँ के राजा ने काशगर से सहायता की याचना की। काशगर के राजा ने अपने कुमार को बुद्धयश के सुपुर्द कर स्वयं कुची के लिए प्रस्थान कर दिया। पर कुची और काशगर की सम्मिलित शक्ति भी चीन की सेना का मुकाबला करने में असमर्थ रही। इसी आक्रमण में जो बहुत-से युद्धबन्दी लो-कोग्राँग द्वारा चीन ले जाये गये थे, कुमारजीव भी उनमें थे। वे पहले ही काशगर से कुची चले जा चुके थे। पर ३८२ के पश्चात् दस साल तक बुद्धयश काशगर ही रहते रहे। ३९२ में वे कुची गए, और एक साल वहाँ रहकर उन्होंने भी चीन के लिए प्रस्थान कर दिया। उस समय कुमारजीव चीन में बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद करने में व्यापृत थे। बुद्धयश ने इस कार्य में उनकी सहायता की। कुछ समय चीन रहकर वह अपने देश काश्मीर वापस आ गये। चीनी ग्रन्थों में बुद्धयश की बहुत प्रशंसा की गई है। वे कोई भी भेंट-उपहार ग्रहण नहीं करते थे। भिक्षुओं के सरल व तपस्यामय जीवन में उनकी आस्था थी, और संसार के सब आकर्षणों तथा सुख भोगों से दूर रहते हुए वे सच्चे भिक्षु के समान अपना जीवन व्यतीत किया करते थे।

कुची होकर चीन जाने वाले अन्य काश्मीरी विद्वान् पुण्यत्रात, धर्मयश और विमलाक्ष थे। पुण्यत्रात भी आचार्य कुमारजीव के सहयोगी थे, और सम्भवतः कुची में ही इन आचार्यों का परस्पर परिचय हुआ था। चीन में बौद्ध ग्रन्थों का अनुवाद करने के लिए जो महान् आयोजन कुमारजीव द्वारा किया गया था, पुण्यत्रात भी उसमें उनके सहयोगी रहे थे। धर्मयश पुण्यत्रात के शिष्य थे। ३० साल की आयु में उन्होंने काश्मीर से प्रस्थान किया था, और मध्य एशिया की यात्रा करते हुए ३९७ ईस्वी में वे चीन पहुँचे थे। ४५३ ई० तक वे चीन में रहे, और ५६ साल के इस सुदीर्घ काल में उन्होंने बहुत-से बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। जीवन के अन्तिम दिनों में वे मध्य एशिया के मार्ग से अपने देश काश्मीर वापस लौट आये, और वहीं उन्होंने जीवन लीला समाप्त की। विमलाक्ष भी काश्मीरी थे, और मध्य एशिया के विविध बौद्ध चैत्यों तथा संघारामों की यात्रा करते हुए कुची पहुंचे थे। वहाँ कुमारजीव ने उनसे सर्वास्तिवाद सम्प्रदाय के विनयपिटक का अध्ययन किया था। ४०६ ईस्वी में वह भी चीन चले गए, और अपने शिष्य कुमारजीव के साथ रहकर बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद करने लगे। ४१२ ई० में कुमारजीव की जब मृत्यु हो गई तो आचार्य विमलाक्ष दक्षिणी चीन चले गए, और अपना शेष जीवन उन्होंने वहीं व्यतीत किया।

काश्मीर के अनेक बौद्ध विद्वान् समुद्र के मार्ग से भी चीन गए थे। चीनी यात्री फाइयान भारत की यात्रा करता हुआ जब काश्मीर गया था, तो वहाँ उसका परिचय बुद्धजीव नामक काश्मीरी भिक्षु से हुआ था। बुद्धजीव फाइयान के साथ समुद्र मार्ग से चीन गया, और वहाँ रहकर उसने अनेक ऐसे बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया, जिन्हें फाइयान भारत से अपने साथ चीन ले गया था। गुणवर्मा का उल्लेख इसी अध्याय में ऊपर किया जा चुका है। वे भी काश्मीरी थे, और काश्मीर

दशा में यदि चीन के बौद्ध भिक्षु धर्म के ज्ञान की पिपासा को शान्त करने के लिए वहाँ आया करते हों, तो यह सर्वथा स्वाभाविक था। श्रीविजय की यह स्थिति तेरहवीं सदी तक कायम रही, जबकि मुस्लिम आक्रान्ताओं ने न केवल उसके राजाओं की स्वतन्त्र सत्ता का ही अन्त किया, अपितु बौद्ध धर्म का विनाश कर वहाँ के निवासियों को इस्लाम का अनुयायी भी बना लिया।

तोन्किन—विएत-नाम के उत्तरी क्षेत्र में तोन्किन का प्रदेश था, जो प्राचीन समय में चीन के अधीन था। कम्बुज और चम्पा के समान वहाँ किसी भारतीय उपनिवेश की स्थापना नहीं हुई थी, यद्यपि वहाँ भी भारतीयों का अच्छी बड़ी संख्या में निवास था। तोन्किन भी बौद्ध धर्म का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। वहाँ बौद्ध धर्म के प्रचार का श्रीगणेश मोऊ-त्सेउ नामक चीनी भिक्षु द्वारा किया गया था। चीनी सम्राट् लिंग-ती की मृत्यु (१८९ ई० प०) के पश्चात् चीन में अव्यवस्था उत्पन्न हो गई थी, और वहाँ गृहकलह प्रारम्भ हो गया था। इस दशा में चीन के बहुत-से बौद्ध विद्वानों एवं भिक्षुओं ने तोन्किन आकर आश्रय ग्रहण किया, जिनमें मोऊ-त्सेउ सर्वप्रधान था। तोन्किन में इसी भिक्षु ने सबसे पूर्व बौद्ध धर्म का प्रचार प्रारम्भ किया। इसके बाद तीसरी सदी के मध्य में संघभद्र नामक भिक्षु ने तोन्किन को अपना कार्यक्षेत्र बनाया। वह सुग्ध देश का निवासी था, पर उसके पिता व्यापार के लिए तोन्किन में बसे हुए थे। पिता के स्वर्गवास के पश्चात् उसने भिक्षुव्रत ग्रहण कर लिया, और तोन्किन तथा दक्षिणी चीन में बौद्ध धर्म के प्रचार का कार्य प्रारम्भ किया। संघभद्र के विषय में इसी अध्याय में ऊपर विशद रूप से लिखा जा चुका है। बौद्ध ग्रन्थों को चीनी भाषा में अनूदित करने के कार्य में उसने विशेष तत्परता प्रदर्शित की थी, और तोन्किन में निवास करते हुए अनेक संस्कृत ग्रन्थों का अनुवाद किया था। पर वह देर तक तोन्किन नहीं रहा। वहाँ से वह चीन चला गया, और वहाँ नानकिंग के राजा को बौद्ध धर्म में दीक्षित किया। दक्षिणी चीन में बौद्ध धर्म के प्रचार के सूत्रपात का प्रधान श्रेय संघभद्र (सेंग-हुएई) को ही है।

तोन्किन से जाकर चीन में बौद्ध धर्म का प्रचार करने वाले प्रचारकों में महा-जीवक या जीवक का नाम भी उल्लेखनीय है। उसका जन्म भारत में हुआ था। भारत से वह समुद्रमार्ग द्वारा फूनान गया, और फूनान से तोन्किन। कुछ वर्ष तोन्किन में निवास करने के पश्चात् वह कैन्टन गया, और दक्षिणी चीन के समुद्र तट के समीपवर्ती प्रदेशों में बौद्ध धर्म का प्रचार करता हुआ वह लो-यांग पहुँच गया जो तीसरी सदी के अन्त तक चीन में बौद्ध धर्म का प्रधान केन्द्र बन चुका था और जहाँ सम्राट मिंग-ती द्वारा श्वेताश्व विहार की स्थापना करायी गई थी।

तोन्कन को अपना कार्यक्षेत्र बनाकर जिन बौद्ध भिक्षुओं ने धर्म प्रचार में अपना जीवन व्यतीत किया, उनमें कालरुचि या कल्याणरुचि को भी भुलाया नहीं जा सकता। वह युइशि जाति का था, और तीसरी सदी के मध्य भाग में तोन्किन गया था। उसने भी अनेक बौद्ध ग्रन्थों का अनुवाद किया था। भारत, सुग्ध, युइशि आदि के जो बहुत-से बौद्ध भिक्षु प्राचीन काल में तोन्किन में जा बसे थे, उनके प्रयत्न से इस

देश के निवासियों ने बौद्ध धर्म को अपना लिया था। तीसरी सदी के अन्त तक तोन्किन के लेइ-ल्यू (वर्तमान समय के बक्-मिन्ह क्षेत्र में स्थित) प्रदेश में पाँच सौ भिक्षुओं का निवास हो गया था, और वहाँ बीस चैत्य व विहार स्थापित हो गये थे। विएत-नाम के दक्षिणी प्रदेश में विद्यमान चम्पा के समान तोन्किन भारत का उपनिवेश तो नहीं था, पर वहाँ भारतीय लोग अच्छी बड़ी संख्या में निवास करते थे। इस काल में तोन्किन चीन के साम्राज्य के अन्तर्गत था, अतः चीन के विविध प्रदेशों में बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए तोन्किन के भिक्षुओं व आचार्यों द्वारा कार्य किया जाना सर्वथा स्वाभाविक था।

(४) चीन में बौद्ध धर्म का प्रचार करने वाले भारतीय विद्वान्

चीन में बौद्ध धर्म का प्रचार प्रधानतया मध्य एशिया और दक्षिण-पूर्वी एशिया के उन राज्यों तथा भारतीय उपनिवेशों द्वारा हुआ था, जो प्राचीन समय में भारतीय संस्कृति तथा धर्म के केन्द्र थे। इनमें निवास करने वाले बौद्ध आचार्यों, स्थविरों तथा भिक्षुओं के लिए चीन आना-जाना अधिक सुगम था, क्योंकि इनकी स्थिति चीन के अधिक समीप थी। पर भारत से भी बहुत-से बौद्ध प्रचारक चीन गये थे, और उन्होंने भी वहाँ भगवान् तथागत के धर्म का प्रचार करने के लिए महत्त्वपूर्ण कार्य किया था।

सम्राट् मिंग-ती के शासन काल (५८-७५ ईस्वी) में काश्यप मातंग और धर्मरक्ष नामक दो भारतीय भिक्षु धर्मप्रचार के लिये चीन गये थे, यह पहले लिखा जा चुका है। चीन में बौद्ध धर्म का सूत्रपात इन भारतीयों द्वारा ही हुआ था, यह चीन की प्राचीन ऐतिहासिक अनुश्रुति द्वारा भली-भाँति प्रमाणित है। इन्हीं के निवास के लिए चीनी सम्राट् ने अपनी राजधानी लो-यांग में श्वेताश्व विहार का निर्माण कराया था। वहाँ रहते हुए इन भिक्षुओं ने अनेक संस्कृत ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया था, जिनमें से केवल 'द्वाचत्वारिंशत् सूत्र' ही इस समय प्राप्त है। चाङ्-किएन और पान-छाओ के प्रयत्न से इस काल में मध्य एशिया के साथ चीन का सम्बन्ध बहुत बढ़ गया था, और पश्चिमी देशों से चीन जा-आ सकना बहुत सुगम हो गया था। यही कारण है, कि काश्यप मातंग और धर्मरक्ष के बाद ढाई तीन सदियों तक जो आचार्य व भिक्षु बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए चीन गये, वे प्रधानतया पार्थिया, युइशि, कुची, खोतन तथा सुग्ध आदि ऐसे देशों के निवासी थे, जिनमें ईस्वी सन् के प्रारम्भ काल तक बौद्ध धर्म का भली-भांति प्रचार हो चुका था। मध्य एशिया के इन प्रचारकों का उल्लेख इसी अध्याय में ऊपर किया जा चुका है।

पर चौथी सदी में भारतीय विद्वानों ने भी बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए चीन जाना प्रारम्भ कर दिया था। उन दिनों काश्मीर बौद्ध धर्म का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण केन्द्र था, और वहाँ के विहारों में बहुत-से प्रसिद्ध विद्वान् निवास किया करते थे। ३८१ ईस्वी में संघभूति नाम का काश्मीरी आचार्य चीन पहुँचा था, और चार साल वहाँ निवास कर उसने अनेक बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया था। इनमें

के राजा संघानन्द के पुत्र थे। कुछ समय लंका में निवास कर वे जावा चले गये थे, जहाँ बौद्ध धर्म का प्रचार करने में उन्होंने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य किया था। गुणवर्मा के ज्ञान और गुणों की कीर्ति सुनकर चीनी भिक्षुओं ने अपने राजा से यह प्रार्थना की, कि उन्हें चीन निमन्त्रित किया जाए। भिक्षुओं की प्रार्थना को स्वीकार कर चीन के सम्राट् ने अपना दूत जावा के राजा और गुणवर्मा की सेवा में भेजा और यह आग्रह किया, कि आचार्य चीन पधारें। गुणवर्मा ने चीन के सम्राट् की प्रार्थना स्वीकार कर ली, और ४३१ ईस्वी में वे दक्षिणी चीन की राजधानी नानकिंग पहुँच गये। वहाँ के जेतवन विहार में रहकर उन्होंने अनेक बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। नानकिंग में उनसे पूर्व धर्ममित्र नाम के एक अन्य काश्मीरी विद्वान् निवास कर रहे थे। जो तुङ्-ह्वांग् होते हुए ४२४ ईस्वी में नानकिंग पहुँचे थे।

काश्मीर के समान भारत के अन्य प्रदेशों से भी बहुत-से बौद्ध विद्वान् और भिक्षु धर्म प्रचार के प्रयोजन से चीन गये थे। विहार से पंजाब तक के सारे उत्तरी भारत को चीनी साहित्य में 'मध्यदेश' कहा गया है। इस मध्यदेश के निवासियों में से जो बौद्ध विद्वान् सबसे पूर्व चीन गये, उनका नाम धर्मक्षेम है। वे महायान सम्प्रदाय के सुप्रसिद्ध विद्वान् थे। पहले वे काश्मीर गये। पर वहाँ के निवासी हीनयान के सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय के अनुयायी थे। उन्होंने आचार्य धर्मक्षेम की शिक्षाओं व मन्तयों पर कोई ध्यान नहीं दिया। इस दशा में वे काश्मीर से कुची चले गये, और कुछ समय वहाँ रहकर उन्होंने चीन के लिए प्रस्थान कर दिया। ४१४ से ४३२ तक वे पश्चिमी चीन में रहे, और वहाँ निवास करते हुए उन्होंने बहुत-से बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। आचार्य गौतम प्रज्ञारुचि वाराणसी के निवासी थे। स्थल मार्ग से यात्रा करते हुए ५१६ ईस्वी में वे चीन गए थे, और ५४३ ई० तक वहाँ रहते रहे। गुणभद्र नामक आचार्य समुद्र मार्ग द्वारा ४३५ ई० में चीन पहुँचे थे। लंका से वह कैन्टन गए थे, और वहाँ से नानकिंग। गुणभद्र का जन्म एक पौराणिक परिवार में हुआ था, पर उन्होंने भिक्षुव्रत ग्रहण कर बौद्ध धर्म के प्रचार में अपने जीवन को लगा दिया था। ज्ञानभद्र, जिनयश और यशोगुप्त बंगाल के निवासी थे, और छठी सदी के उत्तरार्द्ध में ये तीनों आचार्य बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए चीन गए थे।

प्राचीन काल में उज्जैन शिक्षा तथा संस्कृति का महत्वपूर्ण केन्द्र था। वहाँ से भी अनेक आचार्य बौद्ध धर्म का प्रचार करने के प्रयोजन से चीन गए थे। उज्जैन के इन आचार्यों में परमार्थ सबसे प्रसिद्ध हैं। वे पहले पाटलिपुत्र गए थे, और वहाँ रह कर उन्होंने अपनी शिक्षा को पूर्ण किया था। उस समय चीन से एक मिशन इस प्रयोजन से भारत आया हुआ था, ताकि किसी प्रसिद्ध एवं गम्भीर बौद्ध विद्वान् को चीन जाने के लिए निमन्त्रित करे। चीनी मिशन का ध्यान आचार्य परमार्थ की ओर गया, और उसने अपनी प्रार्थना उनके सम्मुख प्रस्तुत की। परमार्थ ने चीन जाना स्वीकार कर लिया, और ५४६ ईस्वी में वे चीन पहुँच गए। अपने साथ वे बहुत-से बौद्ध ग्रन्थ भी चीन ले गए थे। ५६९ ईस्वी तक वे चीन में रहे, और वहाँ रहते हुए उन्होंने ७० ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। उपशून्य नामक एक अन्य विद्वान् भी उज्जैन से

चीन गए थे। उन्होंने समुद्र मार्ग द्वारा यात्रा की थी, और नानकिंग को अपना कार्य-क्षेत्र नियत किया था।

काश्मीर के समान गान्धार देश भी प्राचीन काल में बौद्ध धर्म का प्रसिद्ध केन्द्र था। वहाँ से जो बौद्ध विद्वान् चीन में धर्मप्रचार के लिए गये, उनमें बुद्धभद्र, विमोक्षसेन और जिनगुप्त के नाम उल्लेखनीय हैं। बुद्धभद्र नगरहार के निवासी थे। वहाँ वे १७ साल की आयु तक रहे, और फिर बौद्ध धर्म के उच्च अध्ययन के लिए काश्मीर चले गए। जब वह काश्मीर में रह रहे थे, तो उनकी भेंट चीनी यात्री चे-येन से हुई। चे-येन फाइयान के साथ भारत यात्रा के लिए आया था, और भारत के किसी प्रकाण्ड पण्डित को अपने साथ चीन ले जाने के लिए इच्छुक था। बुद्धभद्र चे-येन के साथ चीन जाने को तैयार हो गए। वे दोनों उत्तरी भारत की यात्रा करते हुए पहले बरमा पहुँचे, और वहाँ से चीन चले गए। कुमारजीव उन दिनों चांग-गान में रहकर बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद कर रहे थे। अपने कार्य के लिए उन्हें सुयोग्य सहयोगियों की आवश्यकता थी। कुमारजीव के अनुरोध पर बुद्धभद्र चांग-यान गए और वहाँ रह कर उन्होंने बौद्ध ग्रन्थों के अनुवाद के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण कार्य किया। कुमारजीव उनकी विद्वत्ता का सिक्का मानते थे, और उनके परामर्श को बहुत महत्व देते थे। इसी काल में चीन के एक प्रसिद्ध बौद्ध स्थविर हुई-युग्रान ने दक्षिणी चीन में एक नये विहार की स्थापना की थी, जिसमें प्रामाणिक बौद्ध ग्रन्थों को चीनी भाषा में अनूदित करने के लिए एक अनुवादपीठ भी विद्यमान था। हुई-युग्रान के निमन्त्रण को स्वीकार कर बुद्धभद्र दक्षिणी चीन के इस स्थान पर गए, और कुछ समय वहाँ निवास कर वे नानकिंग चले गए, जहाँ के राजा ने उन्हें अत्यन्त आग्रहपूर्वक निमन्त्रित किया था। ४२६ ई० में नानकिंग में ही उनकी मृत्यु हुई। पर चीन के अनेक स्थानों पर चिरकाल तक निवास करते हुए बुद्धभद्र ने बौद्ध ग्रन्थों को चीनी भाषा में अनूदित करने के सम्बन्ध में जो कार्य किया वह अत्यन्त महत्वपूर्ण था।

विमोक्षसेन स्वात की घाटी में बसे हुए एक शाक्य परिवार के कुमार थे। कोशल देश के राजा विरुधक (विडूडभ) ने जब कपिलवस्तु के गणराज्य पर आक्रमण किया था और शाक्यों का यह राज्य उजड़ गया था, तो कतिपय शाक्य परिवार अपने अभिजन को छोड़कर दूसरे देशों में जा बसे थे। दो शाक्य परिवार भारत के उत्तर-पश्चिम में स्थित गान्धार से भी परे बस गए थे। विमोक्षसेन का जन्म इनमें से एक परिवार में हुआ था। ५४१ में यह आचार्य चीन गए थे, और वहाँ जाकर अनेक बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया था। विमोक्षसेन अभिधम्म पिटक के विख्यात विद्वान् थे।

जिनगुप्त पुष्पपुर (पेशावर) के निवासी थे, जो कनिष्क के समय में गान्धार का मुख्य नगर हो गया था। उनके पिता एक उच्च कर्मचारी थे, पर उन्होंने बाल्यावस्था में ही भिक्षुव्रत ग्रहण कर पुष्पपुर के महावन विहार में धर्मग्रन्थों तथा शास्त्रों का अध्ययन प्रारम्भ कर दिया था। २७ साल की आयु में वे कपिशा और खोतन होते हुए चीन पहुँच गए (५५७ ईस्वी)। साथ में उनके गुरु आचार्य ज्ञानभद्र

और जिनयश भी थे। इन्होंने चाँग-गान को अपना केन्द्र बनाया, और वहाँ के राजा की आज्ञा से इनके निवास के लिए एक पृथक विहार का निर्माण कराया गया।

भारत के अन्य प्रदेशों से धर्मप्रचार के लिए चीन जाने वाले बौद्ध विद्वानों में धर्मगुप्त का नाम उल्लेखनीय है। वे लाट देश (काठियावाड़) के निवासी थे। विद्या के अध्ययन के लिए वे वहाँ से कान्यकुब्ज (कन्नौज) गए, और वहाँ के कौमुदी संघाराम में रहकर उन्होंने बौद्ध धर्म की उच्च शिक्षा प्राप्त की। २५ साल की आयु में उन्होंने भिक्षुव्रत ग्रहण कर लिया, और फिर पंजाब के टक्का नामक स्थान के देव विहार में निवास करने लगे। कुछ समय वहाँ रहकर वे कपिशा, बल्ख बदख्शाँ और काशगर होते हुए भी कुची जा पहुँचे। कुची का राजा चाहता था, कि वे कुची ही रहते रहें। पर वे चीन जाने के लिए उत्सुक थे। अतः उन्होंनें छिपकर कुची से प्रस्थान कर दिया, और काराशहर (अग्निदेश), तुर्फान तथा हामी होते हुए ५६० में वे चाँग-गान पहुँच गए। कुछ समय वहाँ रहकर उन्होंने लो-यांग के लिए प्रस्थान कर दिया। चीन के सम्राट् का निवास उन दिनों लो-यांग में ही था। ६१९ में उनकी वहीं पर मृत्यु हुई। धर्मगुप्त केवल बौद्ध धर्म के ही प्रकाण्ड विद्वान् नहीं थे, अपितु उनके ज्ञान, चिन्तन आदि का क्षेत्र अत्यन्त विस्तीर्ण था। वे जिन देशों में भी गये, उनकी जलवायु, आर्थिक उत्पादन निवासस्थानों की दशा, रीतिरिवाज, चाल-चलन, भोजन-पान, सरकार व शासन, पोशाक, शिक्षापद्धति, व्यापारिक पदार्थ, पर्वत, नदी, नगर और प्रसिद्ध व्यक्ति आदि का उन्होंने सूक्ष्मता पूर्वक अध्ययन किया और उनका विवरण भी लिखा। दुर्भाग्यवश आचार्य धर्मगुप्त का यह ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं हो सका है। पर भविष्य में यदि कभी यह ग्रन्थ प्राप्त हो गया, तो इसका महत्व ह्यु एन्-त्सांग के यात्रा विवरण से कदापि कम **न** होगा।

पाँचवीं सदी में बुद्धधर्म नाम का एक भारतीय भिक्षु समुद्र मार्ग से चीन गया था, और उसने दक्षिणी चीन में बौद्ध धर्म का प्रचार किया था। चीन का अन्यतम बौद्ध सम्प्रदाय शान्-तो (ध्यान) है, जो ध्यान-समाधि को बहुत महत्त्व देता है। इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक बुद्धधर्म ही थे।

तांग वंश के शासन काल (६१८ ई० से दसवीं सदी के प्रारम्भ समय तक) में चीन की राजनीतिक एकता भलीभाँति स्थापित हो गई थी। देश में सर्वत्र शान्ति और व्यवस्था थी, जिसके कारण लोगों का एक स्थान से दूसरे स्थान पर आना-जाना बहुत सुगम हो गया था। भारत और चीन के पारस्परिक सम्बन्धों में इस काल में और भी अधिक वृद्धि हुई। चीन के नगरों में बहुत-से भारतीय भिक्षु और व्यापारी निवास करने लगे। इस काल में नालन्दा भारत का सबसे प्रसिद्ध विद्यापीठ था। बहुत-से चीनी विद्यार्थी इस काल में धर्म और ज्ञान की प्राप्ति के लिए नालन्दा आये, और बहुत-से भारतीय विद्वान् भी इस समय में नालन्दा से चीन गए।

तांग वंश के शासन काल में भारत से चीन जाने वाले बौद्ध विद्वानों में सर्वप्रथम स्थान आचार्य प्रभाकर मित्र का है। वे मध्य भारत के एक राजकुल में उत्पन्न हुए थे। दस वर्ष की आयु में ही उन्होंने बौद्ध ग्रन्थों का अध्ययन प्रारम्भ कर लिया था।

उनके विषय में यह अनुश्रुति है, कि उन्हें महायान सम्प्रदाय के एक लाख श्लोक कण्ठस्थ थे। उच्च ज्ञान की प्राप्ति के लिए वे नालन्दा आये थे, और वहाँ आचार्य शीलभद्र के पास रह कर उन्होंने शिक्षा प्राप्त की थी। कुछ समय पश्चात् उन्हें नालन्दा में ही अभिधम्म पिटक का अध्यापक नियुक्त कर दिया गया था। पर विदेश यात्रा की उन्हें प्रबल इच्छा थी। अतः नालन्दा छोड़कर वे भारत के उत्तर-पश्चिमी देशों की ओर चल पड़े, और मध्य एशिया की यात्रा करते हुए पश्चिमी तुर्कों के राज्य में जा पहुँचे। वहाँ उन्होंने तुर्क राजा (खान) को बौद्ध धर्म का उपदेश दिया। तुर्क खान के दरबार में स्थित चीनी राजदूत द्वारा उनकी कीर्ति चीन में पहुँच गई, और वहाँ के सम्राट् से निमन्त्रण प्राप्त कर ६२७ ई० में वे चीन चले गये। वहाँ के सम्राट् ने उनका बहुत सम्मान किया, और उनके निवास आदि की सब व्यवस्था अपनी ओर से कर दी। चीन के राजदरबार में उस समय बहुत-से लोग ऐसे भी थे, जो कन्फ्यूसियस के अनुयायी और बौद्ध धर्म के विरोधी थे। प्रभाकरमित्र को जो सम्मान सम्राट् द्वारा प्राप्त हो रहा था, उससे वे बहुत असन्तुष्ट हुए और उन्होंने सम्राट् को उनके विरुद्ध बहकाना शुरू कर दिया। सम्राट् उनके बहकाये में आ गया, और सम्राट् द्वारा उपेक्षित होकर ६३३ ई० में चीन में ही प्रभाकरमित्र की मृत्यु हुई।

६९३ ईस्वी में बोधिरुचि नामक एक विद्वान् चीन गए। वे दक्षिणी भारत के निवासी थे। पहले उन्होंने साँख्य आदि दर्शनों का अध्ययन किया, और बाद में बौद्ध धर्म व दर्शन के प्रति रुचि हो जाने के कारण उन्होंने बौद्ध ग्रन्थों का अनुशीलन प्रारम्भ किया। ६९२ ईस्वी में उनकी भेंट चालुक्य राजा के दरबार में विद्यमान एक चीनी राजदूत से हुई। उसने उन्हें चीन जाने के लिए निमन्त्रण दिया। ६९३ में चीन पहुँच कर उन्होंने बौद्ध ग्रन्थों को चीनी भाषा में अनूदित करना प्रारम्भ कर दिया। कुछ वर्ष बाद ७०६ ईस्वी में वह चांग-गान पहुँचे, जहाँ उस समय बहुत-से भारतीय विद्वान् निवास कर रहे थे और बौद्ध ग्रन्थों का अनुवाद करने में व्यापृत थे। बोधिरुचि भी उनमें शामिल हो गए, और वहाँ उन्होंने ५३ ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। उनके समय में जो अन्य अनेक भारतीय भिक्षु चांग-गान में अनुवाद कार्य कर रहे थे, उनमें ईश्वर, धर्म और प्राणगुप्त के नाम उल्लेखनीय हैं। ह्यु एन्-त्सांग जो बहुत-से ग्रन्थ भारत से अपने साथ चीन ले गया था, चांग-गान में उन्हीं का अनुवाद किया जा रहा था।

शुभकर्णसिंह नामक एक अन्य भारतीय विद्वान् ७१६ ईस्वी में चांग-गान पहुँचे थे। वे नालन्दा के विद्यापीठ के साथ सम्बद्ध थे, और चीन जाने से पूर्व तुर्कों के राज्य में भी रहे थे। नालन्दा से जाते हुए वे बहुत-से संस्कृत ग्रन्थ भी अपने साथ ले गए थे। कुछ वर्ष चांग-गान में रहकर शुभकर्णसिंह लो-यांग चले गए थे, जहाँ ९९ साल की आयु में उनकी जीवनलीला समाप्त हुई थी।

आचार्य वज्रबोधि मध्य भारत के एक राजा ईशानवर्मा के पुत्र थे। घर का परित्याग कर वे नालन्दा चले आये थे, और वहाँ रहकर ही उन्होंने धर्म तथा दर्शन की उच्च शिक्षा प्राप्त की थी। शिक्षा पूर्ण कर वे काञ्ची (काञ्जीवरम) गए, जहाँ पल्लवराज

नरसिंह पोतवर्मन् को उन्होंने धर्म की शिक्षा प्रदान की। कुछ समय काञ्ची में निवास कर वे लंका चले गए। उन दिनों लंका का राजा अपना एक दूतमण्डल चीन भेज रहा था। वज्रबोधि भी उसके साथ चीन गये, और वहाँ जाकर उन्होंने महाप्रज्ञापारमिता सूत्र तथा अन्य अनेक ग्रन्थ चीन के राजा को भेंट में प्रदान किए। ७२० ईस्वी में वे कैन्टन गए, और वहीं स्थायी रूप से निवास करने लगे। बहुत-से युवक वहाँ उनके शिष्य हो गए, जिनमें अमोघवज्र नामक भारतीय का स्थान सर्वोच्च था।

दसवीं सदी और उसके बाद भी भारतीय विद्वानों की चीन जाने की परम्परा जारी रही। ९७२ ई० में को-चे, फा-किअन, चेन ली और सु-को-तो नामक भारतीय भिक्षु ४० अन्य भिक्षुओं के साथ पश्चिमी भारत से चांग-गान गये थे। ९७३ ई० में चीन के राजा ने नालन्दा से आये एक भारतीय विद्वान् फा-तिउन (धर्मदेव) का अपने दरबार में अत्यन्त सम्मानपूर्वक स्वागत किया था। वे चीन में ही निवास करने लगे थे, और वहीं १००१ ई० में उनकी मृत्यु हुई थी। ९८२ ईस्वी में चीन के सम्राट् ने बौद्ध धर्म के प्रामाणिक ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद करने के लिए अनुवादकों की एक मण्डली को संगठित किया था, जिसके अध्यक्ष आचार्य धर्मदेव को बनाया गया था। इनके प्रयत्न से ९८२ से १००१ ईस्वी तक २०१ ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद हुआ। १०३६ ईस्वी तक भारतीय विद्वानों के चीन जाने की प्रक्रिया जारी रही। पर इसके बाद भारतीयों का चीन जाना बन्द हो गया।

(५) चीन के बौद्ध विद्वानों की भारत यात्राएँ

यद्यपि चीन में बौद्ध धर्म के प्रचार का सूत्रपात काश्यप मातंग और धर्मरक्ष नामक दो भारतीय भिक्षुओं द्वारा किया गया था, पर शुरू में जो बहुत-से धर्मप्रचारक वहाँ गए, वे प्रधानतया मध्य एशिया के उन राज्यों से गए थे जो ईस्वी सन् के प्रारम्भ काल तक बौद्ध धर्म के महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन चुके थे। सुग्ध, कुची, खोतन आदि के ये बौद्ध विद्वान् बौद्ध धर्म के जिन ग्रन्थों को अपने साथ ले गए थे, उनकी प्रामाणिकता में सन्देह की गुञ्जाइश थी। अत: स्वाभाविक रूप से चीन के अनेक बौद्ध विद्वानों में यह इच्छा उत्पन्न हुई, कि वे भारत जाकर अपने धर्म के मूल एवं प्रामाणिक ग्रन्थों को प्राप्त करें, भारतीय विद्वानों से उन ग्रन्थों का अध्ययन करें और साथ ही उन तीर्थ-स्थानों, चैत्यों तथा स्तूपों के दर्शन भी करें जिनके साथ तथागत बुद्ध का सम्बन्ध था। इन उद्देश्यों को सम्मुख रखकर तीसरी सदी में चीनी विद्वानों व भिक्षुओं ने भारत आना प्रारम्भ किया, और उनकी यात्राओं की यह प्रक्रिया ग्यारहवीं सदी के पूर्वार्ध तक जारी रही।

धर्म तथा ज्ञान की पिपासा को शान्त करने के प्रयोजन से भारत की यात्रा के लिए प्रस्थान करने वाले चीनी विद्वानों में सर्वप्रथम चू शे-हिंग था। लो-यांग के श्वेताश्व विहार में अपनी शिक्षा को समाप्त कर २६० ईस्वी में वह भारत के लिए चला, और मध्य एशिया के विभिन्न स्थानों की यात्रा करते हुए खोतन पहुँच गया। उन दिनों खोतन बौद्ध धर्म का केन्द्र था और वहाँ के विहारों में बहुत-से बौद्ध विद्वान् निवास

करते थे। काश्मीर के साथ खोतन का सीधा सम्बन्ध था, और काश्मीरी स्थविर तथा भिक्षु वहाँ बहुधा आते-जाते रहते थे। यू शे-हिंग खोतन में ही रह गया, और वहीं से बहुत-से संस्कृत ग्रन्थ प्राप्त कर उन्हें उसने अपने शिष्यों के हाथ चीन भेज दिया। चू शे-हिंग तो भारत नहीं आ सका, पर तीसरी सदी में कतिपय अन्य चीनी यात्री अवश्य भारत आए थे। यि-त्सिंग ने लिखा है, कि तीसरी सदी के मध्य में २० चीनी भिक्षु यून्नान-बरमा मार्ग से भारत गए थे, और मगध के राजा ने उनका उत्साहपूर्वक स्वागत किया था। उस समय मगध के राजसिंहासन पर श्रीगुप्त विराजमान था, जिसे गुप्तवंश का प्रवर्तक माना जाता है। श्रीगुप्त ने इन चीनी भिक्षुओं के निवास के लिए एक संघाराम का निर्माण कराया था, जिसके खण्डहर सातवीं सदी में भी विद्यमान थे और उन्हें यि-त्सिंग ने देखा भी था। सातवीं सदी के कतिपय अन्य चीनी यात्रियों ने भी इस चीनी संघाराम का उल्लेख किया है। पर जिन २० चीनी यात्रियों के निवास के लिए राजा श्रीगुप्त ने इस संघाराम का निर्माण कराया था, उनके नाम हमें ज्ञात नहीं हैं।

चौथी सदी के उत्तरार्ध में चीन के लोगों में भारत यात्रा के लिए विशेष उत्साह उत्पन्न हुआ, जिसका प्रधान श्रेय ताओ-न्गान नामक चीनी विद्वान् को दिया जाना चाहिए। ताओ-न्गान का जन्म चीन के एक ऐसे प्रतिष्ठित परिवार में हुआ था, जो कन्फ्यूसियस का अनुयायी था। पर शुरू से ही उसका झुकाव बौद्ध धर्म की ओर था, और बाल्यावस्था में ही बौद्ध धर्म की दीक्षा ग्रहण कर उसने लो-यांग में रहकर बौद्ध ग्रन्थों का अध्ययन प्रारम्भ कर दिया था। शीघ्र ही उसके सदाचारमय जीवन तथा विद्वत्ता की ख्याति चीन में दूर-दूर तक फैल गई। बौद्ध ग्रन्थों के जो अनुवाद उस समय चीनी भाषा में उपलब्ध थे, उनके अभिप्राय को स्पष्ट करने के लिए ताओ-न्गान ने अनेक भाष्य लिखे। इन भाष्यों को लिखते हुए उसने अनुभव किया, कि बौद्ध ग्रन्थों के चीनी अनुवादों में बहुत-सी अशुद्धियाँ रह गई हैं, जिन्हें दूर करने के लिए संस्कृत के मूल ग्रन्थों को प्राप्त करना बहुत आवश्यक है। इसी उद्देश्य से ताओ-न्गान ने मध्य एशिया से अनेक भारतीय विद्वानों को चीन निमन्त्रित किया। साथ ही, उसने भारत के सम्बन्ध में एक ऐसी पुस्तक भी तैयार की, जिससे इस देश के विषय में यथोचित जानकारी प्राप्त की जा सकती थी। ताओ-न्गान चाहता था, कि चीन के युवक भिक्षु इस पुस्तक को पढ़कर भारत-यात्रा के लिए उत्साहित हों, और वहाँ जाकर बौद्ध धर्म के सत्य सिद्धान्तों तथा मूल ग्रन्थों का प्रामाणिक रूप से परिचय प्राप्त किया करें। ताओ-न्गान ने चीन के विविध प्रदेशों में बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिए अनेक प्रचारक-मण्डलों का भी संगठन किया था। उसकी मृत्यु ३८५ ईस्वी में हुई। उसने बौद्धधर्म तथा भारत के विषय में जो जिज्ञासा चीनी लोगों में उत्पन्न कर दी थी, शीघ्र ही उसके परिणाम प्रगट होने लगे, और बहुत-से चीनी यात्रियों ने प्रामाणिक बौद्ध ग्रन्थों को प्राप्त करने, बौद्ध धर्म तथा दर्शन का उच्च अध्ययन करने और तीर्थदर्शन के लिए भारत आना प्रारम्भ कर दिया।

ताओ-न्गान से प्रेरणा प्राप्त कर जो चीनी यात्री भारत आये, उनमें सर्वप्रथम

स्थान फाइयान का है। ३६६ ईस्वी में उसने भारत के लिए प्रस्थान किया। हुई-किंग, ताम्रो-किंग, हुई-यिंग और हुई-वेई नाम के अन्य चीनी भिक्षु भी उसके साथ थे। मध्य-एशिया के स्थल मार्ग से भारत यात्रा के लिए जब फाइयान की यह मण्डली चीन की पश्चिमी सीमा पर तुङ्ह्वांग पहुँची, तो वहाँ एक अन्य मण्डली मिली, जो भी भारत जा रही थी। इसमें चे-येन, हुई-किग्रन, सेंग-शाग्रो, पाग्रो-युन और सेंग-किंग सम्मिलित थे। तुङ्ह्वाँग में यात्रियों की दोनों मण्डलियाँ साथ हो गई, और पश्चिमी चीन के राजपदाधिकारियों ने उनकी यात्रा की समुचित व्यवस्था कर दी। तुङ्ह्वांग से ये चीनी यात्री काराशहर (अग्नि देश) गए, और वहाँ से तकला मकान की मरुभूमि को पार कर खोतन आ गए। मार्ग में उन्हें बहुत कष्ट उठाने पड़े, क्योंकि मरुभूमि की परिस्थितियाँ यात्रा के लिए सर्वथा प्रतिकूल थीं। खोतन से वे कर्घलिक और ताश-कुर्धन हो काश्मीर गए, जो उस समय बौद्ध धर्म का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। तुङ्ह्वांग से जो भिक्षु फाइयान के साथ भारत की यात्रा के लिए चले थे, बाद में वे सब एक साथ नहीं रहे। पर उन्होंने भारत के बहुत-से तीर्थस्थानों की यात्रा की, और अनेक विहारों में निवास कर बौद्ध धर्म का अध्ययन किया। फाइयान की यात्रा-क्षेत्र बहुत विस्तृत था। उड्डीयान, सुवास्तु, नगरहार, तक्षशिला, मथुरा, कान्यकुब्ज, श्रावस्ती, कपिलवस्तु, वैशाली, पाटलिपुत्र, राजगृह, बोधगया, वाराणसी, चम्पा, ताम्रलिप्ति आदि कितने ही स्थानों पर वह गया, और बौद्ध चैत्यों तथा मूर्तियों आदि के दर्शन कर बहुत-से विद्वानों तथा स्थविरों का सत्संग भी उसने किया। ताम्रलिप्ति में वह दो साल रहा, और वहाँ रह कर बहुत-से संस्कृत ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ तथा बौद्ध मूर्तियों की अनुकृतियाँ उसने तैयार कीं। इन सब को वह अपने साथ चीन ले गया। वापसी यात्रा उसने समुद्र मार्ग से की। ताम्रलिप्ति से वह जहाज द्वारा लंका गया, और वहाँ भी वह दो साल के लगभग रहा। वहाँ रहते हुए भी उसने कितने ही बौद्ध ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ चीन ले जाने के लिए तैयार कीं। लंका से जहाज द्वारा चीन जाते हुए समुद्र में भयंकर तूफान आ गया, जिसके कारण जहाज पथभ्रष्ट हो गया। पर ९० दिन की समुद्रयात्रा के पश्चात् वह जावा पहुँच सकने में समर्थ हुआ। उस समय जावा के निवासी प्रधानतया पौराणिक हिन्दू धर्म के अनुयायी थे, बौद्ध धर्म का वहाँ विशेष प्रचार नहीं था। कुछ दिन जावा में रहकर फाइयान ने जहाज द्वारा चीन के लिए प्रस्थान कर दिया। पर उसकी यह यात्रा भी निरापद नहीं रही। मार्ग में फिर आँधी तूफान आ गया। जहाज के बहुसंख्यक यात्री पौराणिक हिन्दू धर्म के अनुयायी थे। उन्होंने समझा, कि प्रकृति का यह भयंकर प्रकोप इस श्रमण के कारण है, जो उनके साथ यात्रा कर रहा है। उन्होंने चाहा कि फाइयान को मार्ग में किसी टापू पर उतार दें। पर एक सम्भ्रान्त यात्री के हस्तक्षेप के कारण वे ऐसा नहीं कर सके, और ४१४ ईस्वी में अपनी भारत यात्रा को समाप्त कर वह सकुशल चीन वापस पहुँच गया। सम्भवतः, फाइयान ही वह पहला चीनी यात्री था, जिसने कि मध्य एशिया के विकट मार्ग से भारत में प्रवेश कर कपिलवस्तु से लंका तक की यात्रा की थी, और जो फिर दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध द्वीपों से होकर स्वदेश वापस गया था। मार्ग में उसे भयंकर कष्टों का सामना करना पड़ा

था। इन कष्टों को याद करते हुए उसने लिखा था—"जो कुछ मुझ पर बीता है, उसे स्मरण कर मेरा हृदय विचलित हो जाता है और मुझे पसीना आने लगता है। अपनी जरा भी चिन्ता न कर मैंने जो खतरों का सामना किया और अत्यधिक भयावह स्थानों पर जो मैं चला, उसका कारण यही था कि एक सुनिश्चित उद्देश्य मेरे सम्मुख था और मैं केवल यही ध्यान रखता था कि इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए जो कुछ भी सम्भव हो, मुझे अवश्य करना है।" इसमें सन्देह नहीं, कि फाइयान को अपने उद्देश्य की पूर्ति में सफलता हुई। भारत में रहकर उसने संस्कृत भाषा का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन किया और इसमें उसने इतनी योग्यता प्राप्त कर ली, कि महसाँघिक सम्प्रदाय के विनय-पिटक सदृश अनेक ग्रन्थों का वह मूल संस्कृत से चीनी भाषा में अनुवाद कर सका। अपनी सुदीर्घ यात्रा में उसका ध्यान केवल बौद्ध धर्म के अध्ययन की ओर रहा। इसीलिए उसने अपनी यात्रा का जो वृत्तान्त लिखा, उससे मध्य एशिया तथा भारत के विविध प्रदेशों में उस समय बौद्ध धर्म की जो दशा थी, उसका अच्छा परिचय मिल जाता है।

फाइयान के साथ जो अनेक चीनी भिक्षु भारत आये थे, उनमें एक पाओ-युन भी था जिसने कपियय अन्य भिक्षुओं की मण्डली के साथ ३९७ ईस्वी में अपनी यात्रा प्रारम्भ की थी और जो तुङ्ह्वांग् में फाइयान के साथ हो लिया था। भारत में रह कर उसने भी संस्कृत भाषा की शिक्षा प्राप्त की थी, और चीन वापस जाते हुए बहुत-से संस्कृत ग्रन्थ भी वह अपने साथ ले गया था। उसने अपनी यात्रा का वृत्तान्त भी लिखा था, पर वह इस समय प्राप्य नहीं है।

४०४ ईस्वी में १४ चीनी भिक्षुओं की एक अन्य मण्डली चांग-गान से भारत के लिए रवाना हुई थी। इसका नेता चे-मोंग नामक एक भिक्षु था। लोबनौर से शेन शेन, कुची और खोतन होती हुई इस मण्डली ने पामीर की पर्वतमाला को पार कर काश्मीर में प्रवेश किया था। मार्ग के कष्टों से घबराकर चे-मोंग के ९ साथी पामीर से ही वापस लौट गए थे, और वह केवल ४ भिक्षुओं के साथ काश्मीर पहुँच सकने में समर्थ हुआ था। कपिलवस्तु और पाटलिपुत्र आदि की यात्रा कर और वहाँ से बहुत-से बौद्ध ग्रन्थों का संग्रह कर चे-मोंग तथा उसके साथी ४२४ ईस्वी में मध्य एशिया के उसी मार्ग से चीन वापस लौट गये, जिससे कि वे भारत आये थे। ४३९ ईस्वी में चे-मोंग ने भी अपनी यात्रा का वृत्तान्त लिखा था, जो दुर्भाग्यवश इस समय उपलब्ध नहीं है।

पाँचवीं सदी के प्रथम चरण में चीन के सम्राट् ने ताओ-पू नामक विद्वान् भिक्षु को अपनी ओर से इस प्रयोजन से भारत भेजा, ताकि वह इस देश से बौद्ध धर्म के प्रामाणिक ग्रन्थों को प्राप्त कर सके। ग्रन्थों की प्रतिलिपि करने में ताओ-पू को कोई कठिनाई न हो, इसलिए दस सुलेखक भी उसके साथ भेज दिए गये। इस मण्डली ने समुद्र मार्ग से यात्रा प्रारम्भ की, पर समुद्र में तूफान आ जाने के कारण जहाज डूब गया और ताओ-पू तथा उसके साथी भारत नहीं पहुँच सके।

ताओ न्गान से प्रेरणा प्राप्त कर फाइयान और अन्य बहुत-से चीनी भिक्षु जो इस काल में भारत की यात्रा कर चीन वापस जा रहे थे, उनके यात्र-वृत्तान्तों को पढ़कर

चीन में नये उत्साह का संचार हुआ, और बहुत-से लोग यह सोचने लगे कि प्रामाणिक व वास्तविक बौद्ध ग्रन्थों को भारत से ही प्राप्त किया जा सकता है, और चीन में धर्म के शुद्ध रूप को कायम रखने के लिए यह आवश्यक है कि भारत से इन धर्मग्रन्थों को प्राप्त करने का पूरा-पूरा उद्योग किया जाए। इसीलिए सन् ५१८ में वेई वंश की एक साम्राज्ञी ने सरकार की ओर से एक मिशन भारत भेजा, जिसका अध्यक्ष सुँग-युन था। हुई-शेंग नाम का एक बौद्ध भिक्षु भी इस मिशन के साथ भेजा गया। मध्य एशिया के दक्षिणी स्थलमार्ग से शेन शेन (लोबनौर के समीप), चर्चन, खोतन और कर्घलिक होता हुआ यह मिशन गान्धार पहुँचा, और उत्तर-पश्चिमी भारत के काश्मीर आदि प्रदेशों की यात्रा कर स्थलमार्ग से ही ५२२ ईस्वी में चीन वापस चला गया। सुँग-युन ने भारत यात्रा का जो विवरण लिखा था, वह अब प्राप्य नहीं है, पर उसकी कुछ बातें अन्य चीनी ग्रन्थों में उद्धृत पायी जाती हैं।

सुई वंश के सम्राट् यांग (६०५-६१६) ने भी मध्य एशिया के मार्ग से एक मिशन भारत भेजा था, और बौद्ध धर्म के प्रामाणिक ग्रन्थ प्राप्त करने का कार्य उसके सुपुर्द किया गया था। वेई-त्सी और तू हिंग-मान इस मिशन के मुख्य सदस्य थे। उत्तरी भारत में यह मिशन दूर-दूर तक गा था। इसके द्वारा जो यात्रा वृत्तान्त लिखा गया था, वह भी अब नष्ट हो चुका है।

६१८ ई० में चीन में तांग वंश के शासनकाल का प्रारम्भ हुआ। चीन के इतिहास में यह पुनर्जागरण तथा समृद्धि का काल था। चीन की राजनीतिक एकता की स्थापना तथा देश में शान्ति व व्यवस्था कायम रखने में इस वंश के सम्राटों ने अच्छी सफलता प्राप्त की थी। बौद्ध धर्म में भी उनकी बहुत रुचि थी। इसीलिए सातवीं सदी में जहाँ अनेक चीनी भिक्षु व्यक्तिगत रूप से भारत की यात्रा के लिए प्रवृत्त हुए, वहाँ साथ ही तांग सम्राटों ने भी अपनी ओर से अनेक मिशन भारत भेजे। इन सबका उद्देश्य यह था, कि नालन्दा सदृश विद्यापीठों में रह कर चीनी भिक्षु बौद्ध ग्रन्थों का गम्भीर रूप से अध्ययन करें, संस्कृत के मूल बौद्ध ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ करा के उन्हें चीन लाया जाए, बुद्ध तथा बोधिसत्त्वों आदि की मूर्तियों तथा चित्रों की अनुकृतियाँ चीन ले जायी जाएँ और यह भी यत्न किया जाए कि तथागत बुद्ध की अस्थियों व अन्य अवशेषों को भी चीन ले जाने के लिए प्राप्त किया जा सके। वैदिक तथा पौराणिक साहित्य, दर्शन, गणित, ज्योतिष और आयुर्वेद के प्रति भी तांग सम्राटों की रुचि थी, और वे चाहते थे कि चीनी युवक भारत जाकर इन विषयों का भी अध्ययन करें। इसीलिए उन्होंने अपने देशवासियों को भारत यात्रा के लिए प्रोत्साहित किया, और उन्हें सब प्रकार से सहायता प्रदान की।

तांग वंश के शासनकाल में जो चीनी यात्री भारत आये, ह्यु एन्-त्सांग का उनमें सर्वोच्च स्थान है। उनका जन्म ६०० ईस्वी में एक कुलीन परिवार में हुआ था, और उनके पिता एक अत्यन्त प्रतिष्ठित व सुशिक्षित व्यक्ति थे। वे कन्फ्यूसियस के अनुयायी थे। इसीलिए ह्यु एन्-त्सांग की शिक्षा की व्यवस्था चीन की पुरानी शैली के अनुसार की गई थी। पर उनका झुकाव बौद्ध धर्म की ओर था, और २० वर्ष की आयु में ही

उन्होंने भिक्षुव्रत ग्रहण कर लिया था। भिक्षु बनकर ह्यु एन्-त्सांग चीन में अनेक स्थानों पर गये और वहाँ के संघारामों में निवास कर उन्होंने बौद्ध धर्म का उच्च अध्ययन किया। पर इससे उन्हें सन्तोष नहीं हुआ। वे चाहते थे, कि भारत जाकर बौद्ध धर्म के मूल संस्कृत ग्रन्थों का अध्ययन किया जाए और साथ ही बौद्ध तीर्थों का दर्शन भी। भारत-यात्रा की उत्कट अभिलाषा को लेकर ६२९ ईस्वी में उन्होंने चांग-गान से प्रस्थान किया, और तुङ् ह्वांग् होकर वे काओ-शांग (तुर्फान) पहुँच गये। उन दिनों थियानशान पर्वतमाला के समीपवर्ती प्रदेश तुर्कों के शासन में थे, और तुर्फान के राजा का तुर्क कगान (खान) के साथ मैत्री सम्बन्ध था। इस काल में मध्य एशिया के उत्तरी प्रदेश तुर्कों के स्वत्त्व में आ चुके थे। तुर्फान के राजा ने ह्यु एन्-त्सांग को परामर्श दिया, कि वे थियानशान की उपत्यका से होकर यात्रा करें और मार्ग में तुर्क कगान से भी भेंट करें। इसे स्वीकार कर ह्यु एन्-त्सांग ने काराशहर (अग्निदेश), कुची और भरुक होते हुए थियानशान पर्वत माला को पार किया और वे तुर्क कगान की राजधानी में पहुँच गये। तुर्क कगान को बौद्ध धर्म में रुचि थी, क्योंकि नालन्दा के प्रसिद्ध आचार्य प्रभाकरमित्र चीन जाते हुए मार्ग में तुर्क कगान की राजधानी में भी ठहरे थे और वहाँ से गये उन्हें अभी अधिक समय नहीं हुआ था। प्रभाकरमित्र से भेंट करने के अनन्तर तुर्क कगान का झुकाव बौद्ध धर्म की ओर हो गया था। इसीलिए जब ह्यु एन्-त्सांग उनकी राजधानी में पहुँचे, तो उनके स्वागत सत्कार में कोई कसर नहीं रखी गई और आगे के प्रदेशों में उनकी यात्रा के लिए सब समुचित व्यवस्था भी कर दी गई। अब ह्यु एन्-त्सांग सुग्ध, बल्ख, बामियान और कपिश की यात्रा करते हुए भारत आ गए। वे सोलह साल भारत में रहे, और इस काल में उन्होंने भारत के प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण स्थानों की यात्रा की। नेपाल सदृश जिन प्रदेशों में वे नहीं जा सके, उनके सम्बन्ध में भी जानकारी प्राप्त करने का उन्होंने पूरा-पूरा प्रयत्न किया। भारत में सबसे अधिक समय उन्होंने नालन्दा में व्यतीत किया, जहाँ वे पाँच वर्ष रहे। कन्नौज के राजा हर्षवर्धन तथा कामरूप (असम) के राजा भास्कर वर्मा के साथ उनका घनिष्ठ सम्पर्क रहा। नालन्दा में निवास करते हुए उन्होंने आचार्य शीलभद्र से बौद्धों के अन्यतम सम्प्रदाय विज्ञानवाद का विशेष रूप से अध्ययन किया था, और इसके वे प्रकाण्ड पण्डित हो गये थे। ६४५ ईस्वी में वे भारत से वापस लौटे, और मध्य एशिया के दक्षिणी स्थल-मार्ग से काशगर, खोतन, चर्चन और शेन शेन होते हुए चीन पहुँच गये।

चीन से भारत के लिए प्रस्थान करते समय ह्यु एन्-त्सांग ने चीनी सम्राट् से अपनी यात्रा के लिए अनुमति नहीं ली थी, और गुप्त रूप से ही वे चीन से चल पड़े थे। अतः खोतन पहुँच कर उन्होंने सम्राट् की सेवा में एक पत्र लिखा, जिसमें उन्होंने अपनी भारत यात्रा का संक्षिप्त विवरण देते हुए उन उपलब्धियों का भी उल्लेख किया जो उन्हें इस यात्रा द्वारा प्राप्त हुई थीं। इस पत्र को प्राप्त कर सम्राट् ने खोतन में स्थित अपने राजकर्मचारियों को यह आदेश दिया, कि ह्यु एन्-त्सांग को सब प्रकार से सहायता दी जाए, जिससे कि वे निरापद रूप से चीन आ सकें। चीन पहुँचने पर

उनका धूमधाम के साथ स्वागत किया गया, और सम्राट् ने भी उनका सम्मान किया। ह्यु एन्-त्सांग ने अपना शेष जीवन बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद करने और शिष्यों को इस कार्य के लिए प्रशिक्षित करने में व्यतीत किया। ६६४ ईस्वी में उनकी मृत्यु हुई। उन्होंने अपनी यात्रा का जो विवरण लिखा, वह सि-यू-की नाम से अब भी उपलब्ध है। मध्य एशिया और भारत में सातवीं सदी के पूर्वार्ध में बौद्ध धर्म की जो दशा थी, उसकी जानकारी प्राप्त करने का इससे अधिक अच्छा व प्रामाणिक अन्य कोई साधन नहीं है। सियान में ह्यु एन् त्साँग की समाधि है, जिस पर इस आशय के वाक्य उत्कीर्ण हैं—"इस महापुरुष ने उन प्रदेशों में मार्ग बनाए जहाँ पहले कोई मार्ग नहीं थे, ताकि भविष्य की सन्ततियों को वहाँ आने-जाने में कोई असुविधा न हो।"

चीन वापस लौट जाने के बाद भी ह्यु एन्-त्सांग का भारत के विद्वानों व आचार्यों के साथ सम्पर्क कायम रहा था। भारत के विद्वानों ने उन्हें जो अनेक पत्र संस्कृत में भेजे थे, उनमें से दो पत्रों के चीनी अनुवाद इस समय भी उपलब्ध हैं। इनमें से एक पत्र महाबोधि विहार के स्थविर प्रज्ञादेव का लिखा हुआ है। पत्र इस प्रकार है—"व्यापक ज्ञान वाले विद्वानों से घिरा हुआ स्थविर प्रज्ञादेव भगवान् बुद्ध के वज्रासन के समीप विद्यमान महाबोधि विहार से यह पत्र सूत्र, विनय तथा असंख्य शास्त्रों में अप्रतिहत गति रखने वाले महाचीन के मोक्षाचार्य (ह्य एन्-त्सांग) के पास भेज रहा है। प्रज्ञादेव की कामना है, कि मोक्षाचार्य सदा नीरोग तथा पीड़ारहित रहें। मुझ भिक्षु प्रज्ञादेव द्वारा सूत्रों और शास्त्रों का एक तुलनात्मक अध्ययन तैयार किया गया है, जिसे मैंने भिक्षु फा-शेंग के सुपुर्द कर दिया है। वह उसे आपके पास ले जायेगा। यहाँ आचार्य (ह्यु एन्-त्सांग) के बहुत-से परिचित हैं। उनमें स्थविर ज्ञानप्रभ भी मेरे साथ इस पत्र द्वारा आपका कुशल मंगल जानना चाहते हैं। उपासक लोग सदा आपके प्रति प्रणाम निवेदन करते रहते हैं। हम आपको भूले नहीं हैं, यह प्रदर्शित करने के लिए हम आपके पास श्वेत वस्त्रों का एक जोड़ा भेज रहे हैं। मार्ग बहुत दूरी का है, अतः इस उपहार के लघु होने का खयाल न करें। हमारी इच्छा है, आप इसे स्वीकार कर लें। आपको जिन सूत्रों तथा शास्त्रों की आवश्यकता हो, कृपया उनकी एक सूची भेज दें। हम उनकी प्रतिलिपि कराके आपको भेज देंगे।" इस पत्र का जो उत्तर ह्यु एन्-त्सांग ने प्रज्ञादेव को भेजा था, वह भी उपलब्ध है। इन पत्रों से ज्ञात होता है, कि ह्य एन्-त्सांग का भारतीय नाम मोक्षाचार्य था। एक पत्र में उन्हें महायान भी कहा गया है।

जब ह्यु एन-त्सांग सम्राट् हर्षवर्धन की राजसभा में थे, हर्ष ने अपना एक दूत-मण्डल चीन के सम्राट् की सेवा में भेजा था। उसके बदले में चीनी सम्राट् द्वारा एक दूतमण्डल हर्ष की सेवा में भेजा गया था (६३४ ई०), जिसका अध्यक्ष ली यी-पांओ था। वांग ह्यु एन्-त्से नामक एक पदाधिकारी भी इस दूतमण्डल के साथ भेजा गया था। कन्नौज में राजकीय कार्य को सम्पादित करने के पश्चात् इस दूतमण्डल ने राज-गृह, गृद्धकूट, महाबोधि आदि तीर्थस्थानों की यात्रा की, और ६४७ ई० में यह चीन वापस लौट गया।

६४७ में ही वांग ह्यु एन्-त्से को पुनः भारत भेजा गया। पर जब वह भारत

पहुँचा, तो हर्ष की मृत्यु हो चुकी थी, और उसके अमात्य अर्जुन या अरुणाश्व ने कन्नौज की राजगद्दी पर अधिकार कर लिया था। चाहिए तो यह था, कि अर्जुन इस दूतमण्डल का यथोचित स्वागत करता, पर उसने इसकी सम्पत्ति को लूट लिया, और दूतमण्डल के कतिपय सदस्यों का घात भी कर दिया। वांग ह्यु एन्-त्से ने नेपाल भाग कर अपने प्राण बचाए। नेपाल से वह तिब्बत चला गया। तिब्बत के राजा का विवाह चीन की एक राजकुमारी के साथ हुआ था, अतः उसने चीनी राजदूत की सहायता करना स्वीकार कर लिया, और तिब्बती सेना की सहायता से वांग ह्यु एन्-त्से ने अर्जुन के राज्य पर आक्रमण कर दिया। युद्ध में अर्जुन परास्त हो गया, और उसे बन्दी बना कर चीन ले जाया गया।

६५७ में वांग-ह्यु एन्-त्से को तीसरी बार भारत भेजा गया। चीनी अनुश्रुति के अनुसार एक भारतीय राजा ने चीन के सम्राट् के पास एक तान्त्रिक को भेजा था, जिसका यह दावा था कि वह तन्त्र-मन्त्र के प्रयोग से मनुष्य को सुदीर्घजीवी बना सकता है। पर सम्राट् उससे प्रभावित नहीं हुआ, और उसने निश्चय किया कि तान्त्रिक को सकुशल भारत वापस भिजवा दिया जाए। सम्राट् द्वारा वांग ह्यु एन्-त्से के हाथ बहुत-सी पूजा सामग्री भी बौद्ध चैत्यों, स्तूपों आदि को अर्ध्य के रूप में भेजी गई थी, जिसे उसने विविध तीर्थस्थलों पर जाकर अर्पित किया।

६६४ ई० में वांग ह्यु एन्-त्से एक बार फिर भारत आया। इस बार भी उसे चीन के सम्राट् द्वारा भारत भेजा गया था, ताकि हिउआन्-चाओ नामक चीनी यात्री को सकुशल स्वदेश वापस लौटने में वह सहायता करे। वे दोनों नेपाल-तिब्बत के मार्ग से चीन लौटे। वांग ह्यु एन्-त्से ने अपनी चारों यात्राओं के वृत्तान्त भी लिखे थे, जो इस समय अप्राप्य हैं, यद्यपि उनके उद्धरण अन्य ग्रन्थों में विद्यमान हैं।

चीन के प्राचीन बौद्ध साहित्य में ६० ऐसे चीनी भिक्षुओं की जीवनियाँ दी गई हैं, जिन्होंने कि सातवीं सदी के उत्तरार्ध में भारत की यात्रा की थी। इनमें कुछ ऐसे भिक्षु भी थे जो वस्तुतः मध्य एशिया तथा कोरिया के निवासी थे, पर चिरकाल से चीन में रह रहे थे। सातवीं सदी के उत्तरार्ध में भारत की यात्रा करने वाले चीनी भिक्षुओं में हिउआन्-चाओ तथा यि-त्सिग सब से प्रसिद्ध हैं। हिउआन-चाओ की शिक्षा तां-हिंग-शेंग के विहार में हुई थी। भारत से लौटकर ह्यु एन्-त्सांग इसी विहार में निवास करने लगे थे, और यहाँ रहकर उन्होंने चीनी भिक्षुओं को प्रशिक्षित करने का कार्य प्रारम्भ किया था। हिउआन-चाओ भी ह्यु एन्-त्सांग का शिष्य था, और भारत के विषय में अपने गुरु से जानकारी प्राप्त कर उसके हृदय में भारत यात्रा की उत्कट अभिलाषा प्रादुर्भूत हो गई थी। ६५० ई० में उसने मध्य एशिया के स्थल मार्ग द्वारा भारत के लिए प्रस्थान किया, और सुग्ध तथा बल्ख होता हुआ वह तिब्बत चला गया। वहाँ से नेपाल होकर वह भारत आया, और इस देश में दूर-दूर तक यात्रा के लिए गया। बौद्ध तीर्थों के दर्शन कर वह नालन्दा में बस गया, और वहाँ के प्रकाण्ड पण्डितों से बौद्ध-दर्शन का अध्ययन करने में प्रवृत्त हुआ। जब हिउआन-चाओ नालन्दा रह रहा था, वांग ह्यु एन्-त्से से उसकी भेंट हुई, जो उसकी विद्वत्ता से बहुत प्रभावित हुआ।

चीन वापस आने पर वांग-ह्यु एन्-त्से ने हिउआन-चाओ के अगाध पाण्डित्य और दार्शनिक ज्ञान का सम्राट् से जिकर किया, जिसे सुनकर समाट् ने हिउआन-चाओ को स्वदेश वापस बुला लेने का निश्चय किया। इसी प्रयोजन से उसने वांग-ह्यु एन्-त्से को चौथी बार भारत भेजा, और वह इस प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् को ६६४ ई० में अपने साथ चीन ले गया। पर वह वहाँ देर तक नहीं रह सका। उन दिनों एक हिन्दू ब्राह्मण चीन के राजदरबार में रह रहा था, जो काश्मीर से वहाँ गया था, और अब अपने देश को वापस लौट जाने के लिए इच्छुक था। चीन के सम्राट् ने हिउआन्-चाओ को उस ब्राह्मण को सुरक्षित रूप से भारत पहुँचाने का काम सौंप दिया, जिसके कारण वह पुनः भारत आया। ब्राह्मण को काश्मीर पहुँचा कर हिउआन्-चाओ कपिशा और सिन्ध होकर लाट देश (काठियावाड़) गया, और वहाँ चार साल रहा। लाट देश से उसने दक्षिणी भारत की यात्रा की, और इस यात्रा का उपयोग नानाविध औषधियों के संग्रह के लिए किया। उसकी योजना थी, कि भारत के चिकित्सकों द्वारा प्रयुक्त की जाने वाली औषधियों को चीन ले जाकर सम्राट् को भेंट रूप में प्रदान किया जाए ताकि चीन में भी उनको प्रयोग में लाया जा सके। दक्षिणी भारत से सीधे चीन न जाकर वह एक बार फिर नालन्दा गया, ताकि वहाँ अपने गुरुओं तथा सहपाठियों से भेंट कर सके। पर इसी बीच में तिब्बत और चीन में युद्ध प्रारम्भ हो गया था, जिसके कारण नेपाल और तिब्बत के स्थल मार्ग से चीन जा सकना सम्भव नहीं रहा था। उधर मध्य एशिया का मार्ग भी सुरक्षित नहीं रह गया था, क्योंकि अरब लोगों ने वहाँ आक्रमण प्रारम्भ कर दिए थे। इस दशा में हिउआन्-चाओ चीन वापस नहीं जा सका, और उसने अपना शेष जीवन भारत में ही व्यतीत किया।

सातवीं सदी के उत्तरार्ध में भारत आने वाला दूसरा प्रसिद्ध चीनी यात्री यित्सिंग था। बाल्यावस्था में ही उसने भिक्षुव्रत ग्रहण कर लिया था, और भारत यात्रा के लिए उसकी उत्कट अभिलाषा थी। अन्य अनेक भिक्षुओं को अपने साथ चलने के लिए तैयार कर ३७ वर्ष की आयु में उसने चीन से प्रस्थान किया (६७१ ई०), और समुद्र के मार्ग से वह श्रीविजय (सुमात्रा) पहुँच गया। जो अन्य भिक्षु उसके साथ यात्रा के लिए तैयार हुए थे, उन्होंने मार्ग में ही यि-त्सिंग का साथ छोड़ दिया और वह अकेला ही श्रीविजय पहुँचा। उस समय श्रीविजय बौद्ध धर्म का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण केन्द्र था, अतः यि-त्सिंग कई वर्ष वहाँ रहा। बौद्ध-धर्म का जो स्वरूप श्रीविजय में था, यि-त्सिंग ने उसका गम्भीरतापूर्वक अध्ययन किया और उस पर एक ग्रन्थ भी लिखा। जहाज द्वारा वह श्रीविजय से ताम्रलिप्ति आया, और वहाँ से राजगृह, वैशाली, कुशीनगर, सारनाथ, नालन्दा आदि की यात्रा की। नालन्दा में उसने दस साल निवास किया। बौद्ध धर्म के इस विश्वविख्यात विद्यापीठ में निवास करते हुए उसने जहाँ बौद्ध धर्म तथा दर्शन का अनुशीलन किया, वहाँ साथ ही बहुत-से संस्कृत ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ भी उसने तैयार करायीं। ६९५ में वह समुद्र मार्ग से ही चीन वापस गया, और ४०० के लगभग ग्रन्थ अपने साथ ले गया। चीन में रहकर उसने जहाँ अनेक ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया, वहाँ साथ ही संस्कृत-चीनी शब्द-कोष भी लिखा।

६४३ से ७५८ ई० तक चीन का अफगानिस्तान और भारत के अनेक राज्यों (कपिशा, उद्यान, गान्धार, कन्नौज, मगध, काश्मीर, लंका आदि) के साथ राजनीतिक सम्बन्ध विद्यमान था। इस कारण इन राज्यों के राजदूत चीन के राजदरबार में जाया करते थे, और चीन का सम्राट् भी इन राज्यों में अपने दूत भेजा करता था। आठवीं सदी के मध्य भाग में कपिशा की ओर से जो राजदूत चीन में नियुक्त था, उसे सुरक्षित रूप से अपने देश को वापस पहुँचाने के लिए वू-कोंग नामक सरकारी पदाधिकारी को भेजा गया, जो ७५१ ई० में कपिशा के राजदूत के साथ चीन से चला। वे स्थल मार्ग से कपिशा पहुँचे, और वू-कोंग ने वहाँ आकर बौद्ध धर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली। कपिशा से वह काश्मीर गया, और अनेक वर्ष वहाँ रह कर उसने बौद्ध-ग्रन्थों का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन किया। बौद्ध धर्म का समुचित ज्ञान प्राप्त कर उसने तीर्थ-स्थानों की यात्रा की, और फिर मध्य एशिया के स्थल मार्ग से ही वह चीन वापस लौट गया (७९० ई०)। वू-कोंग ने भी अपनी यात्रा का वृत्तान्त लिखा था, जो संक्षिप्त रूप से इस समय उपलब्ध है।

आठवीं सदी के बाद ग्यारहवीं सदी तक चीनी यात्री निरन्तर भारत आते रहे। चीन के प्राचीन साहित्य में इनकी यात्राओं की अनेक सूचनाएँ विद्यमान हैं। पर ये यात्री प्रायः बौद्ध धर्म के पवित्र स्थानों का दर्शन करने और बोधगया, सारनाथ व कपिलवस्तु सदृश तीर्थों में चैत्यों तथा स्तूपों की पूजा करने और उन्हें अर्घ्य अर्पित करने के लिए ही भारत आया करते थे। इस काल में चीन में अनेक ऐसे संघाराम स्थापित हो चुके थे, जो बौद्ध-धर्म के अध्ययन के महत्त्वपूर्ण केन्द्र थे। इस कारण चीनी भिक्षुओं को यह आवश्यकता अनुभव नहीं होती थी, कि वे बौद्ध ग्रन्थों की खोज या शिक्षा के लिए भारत आयें। सन् ९६४ में ३०० चीनी भिक्षु भारत आए थे। वे बारह वर्ष तक भारत में यात्रा पर रहे। उनमें एक भिक्षु की-ये नाम का था, जिसके द्वारा लिखित यात्रावृत्तान्त इस समय प्राप्य है। ९६६ ई० में चीन के सम्राट् की प्रेरणा पर १५७ चीनी भिक्षु भारत यात्रा के लिए चले थे, और इस देश में आकर उन्होंने विविध तीर्थों का दर्शन कर सम्राट् की ओर से वहाँ अर्घ्य अर्पण किए थे। १०३१ ई० में हुआई-वेन नाम का चीनी यात्री भारत आया था, और आठ वर्ष की यात्रा के अनन्तर १०३९ में वह स्वदेश वापस लौट गया था। सम्भवतः, हुआई-वेन अन्तिम चीनी यात्री था, जिसने भारत आकर बौद्ध तीर्थों की यात्रा की थी। बारहवीं सदी के अन्तिम चरण में तुर्क-अफगानों ने उत्तरी भारत के बड़े भाग को आक्रान्त कर लिया था, और वहाँ के अनेक राजपूत राज्य उनकी अधीनता में आ गए थे। नालन्दा सदृश जो विद्या के केन्द्र उस समय उत्तरी भारत में विद्यमान थे, तुर्क अफगानों ने उन्हें बुरी तरह से नष्ट किया। इस दशा में धर्म तथा ज्ञान की पिपासा को शान्त करने के लिए चीनी भिक्षुओं का भारत आ सकना सम्भव ही कैसे था? कितने ही बौद्ध तीर्थ, संघाराम, चैत्य तथा स्तूप भी इस काल में नष्ट कर दिए गए, और भारत की राज-नीतिक दशा भी ऐसी नहीं रह गई जिसमें विदेशी भिक्षु यहाँ निरापद रूप से आ-जा सकें। परिणाम यह हुआ, कि चीनी यात्रियों की भारत आने की जो प्रक्रिया तीसरी सदी में

प्रारम्भ हुई थी, उसका अब अन्त हो गया। यह सर्वथा सम्भव है, कि हुआई-वेन के बाद भी ग्यारहवीं और बारहवीं सदियों में कतिपय चीनी यात्री भारत आए हों, पर वे अभी अज्ञात हैं।

बोधगया में चीनी यात्रियों द्वारा उत्कीर्ण कराए हुए पाँच शिलालेख इस समय भी विद्यमान हैं, जो उनकी भारत-यात्रा के ठोस प्रमाण हैं। इनमें पहला लेख चे-यो का है, जो ६४७ और ६५१ ई० के बीच में भारत आया था। दूसरा लेख १०२२ ई० में युन-शू द्वारा उत्कीर्ण कराया गया था। तीसरे और चौथे लेख यि-त्सिग तथा शाओ पिन नामक भिक्षुओं द्वारा १०२२ में उत्कीर्ण कराए गए थे। इन लेखों में इन्हें लिखवाने वाले यात्रियों ने अपना परिचय देते हुए अपने अध्ययन तथा कर्तृत्व का उल्लेख किया है, और भगवान् बुद्ध के प्रति अपनी श्रद्धा प्रगट की है। पाँचवां लेख अधिक महत्त्व का है। उसे हुआई-वेन ने लिखवाया है, जो १०३३ ई० में भारत आया था। इसे सोंग वंश (६६०-१२७६) के चीनी सम्राट् ताई-त्सोंग ने भारत भेजा था, और मगध जाकर वहाँ सम्राट् की ओर से एक स्तूप को निर्मित कराने का कार्य इसके सुपुर्द किया गया था। इसीलिए इस लेख में यह लिखा गया है, कि भिक्षु हुआई-वेन को सम्राट् तथा साम्राज्ञी ने मगध जाकर वज्रासन के पार्श्व में एक स्तूप बनवाने का कार्य सौंपा था।

(६) तुङ्ह्वांग् तथा अन्यत्र भारतीय संस्कृति के अवशेष

मध्य एशिया में पुरातत्त्व सम्बन्धी खोज का विवरण देते हुए पिछले अध्याय में तुङ्ह्वाँग् के सहस्र-बुद्ध-गुहा-विहार का उल्लेख किया जा चुका है। जर्मनी, फ्रांस, ब्रिटेन आदि के जिन विद्वानों ने मध्य एशिया के प्राचीन अवशेषों का अनुसंधान तथा अवगाहन किया था, उन्होंने ही तुङ्ह्वांग् के गुहा-विहारों तथा ऐतिहासिक निधियों का भी पता लगाया था। तुङ्ह्वाग् की स्थिति तकला मकान मरुभूमि के पूर्व में है, और कुची, खोतन आदि से चीन जाने वाले यात्री तथा व्यापारी इस नगर से होकर ही आया-जाया करते थे। चीन का एक पश्चिमी प्रान्त कान्सू है, जिसकी पश्चिमी सीमा के समीप तुङ्ह्वांग् नगर की स्थिति है। चीन की विशाल दीवार का पश्चिमी सिरा इस नगर के उत्तर में है। इसे मध्य एशिया के अन्तर्गत न मानकर चीन में ही स्थित समझना चाहिए। तकला मकान की मरुभूमि इसके पश्चिम से ही शुरू हो जाती है, अतः इस मरुभूमि के उत्तर और दक्षिण में भारत की ओर से चीन जाने के लिए जो मार्ग थे, उनसे यात्रा करने वाले व्यापारी तथा धर्मप्रचारक तकला मकान की सुविस्तृत रेतीली भूमि को पारकर तुङ्ह्वांग् में विश्राम किया करते थे, जिसके कारण यह चीन के रेशम-पथों का मुख्य नगर बन गया था। चीन के सम्राटों ने अपने राज्य की पश्चिमी सीमा की रक्षा करने के लिए इसके समीप अनेक सैनिक छावनियों की भी स्थापना की थी।

तुङ्ह्वांग् नगर के दक्षिण-पश्चिम में नौ मील की दूरी पर नंगी पहाड़ियों की शृंखलाएँ विद्यमान हैं, जिनके साथ-साथ एक नदी भी बहती है। इन पहाड़ियों को

खोद कर बहुत-सी गुफाएँ प्राचीनकाल में बनाई गई थीं, जो दूर से देखने पर मधु-मक्षिकाओं के छत्त सी मालूम देती हैं। इन गुहाओं या गुहाविहारों का निर्माण चौथी सदी के मध्य भाग में शुरू हो गया था। पर पाँचवी सदी में चीन के वेई वंश के राजाओं ने बौद्ध धर्म तथा कला का विकास करने में विशेष उत्साह प्रदर्शित किया, और उनके द्वारा तुङ्ह्वांग् में भी बहुत-से गुहाविहार तैयार कराए गए। तांग वंश के शक्तिशाली सम्राटों के शासन काल में भी अनेक नये गुहा-विहार बनवाए गए, और यह प्रक्रिया दशवीं सदी तक जारी रही। चीनी भाषा में लिखे हुए कितने ही अभिलेख तुङ्ह्वांग् में मिले हैं, जिनसे इन गुहाविहारों के निर्माण के इतिहास पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। इनमें सबसे पुराना अभिलेख ६९८ ईस्वी का है, जिससे यह ज्ञात होता है कि लो-चुन नाम का भिक्षु कितने ही जंगलों तथा मैदानों को पारकर ३६६ ईस्वी में इस स्थान पर आया था। यहाँ पहाड़ी पर उसे एक प्रकाश दृष्टिगोचर हुआ, जिसमें हजारों बुद्ध दिखायी दे रहे थे। लो-चुन ने यहाँ एक गुहा-विहार का निर्माण कराया। बाद में फा-लियान नाम का एक अन्य बौद्ध आचार्य पूर्व की ओर से इस स्थान पर आया, और उसने लो-चुन की गुहा के समीप एक अन्य गुहा-विहार का निर्माण कराया। इस प्रकार गुहा-विहारों की उस शृंखला का निर्माण प्रारम्भ हो गया, जो सहस्र-बुद्ध-गुहा-विहार के नाम से प्रसिद्ध हैं। लो-चुन और फा-लियान के अनुकरण में तुङ्ह्वांग् के स्थानीय शासकों, प्रान्तीय शासकों और उस नगरी के समृद्ध नागरिकों ने भी बहुत-सी गुहाओं का निर्माण कराया और यह सिलसिला छः सदियों तक चलता रहा। ७७५ ईस्वी से चौदहवीं सदी के मध्य तक के अन्य भी अनेक अभिलेख मिले हैं जिनमें इस सहस्र-बुद्ध-गुहा-विहार के निमित्त किए गए दान, गुहा-विहार की मुरम्मत व पुनर्निर्माण आदि का उल्लेख है। ये पुण्य कार्य जिन व्यक्तियों द्वारा किए गए, उनके नाम भी इन अभिलेखों में दिए गए हैं। इनमें मंगोलों का एक राजकुमार भी है।

तुङ्ह्वाग् के दक्षिण-पश्चिम में पहाड़ी को काट-काट कर या खोद-खोद कर जिन गुहा-विहारों का निर्माण किया गया है, उनके दो समुदाय हैं। इनमें दक्षिण वाला गुहा-समुदाय मुख्य है। ये गुहा-विहार पहाड़ी की ढलान पर एक हजार गज के लगभग तक फैले हुए हैं। पहाड़ी की लम्बाई पर लगातार गुहाएँ खुदी हुई हैं, जिनमें से कुछ ऊँचाई पर हैं और कुछ निचली ओर हैं। ये गुहाएँ एक के बाद एक करके खोदी गई हैं, जिससे ये एक के ऊपर एक लटकी-सी दिखाई देती हैं। गुहा-विहारों के ऊपरी खण्ड पर पहुँचने के लिए लकड़ी की सीढ़ियाँ बनायी गई थीं, जो अब टूट चुकी [illegible]। गुहा-विहार छोटे-बड़े सब आकारों के हैं। एक गुहा-विहार की भीतरी गुहा में ४५ फीट लम्बी चौकोर शाला है, जिसे ठोस चट्टान को काटकर बनाया गया है। इस शाला के बीच में बुद्ध की एक विशाल मूर्ति है, जिसके दोनों पार्श्वों में विविध देवताओं तथा बोधिसत्त्वों की मूर्तियाँ है। मूर्तियों के पीछे की ओर कुछ जगह प्रदक्षिणा के लिए छोड़ दी गई है। शाला की दीवारों पर बहुत-से भित्तिचित्र बने हुए हैं। चित्र बहुत सुन्दर हैं, और सुरक्षित दशा में हैं। प्रायः सभी गुहा-विहार इसी ढंग के हैं। उनमें बुद्ध, बोधिसत्त्वों तथा देवताओं की मूर्तियाँ स्थापित हैं, और उनकी दीवारों पर सुन्दर

भित्तिचित्र बने हैं। तुङ्-ह्वांग् की जलवायु अत्यन्त शुष्क है। अतः नमी(आर्द्रता) का इन गुहाविहारों के भित्तिचित्रों पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ा। ये गुहा-विहार तथा उनके भित्तिचित्र प्रायः उसी काल के हैं, जबकि अजन्ता के गुहामन्दिरों का निर्माण हुआ था। पर तुङ्-ह्वांग् की ये कलाकृतियां अधिक सुरक्षित दशा में हैं। इसीलिए इनके द्वारा यह भलीभाँति अध्ययन किया जा सकता है, कि चीन के इस पश्चिमी प्रदेशों में कला का विकास किस प्रकार हुआ था।

तुङ्-ह्वांग् की कला कृतियों (मूर्तियों तथा भित्तिचित्रों) को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है—(१) जिनका सम्बन्ध बुद्ध, बोधिसत्त्वों, अर्हतों और देवताओं के साथ है, और (२) जिनमें साँसारिक जीवन का चित्रण किया गया है। यहाँ सबसे पुरानी कलाकृतियों पर ग्रीस से प्रभावित गान्धार कला का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। पर बाद में जब भारत और चीन का सम्बन्ध बहुत बढ़ गया और चीनी यात्री बड़ी संख्या में भारत आने लगे, तो उनका गुप्त युग की भारतीय कला से भी परिचय हुआ। सातवीं सदी से दसवीं सदी तक जो बहुत-से चीनी यात्री भारत आए, वे केवल बौद्ध ग्रन्थों को ही अपने साथ चीन नहीं ले गए, अपितु बहुत-सी मूर्तियाँ तथा चित्रों की अनुकृतियाँ भी वे अपने साथ ले गए। यह स्वाभाविक था, कि भारत की इन कलाकृतियों की शैली का चीन की बौद्ध कला पर प्रभाव पड़े। तुङ्-ह्वांग् के गुहा-विहारों की मूर्तियों तथा भित्तिचित्रों पर यह प्रभाव स्पष्ट रूप से विद्यमान है। वहाँ बुद्ध, बोधिसत्त्वों तथा देवताओं की जो मूर्तियाँ व भित्तिचित्र हैं, वे प्रायः भारतीय शैली में ही हैं। पर जिन चित्रों में साँसारिक जीवन चित्रित किया गया है, वे चीनी शैली के हैं। पर तुङ्-ह्वांग् की कलाकृतियों में केवल चीनी और भारतीय शैलियाँ ही नहीं हैं, उन पर अन्य देशों का प्रभाव भी विद्यमान है। इस स्थान की भौगोलिक स्थिति ऐसी थी, कि वहाँ पश्चिम की ओर से चीन जाने वाले विविध मार्ग परस्पर मिल जाते थे। अतः स्वाभाविक रूप से ईरान, बलख, सुग्ध, खोतन, कुची, मंगोलिया आदि के विविध व्यापारी व यात्री वहाँ आते-जाते थे, और उन्हें वहां परस्पर मिलने तथा एक-दूसरे को प्रभावित करने का अवसर मिला करता था। इसी कारण तुङ्-ह्वांग् की कला-कृतियों पर ईरान आदि का प्रभाव भी दिखाई देता है।

तुङ्-ह्वांग् के गुहाविहारों में विद्यमान मूर्तियों का सम्बन्ध प्रायः बौद्ध धर्म के महायान सम्प्रदाय के साथ है। यहाँ की बहुसंख्यक मूर्तियाँ आकार में सामान्य पुरुषों के बराबर हैं, पर दो मूर्तियाँ अत्यन्त विशाल भी हैं। एक की ऊंचाई तो ६० फीट है। बहुत-सी मूर्तियाँ पहले सुवर्ण के रंग में रंगी हुई थीं, पर यह रंग अब बहुत कम स्थानों पर ही शेष बचा है। समय के साथ-साथ बहुत-सी मूर्तियाँ खराब भी हो गई हैं, और कुछ तो मनुष्यों की पशुता की भी शिकार हुई हैं। गुहाविहारों की दीवारों पर जो भित्तिचित्र बनाए गए थे, वे अभी पर्याप्त रूप से सुरक्षित दशा में हैं, और उनके रंग भी अधिक खराब नहीं हुए हैं। इन भित्तिचित्रों में जहाँ बुद्ध, बोधिसत्त्व, अर्हत तथा देवता बनाए गए हैं, वहाँ साथ ही सज्जा के लिए बीच-बीच में पत्र पुष्प भी चित्रित किए गए हैं, जो अत्यन्त सुन्दर तथा कलात्मक हैं। अनेक जातक कथाओं को भी

भित्तिचित्रों द्वारा चित्रित किया गया है।

तुङ्-ह्वांग् के गुहाविहारों से केवल भित्तिचित्र तथा मूर्तियाँ ही उपलब्ध नहीं हुई, अपितु वहाँ पुस्तकों और चित्रों का एक बहुत बड़ा भण्डार भी प्राप्त हुआ है। सर स्टाइन तथा प्रो. पेलिग्रो ने यहाँ से पुस्तकों तथा चित्रों का जो भण्डार प्राप्त किया था, उसके विषय में इस ग्रन्थ के पाँचवें अध्याय में लिखा जा चुका है। उसे यहाँ दोहराना उपयोगी नहीं होगा। तुङ्-ह्वांग् से प्राप्त ये ग्रन्थ संस्कृत, प्राकृत, तुखारी, उइगूर, तिब्बती और चीनी आदि अनेक भाषाओं में हैं, और इनका सम्बन्ध प्रायः बौद्ध धर्म से है। फ्रांस, जर्मनी, जापान और ब्रिटेन के विद्वानों ने इनका अध्ययन करने में परस्पर सहयोग से काम लिया है, और इनमें से अनेक ग्रन्थ या उनके परिचय प्रकाशित भी हो चुके हैं। पर अभी यह कार्य अपूर्ण है, और तुङ्-ह्वांग् से प्राचीन पुस्तकों की जो अमूल्य निधि प्राप्त हुई थी, उसको पूरी तरह से प्रकाश में नहीं लाया जा सका है। इन ग्रन्थों के साथ जो बहुत-से चित्र मिले हैं, वे प्रायः रेशम के पटों पर हैं, और कला की दृष्टि से वे अत्यन्त उत्कृष्ट तथा महत्त्वपूर्ण हैं।

तुङ्-ह्वांग् के अतिरिक्त चीन में बौद्ध कला के दो अन्य भी मुख्य केन्द्र थे, युन कांग और लुंग-मेन। चीन के शान्-सी प्रान्त की पुरानी राजधानी ता-तुंग थी। वेई वंश के राजाओं ने पहले इसी को अपनी राजधानी बनाया था। युन-काँग के गुहाविहार ता-तुंग से छह मील पश्चिम में हैं। इनके निर्माण का प्रधान श्रेय तान-यात्रो नाम के एक बौद्ध भिक्षु को है, जो मध्य एशिया का निवासी था और पाँचवी सदी के मध्य भाग में चीन गया था। ता-तुंग के संघाराम में रहकर उसने बहुत-से बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया था, और इस कार्य में अन्य भी अनेक विद्वान् उसके सहयोगी थे। ता-तुंग में निवास करते हुए तान-यात्रो का ध्यान उन पर्वत-शृंखलाओं की ओर गया, जो राजधानी से छह मील दूर पश्चिम की ओर विद्यमान थीं। उसने राजा के सम्मुख यह विचार प्रस्तुत किया, कि इन पहाड़ियों को काट-काट कर गुहाविहारों का निर्माण कराया जाए। राजा ने तान-यात्रो के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया, और गुहाविहारों के निर्माण का कार्य उसी के सुपुर्द कर दिया। तान-यात्रो या तो स्वयं वास्तुकलाविज्ञ था, या उसे ऐसे व्यक्तियों का सहयोग प्राप्त था जो कि विशाल चट्टानों को काट-खोद कर गुहाविहार बनाने में प्रवीण थे। तान-यात्रो द्वारा यहाँ गुहाविहारों के निर्माण का जो सिलसिला प्रारम्भ हुआ, वह सम्राट् सु-त्सोंग (५१६-५२८ ईस्वी) के समय तक जारी रहा। इस बीच में जो गुहाविहार वहाँ बने, उनमें सबसे पुराने ५ गुहा-विहार तान-यात्रो द्वारा बनवाये हुए हैं। इनमें अन्य मूर्तियों के साथ बुद्ध की पाँच विशाल मूर्तियाँ हैं, जिनमें सबसे विशाल ७० फीट ऊंची है। इस बुद्ध मूर्ति को खड़ी हुई दशा में बनाया गया है। कुछ मूर्तियां बैठी हुई (समाधि दशा में) बनायी गई हैं। तान-यात्रो के बाद अन्य बहुत-से गुहाविहार युन-काँग में बनाए गए, जिनमें से एक ७२ फीट ४ इंच लम्बा और ५८ फीट ४ इंच चौड़ा है। एक अन्य गुहाविहार ४६ फीट ८ इंच लम्बा और ४० फीट १ इंच चौड़ा है। इनकी दीवारों पर बुद्ध, बोधिसत्त्वों तथा विविध देवी-देवताओं के चित्र अंकित हैं, और बुद्ध